

प्रथम संस्करण : मार्च १९५९

सुदृक : विद्यापिलास प्रेस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मूल्य : पाँच रुपये



मूर्मिका

श्री वाचस्पति गैरोला जी की 'अच्छर अमर रहें' नामक पुस्तक मैंने पढ़ी है। इसमें गैरोला जी की अध्ययनशीलता, जानकारी और विद्या-प्रेम का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। उन्होंने उन विद्वानों के परिश्रम का मूलर्यांकन करने का प्रयत्न किया है जिन्होंने पिछली शताब्दी से भारतीय तथा अन्य देशों की प्राचीन ज्ञान-संपत्ति को विस्मृति के गर्द से निकाल कर लोकन्मोचर करने का दुःसाध्य प्रयास किया है। यह कहानी बड़ी ही प्रेरणादायक और साहसिक अभियान से परिपूर्ण है। सैकड़ों और हजारों वर्ष पूर्व की लिपियों, अन्यों और भाषाओं के आविष्कार की कहानी केवल ज्ञानवर्द्धक ही नहीं है, रोमाञ्चकर भी है। मिट्टी के वर्तनों और इंटों, धातुखंडों और मुद्राओं, पर्वत-पृष्ठों, शिलापटों, भोज-पत्र, ताल-पत्र और ऐपरी की छालों और आगे चलकर रुई और बौंस के बने फागजों पर विखरा हुआ विस्मृत तथा अज्ञात भाषाओं और लिपियों में लिखा हुआ ज्ञान-माणिडार आज एकदम अपरिचित रह जाता यदि ज्ञान के एकनिष्ठ उपासक इन पंडितों ने निष्ठा और साहस के साथ अज्ञान से जूझने का और ज्ञान की रक्षा करने का अविचल ब्रत न लिया होता। संसार में मार-काट, लूट-खसोट और युद्धोन्माद चलता रहा है। राष्ट्र पक दूसरे को निगलने के लिये मुँह बाए विकराल गति से अग्रसर होते रहे हैं, कूटनीतिक चालबाजियों से माचव-चित्त का उपरला। सतह विच्छुन्ध और कल्पित होता रहा है। शोषण और उत्सादन का क्रूर चक्र निर्वाध माव से घूमता रहा है और इन सब भर्यकर कुचकों की छापा में ज्ञान-न्त्री साधकों की साधना निवात-चिकित्सा की मौति अविचल माव से आलोक

विवेरती रही है । संसार की प्राचीन जातियों के मिलन और संघर्ष, आदान और प्रदान, उत्थान और पतन तथा जीवन और मरण की कहानी अवित्य भाव से लान लेने का प्रयत्न कवि-निबद्ध साहसिक अभियान कथाओं से भी अधिक रोचक और रोमाञ्चक है । प्राचीन ज्ञान के अनुसन्धान की यह कहानी इस बात का सबूत है कि संघर्ष और कोलाहल का सतही वादावरण केवल क्षणिक है । धरातल के इस ऊपरी विक्षोभ के नीचे मानवीय पक्षता की जपराजेय धारा प्रवाहित हो रही है । इतिहास-विवाच मनुष्य को किसी अज्ञात 'एक' को उपलब्ध कराने की तैयारी में निश्चित रूप से संलग्न हैं ।

गैरोला जी ने इस ज्ञान को साधना के विभिन्न पहलुओं को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त किया है । लिपियों, मापाओं और ग्रन्थों की सौज; उनके अध्ययन, संपादन और विवेचन का प्रयास; सिध्दों, मित्ति-चित्रों, मूर्तियों और मंदिर के भीतर से सौन्दर्य-प्रेमी मनुष्य को समझने का आयोजन; पुस्तकालयों और संग्रहालयों के द्वारा उस ज्ञान को लोक-मुलम और व्यापक बनाने की प्रक्रिया का उन्होंने विस्तार से इस छोटी-सी पुस्तक में घोषित किया है । जान पढ़ता है यह उनके समय-समय पर लिखे छिट-फुट लेखों का संग्रह है । इसीतिये कभी-कभी एक ही- बात अनेक स्थलों पर हुँहराई गई है । फिर भी वे अपने पाठकों को ज्ञान के अभियान की जो साहसिक कहानी सुनाना चाहते हैं वह निस्संदेह सही रूप में प्रकट हुई है ।

गैरोला जी ने इस पुस्तक में यूरोपीय पहिलों के अथक प्रयत्नों को प्रत्यक्ष कराने का प्रयत्न किया है । मैं इन ज्ञान-निष्ठ तपोमूर्ति साधकों के प्रयासों को सेतु-निर्माण कहता हूँ । राजनीतिक कारणों से मारतवर्ष, पश्चिया तथा अफ्रीका के अनेक देश यूरोपीय आक्रमकों से दिन और दुखी रहे हैं । उनके चित्त पर विभिन्न यूरोपीय देशों के साम्राज्यवादी शासकों की बड़ी कटु स्मृति की छाप है । आर्थिक झोपण, राजनीतिक ऊपीडन और प्रशंसाकीय इयकेंडों ने शासक और शासित जनता के बीच व्यवहार की बड़ी मारी

खाई तैयार कर दी है । आज, सौभाग्य-वश, ये क्रूर-कथाएँ दुःस्वप्न की मौति कष्ट देकर नष्ट होने लगी हैं; परन्तु खाई जो बन गई है वह बन ही गई है ।

‘तपोचिष्ठ विद्वानों’ के ये प्रयत्न, प्राचीन शान के उद्धार का उनका अकुतोमय संघर्ष और ज्ञान-राशि को प्राप्त करने की उनकी उद्घासवर्द्धक सफलता ही इस खाई को पाट सकती है । वस्तुतः यह खाई पट भी रही है इसलिये ज्ञान की इस साधना को मैं सेतु-निर्माण कहता हूँ । भारतवर्ष की अगली पीढ़ी जिस समय लूट-खस्ती, शोषण-पीड़न की कहानियों से कदुता और धृणा के माव पोषित करेगी, उस समय इन ज्ञान-ब्रती तपोभूर्ति साधकों को अद्भुत सेवाएँ उसे कृतज्ञता और प्रेम के अमृत रस से सींचने का काम करेंगी । यदि मनुष्य कभी इतिहास-विधाता के इंगित को, जो मानवीय परम सत्य को उपलब्ध करने की ओर श्रिगुलि-निर्देश कर रहा है, समझ सकेगा तो वह इसलिये नहीं होगा कि दुरन्त राज-शक्ति और दुर्धर्ष विजय-वाहिनी के संचालकों ने देशों को और राष्ट्रों को आतंकित, भीत और त्रस्त किया था, बल्कि इसलिये होगा कि ज्ञान के ये पक्षिष्ठ साधक विपरीत परिस्थितियों के भीतर भी अपनी प्रेममय साधना का दीप जलाए रहे ।

गैरोला जी की इस पुस्तक का मैं स्वागत करता हूँ । मुझे यह आशा है कि वे और भी बहुमूल्य पुस्तकों से साहित्य को समृद्ध करेंगे । उनकी दृष्टि विशाल और उदार है । उनमें परिश्रम करने की शक्ति है और नामा-स्थानों से ज्ञान-संग्रह करने की भावना भी है । परमात्मा उन्हें दीर्घ आयु तक पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करें ।

यह निवन्ध-संग्रहः

विषय की हाइ से इस संग्रह के निवन्धों को चार वर्गों में भलग करके पढ़ा जा सकता है।

पहले वर्ग के निवन्ध भारतीय हस्तलिखित पोथियों के सम्बन्ध में हैं। ये पोथियाँ हमारे राष्ट्र की ज्ञान-थाती हैं, जिनके द्वारा हमारे ज्ञान की विरासत पीढ़ियों पूर्व से सुरक्षित रहती हुई आज हम तक पहुँची है। प्राचीन भारत की गौरव-गाथा को बताने वाले इतिहास और उत्तरात्मक के जितने भी साधन आज उपलब्ध हैं। उनमें इन पोथियों का महत्वपूर्ण स्थान है।

वदे-वदे नगरों से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक यह ग्रन्थ-निधि हमारे देश के ओर-चोर तक सर्वत्र विखरी हुई है। हमारे देश के हर कोने का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इन पोथियों से सुपरिचित है; किन्तु हमारे साहित्य के लिए इनकी कितनी उपयोगिता और हमारे राष्ट्र के लिए इनका क्या महत्व है, इस बात को बहुत ही कम लोग जानते हैं। इसी हेतु हमारे अधिकांश अपरिचित समाज के द्वारा अज्ञानता के कारण अथवा परम्परा-

गत रुदियों के कारण राष्ट्रीय महत्व की इन महत्वपूर्ण ग्रंथ-निधि का बहा ही दुरुपयोग हो रहा है।

यद्यपि इन योडे से निवन्धों के द्वारा इस दृतनी देशन्यापी ध्यापक समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता है और न ही अपने अधिकांश अपरिचित समाज तक यह संवेद पहुँचाया जा सकता है; फिर भी इन प्रकार के उद्योगों से इन पोधियों की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए धनदातीए होना हम सभी का परम कर्तव्य है।

केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों की ओर से इस देश में जो कार्य हो रहा है उसका हम स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि निकट भविष्य में ही हमें सरकार की इन योजना के सुपरिणाम देखने को मिलेंगे।

इस संग्रह में दूसरे वर्ग के निवन्ध मंसूत-भाषित्य की विभिन्न विचार-धाराओं से संबद्ध हैं। संसार की प्राचीनतम समृद्ध भाषाओं में मंसूत का अपना विशिष्ट स्थान रहा है और सहस्रों वर्षों तक ज्ञान का आदान-प्रदान करने के लिए भारत में उसका अस्तित्व बना रहा। हमारे देश की वर्तमान भाषाओं को जीवनी-शक्ति प्रदान कर संस्कृत ने अपने महत्व और अपनी महनीयता को स्पष्ट कर दिया है।

दूसरी कोटि के इन निवन्धों में अध्येता को प्रतिपाद्य विषय का दिशा-संकेत ही मिल सकता है। इस प्रकार का दिशा-संकेत संस्कृत के उन छात्रों के लिए अपेक्षित है, जो एकनिष्ठ होकर संस्कृत भारती की सेवा में दक्षित है। इस कोटि के संस्कृत-विषयक निवन्धों का हिन्दी में प्रायः अभाव ही दिखाई देता है, जो संस्कृत के अध्येता छात्रों के लिए सहायक

सिद्ध हो सकें। इन निवन्धों में प्रतिपादित स्थापनायें एवं तत्सम्बन्धी विषय-सामग्री प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथों पर आधारित हैं।

तीसरी कोटि के निवन्धों में दो वातों का संकेत मिलता है। पहली वात तो यह कि विदेशों में संस्कृत की लोकप्रियता का आरम्भ किस क्रम से हुआ और धरती भर का विद्वत्समाज संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किस द्रुत गति से अग्रसर हुआ। दूसरी वात इस वर्ग के निवन्धों में यह देखने को मिलती है कि संस्कृत-साहित्य के अध्ययन-अन्वेषण के लिए पश्चिम के इन ज्ञानप्रेमी मनीषियों ने अपना संपूर्ण जीवन किस महान् त्याग और कितनी महत्वी निष्ठा से अर्पित कर दिया !

विशेषतया इतिहास की दिशा में इन विदेशी विद्वानों के द्वारा जो कार्य हुआ, आज भी वह अतुलनीय है। कदाचित् यह कहना असत्य एवं अनुयुक्त न होगा कि इन प्राच्य पंडितों ने हमारी संस्कृत भाषा के उच्चयन के लिए जो कार्य किए और उनके फलस्वरूप संस्कृत-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए जो परिस्थितियाँ तैयार हुईं, उनकी ही प्रेरणा से अपनी इस अथाह ज्ञान-थाती के प्रति हमारी चेतना उद्बुद्ध हुई।

इस संग्रह के चौथे वर्ग में कला-विषयक निवन्ध हैं; विशेषतः चित्रकला-सम्बन्धी। भारतीय चित्रकला पर जब तक कुछ भी नहीं लिखा गया था, उस समय तक, पश्चिम के कला-भवनों में जो छोटे-छोटे भारतीय चित्र सजित थे उन्हें या तो फारसी समझा जाता था या चीज़ी। उनका मूल्य या तो पुस्तकों की शोभा बढ़ाने तक ही सीमित था अथवा कला-संग्रहों की विचित्रता धोतन करना मात्र ही उनकी उपयोगिता समझी जाती थी; किन्तु आज भारत की इस कलात्मक देन से यूरेप तथा

पृथिव्या के सभी प्रमुख कला-भवन अलंकृत हो रहे हैं। भारतीय चित्रों पर विदेशों में थाय तक अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं और अनेक अल्पम प्रकाशित हो चुके हैं। इस देश में ढब्ल्यू० जी० आर्चर, जे० सी० फ्रैंक, विलियम मूरफ़ास्ट, पुलियन और हिवेल आदि विदेशी कलाविद् विद्वानों का नाम उम्मेदनीय है।

ग्राचीन भारत के राजवंशों में कला का किस प्रकार अर्जन-संयर्थन होता गया, मध्ययुगीन मुगल सल्तनत के कलाप्रेमी स्वामियों द्वारा किस उत्साह से भारत की यह कलात्मक धरोहर आगे चढ़ी और आधुनिक युग के कलाकारों ने उसको नेवार-सुधार कर किस टंग से युग के अनुरूप बाला, इसका विवेचन इन निवन्धों में दर्शित है।

अन्त में कृष्ण विद्वान्, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के प्रति नतमस्तक होकर अपने दृम्य निवेदन को मैं यहाँ समाप्त करता हूँ।

वसन्तपंचमी,
१२ फरवरी, '५९ } }

—वाचस्पति गौरोला

अनुक्रम

भूमिका
यह निवन्ध-संग्रह

• एक

भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय	:	१
ये विस्तरे हुए ग्रन्थरत्न	:	१३
अच्छर अमर रहें	:	१९
प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय	:	२७
भारत में हस्तलिखित पोथियों की सुदीर्घ परम्परा	:	३४
भारतीय पोथियों का प्रवास	:	४०
इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय	:	५३
हस्तलिखित पोथियों का संरक्षण	:	५९

दो

भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता	:	६५
महापुरुष मनु	:	७६
विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ	:	८४
व्याकरणशास्त्र का प्रणयन	:	९०
महर्षि पाणिनि	:	९८
महर्षि काल्याशन	:	१०२
भाष्यकार पतञ्जलि	:	१०७
कालिदास का मेघदूत	:	११२
कालिदास का ऋतुसंहार	:	१२०
संस्कृत के भाषाकाव्य	:	१२७
संस्कृत के नाटक	:	१३५

संस्कृत के गीतिकाव्य	:	१४४
संस्कृत के कथाकाव्य	:	१५०
संस्कृत के गद्यकाव्य	:	१५६
वैद्व न्याय का उद्भव और विकास	:	१६१
वैद्व-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य	:	१६८
मातृगुप्त और भर्तुमेणु	:	१८२
संस्कृत-साहित्य में 'वृहस्त्रयी' का मूल्यांकन	:	१८७
अलंकारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी	:	१९३
संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार : भवभूति	:	२०१
उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते	:	२०५
कलहण-कृत राजतरंगिणी	:	२११

तीन

भारतीय वाच्याय का विदेशों में समादर	:	२१८
भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन	:	२२७
झेन-स्सांग मोघ्ददेव	:	२३७
संस्कृत-साहित्य के भर्मज्ज हेनरी टॉमस कोलब्रुक	:	२४५
महापण्डित मैक्समूलर	:	२५०
प्राच्यविद्या-विशारद—डॉ० जे० जी० बूलर	:	२५९
वेवर : मेक्सोनेल : कीथ	:	२६५

चार

भारतीय चित्रकला की व्याप्ति	:	२७०
भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण	:	२७८
अजन्ता की चित्रकला	:	२९७
पहाड़ी चित्र-शैली : दिशाएँ और संभावनाएँ	:	३२२
भारतीय नृत्यकला	:	३२८

अक्षर अमर रहें

भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय

भारतीय विचारधारा आदिकाल से ही चिन्तन-मनन-प्रधान रही है। उसकी अभिरुचि जीवन की शाश्वत गहराह्यों को खोज निकालने में ही अग्रसर रही है। दैहिक जीवन की प्रगति और प्रतिगति की धिना विन्ता किये उसके व्यापक वाक्याय और विषुव ज्ञान की छाया में मानवीय जीवन के चिरन्तन आदर्शों की सदा से ही रक्षा होती आई है। उसकी प्रतिभा ने, उसके साहित्य ने संसार को आलोकित किया और आज भी अपने तपःपूत महाप्राण मनस्त्वयों की गौरव-गाथा हमारी साहित्यिक चेतना में आप्यायित है।

भारतीय वास्तव्य के मूलस्वरूप की ओर जब ध्यान जाता है तब प्रतीत होता है कि अपनी वर्तमान स्थिति से वह सर्वथा भिज्या या। वेदों की मंत्र-संहिताओं के अनन्तर उनका व्याख्यान-काल आता है। यह काल 'प्राक्षणकाल' से अभिहित किया गया है और प्रायः सभी इसिहासज्ञों ने 'प्राक्षणकाल' की प्राचीनता संबद्ध पूर्व २५०० से १४०० तक मानी है तथा अन्तिम रूप से अपना निर्णय भी दिया है कि इस समय तक संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान के बल स्मरणशक्ति-द्वारा ही रचित था। सदनन्तर विकासवाद के सिद्धान्तानुसार भावानुभूति और विचारणा के लेन्ड्र में महान् परिवर्तन दिखाई देता है और फलतः अभिज्ञना का स्वरूप भी एक नयी परिस्थिति को जन्म देता है। यहाँ से 'सूत्रकाल' का आरंभ होता है, जिसकी आयु संबद्ध पूर्व १४०० से ५०० मानी गयी है। इस काल में हमारे महर्षियों ने एक नयी शैली को जन्म दिया जिसे भाव-यद्गृह शैली कहा जाता है। सूत्रों की सङ्केत भाषा गागर में सागर की भाँति इतनी दुरुह प्रतीत हुई कि जिसे योषगम्य करना असाधारण बात थी। फलस्वरूप लेखन-कला का जन्म हुआ और गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त कर शिष्यों ने अपनी सुविधा के लिए उसको लिपिबद्ध करना आरंभ किया। जितना भी मौखिक साहित्य या वह सम्बन्ध का सब लिपिबद्ध हुआ और हस्तलिखित पोथियों का जो स्वरूप आज हमारे सम्मुख है उसकी सृष्टि सूत्रकाल से ही होनी आरंभ हुई।

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने, जिन्होंने अपने जीवन के ५६ वर्ष वेदों के अनुसंधान कार्य में व्यतीर किये, इस सम्बन्ध में अपनी अन्तिम राय इस प्रकार दी है 'वेदों का निर्माण आदिकाल में ही हो चुका था। इनसे पूर्व का कोई हस्तलिखित अन्य ज्ञोजने पर भी संसार भर में नहीं मिलता।' इस पर भी उन्होंने पुनः 'भारत से इम व्या शिंशा

ले सकते हैं' नामक पुस्तक में कहा 'अमूल्य एवं अग्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थों के कोष केवल भारत में ही प्राप्त हो सकते हैं।'

हस्तलेखों का स्वरूप

पर्याप्त बाद-विवाद के पश्चात् भारतीय विद्वानों एवं पाश्चात्य शोधकों ने प्रक्रमत होकर यह स्थिर किया कि भारत में ₹० प० ८०० चर्चे से हाथ से लिखने की प्रथा प्रचलित थी। इससे यह धारणा सिद्ध होती है कि भारत में हस्तलेखों का आरंभ सूत्रकाल से ही हो चुका था। ऐतिहासिक गवेषणा से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हस्तलेखों का सूत्रकालीन स्वरूप अनिर्णीत है; किन्तु सम्राट् अशोक की प्रशस्तियों एवं तत्सामयिक शिलालिखों तथा स्तम्भों पर किये गये उत्कीर्णों के रूप में ग्राचीनतम हस्तलेखों की गणना की जा सकती है, जिनकी तिथि निर्धिवाद ₹० प० ८०० तृतीय शतक है। इस प्रकार के प्रस्तर-हस्तलेखों की प्रथा बहुत काल तक प्रचलित रही। बाद में कुपाण राजाओं के समय धातु के हस्तलेख प्रचारित हुए और कनिष्ठ के धातु-लेख इस कोटि के उत्कृष्ट प्रमाण हैं।

अशोककालीन प्रस्तर-लेखों और कुपाणकालीन धातु-लेखों के अनन्तर गुप्तकालीन ताङ्ग-लेख उत्क्लेखनीय हैं। ये हस्तलेख अधिकतर ब्राह्मीलिपि में लिखे हुए प्राप्त होते हैं। ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का मत है कि आदिपुरुष भगवान् श्रीपद्मदेव ने ब्राह्मी नामक कन्या द्वारा दाहिने हाथ से जिस लिपि को लिखवाया था कालान्तर में वही लिपि उसी आदिकन्या के नाम से 'ब्राह्मीलिपि' के रूप में अभिहित हुई।

तत्पश्चात् हस्तलेख ताङ्गपत्र, भोजपत्र और मांडपत्र पर लिखी गई पोथियों के रूप में मिलते हैं। नाङ्गपत्र ताङ्ग के पत्रों से बनता है जो भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय ३

तापजीवी होने के कारण तापप्रधान मैदानी प्रदेशों में होते हैं। दक्षिण भारत और पूर्वी भारत में इसीलिए ताढ़-बृंदों की अधिकता है। ताढ़-पत्र पर लिखी सबसे प्राचीन पोथियाँ पशुपताचार्य रामेश्वरच्छजकृत 'कुसुमाजलि की टीका' और 'प्रबोध-सिद्धि' प्राप्त हुई हैं, जिनका लिपिकाल क्रमशः इसा का प्रथम तथा द्वितीय प्राप्तक है। इसा की दूसरी शताब्दी में लिखी तीसरी पोथी नाटक के कुछ श्रुटिर धंषा के रूप में प्राप्त हुई, जिसका उल्लेख ढा० लघर्स ने 'कीलहार्न संस्कृत टेस्ट' के प्रथम भाग में किया। सप्तम शताब्दी के बाद की लिखी अनेक ताढ़पत्रीय पोथियाँ प्राप्त होती हैं।

इसी भाँति भोजपत्र पर लिखी गई दो प्राचीन पोथियाँ—'धम्मपद' और 'संयुक्तागमसूत्र'—उपलब्ध हुई हैं। एताह्वपयक विद्वानों के मतानुसार क्रमशः दोनों का लिपिकाल दूसरी शताब्दी और बीठो शताब्दी है। भोजपत्र के बूँच शीतप्रधान प्रदेशों—हिमालय तथा काश्मीर की तराइयों में अधिकता से पाये जाते हैं। इन्हीं प्रदेशों में भोजपत्रीय पोथियाँ मिथने की अधिक संभावना है।

ताढ़पत्र और भोजपत्र के अतिरिक्त इस्तलिखित पोथियों का तीसरा स्वरूप मांडपत्रीय पोथियाँ हैं। मांडपत्र का दूसरा नाम 'देशी हाथ का घना कागज' भी है, जिसके घनाने की अनेक विधियाँ हैं। पहिली विधि जो इस प्रकार है कि रुई को भिगोकर गला दिया जाता या और भीगने की किया जय पूर्ण हो जाती थी तथ उसको उफड़ी की घनी एक विशेष प्रकार की गोलाकार जाड़ी से सावधान होकर तथतक लगातार कूट दिया जाता, जयतक कि रुई के रेशे-रेशे स्वच्छ दशा में न बदल जायें। तदनन्तर थीच-थीच में एक जोयधि मिलाकर उसको अन्तिम अवस्था में लाया जाता या और अन्त में उसको निर्मल हरी

दूब अथवा ऐसे ही स्वच्छ स्थान पर कुन्दुनी धूप में सुखाने के लिए ढाल दिया जाता था। कागज जैसे रंग का बनाना हो, उसमें वैसी ही ओषधि मिलायी जाती थी। जब वह सूख जाता तब उसका पदपदापन और खुरदुरापन मिटाने के लिए उसके ऊपर मांड का लेप कर दिया जाता, जिससे उसके क्षिद्र भर जाते और पुनः तेज धूप में सुखाकर उसको शंख से घोट दिया जाता था और अन्तिम रूप से उसको कागज की दशा में लाया जाता था। इसी कोटि का दूसरा कागज पानी की ऊपरी सतह में जमे शैवाल से निर्मित किया जाता था। उसकी भी अपनी पृथक् विधि है। ये दोनों प्रकार के कागज ‘मांडपन’ से अभिहित होते हैं एवं विशुद्ध देशी हाथ का बना कागज यही कहलाता है।

चीन में पहले-पहल सन् १०५ में जब कागज का आविष्कार हुआ था उसके बहुत बाद तक भारत में हस्तलेखन के लिए मांडपन को ही उपयोग में लाया जाता रहा। आज हस्तलिखित पोथियों की प्रचुर संख्या मांडपन पर लिखी हुई मिलती है। इस प्रकार की पोथियों की प्राचीनता कागज के माध्यम से स्वतः सिद्ध हो जाती है। मांडपन पर लिखी गई अधिक से अधिक छः सौ सात सौ वर्ष प्राचीन पोथियाँ ही शोधकर्ताओं को प्राप्त हो सकीं। उसका कारण यह है कि कागज होने की वजह से पर्याप्त संरक्षण के अभाव में ऐसी पोथियाँ चिरजीवी नहीं हो सकतीं।

इन पोथियों को लिखने के लिये जिस स्याही को उपयोग में लाया जाता था वह भी आज की स्याही की भाँति भिन्न एवं अपेक्षाकृत चमकीली और अधिक टिकाऊ होती थी। इस प्रकार की स्याही वृद्धों के पत्ते एवं जड़ी-चूटियों से तैयार की जाती थी। आज भी कहीं-कहीं स्याही बनाने का यह तरीका उपयोग में लाया जाता है। इस स्याही भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय ५

में एक अपनी विशेषता यह देखने को मिली है कि कागज को पानी में
दालने पर भी वह छुलती तथा पिघलती नहीं है। चिन्हकार भी प्रायः
ऐसे ही रसों का निर्माण करते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद पश्चिम भारतीय शैली, जो जैन-
स्कूल के नाम से पुकारी जाती है, के चित्रों के आधार पर पोथियाँ
लिखी जाने लगीं। भिन्नचित्रों के असिरिक तात्पत्र पर भी लिखे हुए
इस शैली के अनेक चित्र मिले हैं। ये चित्र प्रसादानुसार पोथियों के
मध्यभाग में बने होते थे। इस प्रकार कला की प्राचीनता पर भी
हस्तलिखित पोथियों का प्रभाव स्पष्ट लिखित होता है।

भारत में इस कार्य का आरम्भ

सन् १७८४ हूँ० में सर चिलियम जॉन्स ने 'पश्चियाटिक सोसायटी
आफ बंगाल' की स्थापना की। इस संख्या के प्रोत्साहन से भारत में
पुरातत्व-अनुसंधान कार्य के साथ-साथ हस्तलिखित पोथियों का खोज-
कार्य भी वही तत्परता से संपन्न होने लगा। अनेक देशी-विदेशी विद्वानों
ने एकत्र होकर इस महत्वपूर्ण कार्य में अपना पूर्ण योग दिया।
पुरातत्व विशेषज्ञ यूरोपीय विद्वान् महाशय कोलम्बुक यहां तक उत्साहित
हुए कि उन्होंने अकेले हस्तलिखित पोथियों के उद्धारार्थ १० हजार
पौंड की एक वृहत् निधि खर्च कर विद्वानों को इस दिशा में आकर्षित
किया। डा० आफ्रेट ने इंडिया आफिस के हस्तलिखित संस्कृत
पोथी संग्रह को, डा० कीलहार्न, बूलर, पीटर्सन, मांहारकर, धनेल,
मेकेंजी, कोलम्बुक और गायकबाड़ प्रसृति विद्वानों की खोज रिपोर्ट के
आधार पर सीन भागों में सूचीबद्ध कर उसको 'कैटेलोगस कैटेलोगरम'
नाम से प्रकाशित किया। मद्रास यूनिवर्सिटी से उसका संशोधित एवं
परिवर्धित संस्करण निकल रहा है। ग्रन्थों का परिच्यात्मक विवरण

इस प्रकार रखा :—ग्रन्थ का नाम, ग्रन्थकर्ता का नाम, ग्रन्थविस्तार, लिपि, निर्माणकाल, लिपिकाल, ग्रन्थ की अवस्था, ग्रन्थ का आदि-अन्त अंश और कहीं-कहीं मध्य का अंश भी उद्धृत किया । इसी की देखा-देखी आकसफोर्ड की घोड़लियन लाइब्रेरी का सूचीपत्र, पुगलिंग का इंडिया आफिस का सूचीपत्र तथा वेवर कूत वर्ल्ड के राजपुस्तकालय का सूचीपत्र बड़े उत्साह से प्रकाशित हुए ।

सन् १८६८ ई० में लाहौर निवासी पंडित राधाकृष्ण के सत्ययज्ञों के फलस्वरूप भारत सरकार ने हस्तलिखित पोथियों के उद्धारार्थ घर्वर्द्ध, मद्रास आदि प्रान्तों में अनेक संस्थाएँ स्थापित कीं । इन्हीं संस्थाओं की देखादेखी ‘काशी नागरी प्रचारिणी सभा’ ने सन् १८९३ ई० से हस्तलिखित हिन्दी पोथियों के खोज-कार्य के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रम रखे, किन्तु सभा अपनी आरंभिक स्थिति में दृतना आर्थिक व्यय वहन करने में असमर्थ रही । सन् १८९९ में प्रान्तीय सरकार से ४०० की अत्यव्यवस्था निधि वार्षिक सहायता के रूप में सभा को प्राप्त हुई और सभा के योग्य संचालकों के प्रयत्नस्वरूप वही निधि बढ़कर २००० तक हो गई । तब से लेकर आज तक सभा ने अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी जिस उत्साह से इस उद्धारकार्य को किया, वह स्तुत्य है । सभा ने जिन खोज रिपोर्टों को आजतक प्रकाशित किया ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्वपूर्ण स्थान है ।

इस दिशा में कार्य करने वाली प्रमुख संस्थाओं में नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; सरस्वती भवन, वाराणसी; भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना; श्री शार्दूल रिसर्च इंस्टिट्यूट; तथा अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर; सिधिया रिसर्च इंस्टिट्यूट, उजैन; विहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, विहार; ओरियांटल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास; आदियार लाइब्रेरी, भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय ७

मद्रास; प्राच्यविद्या संस्थान, मद्रास; विश्वविद्यालय, मद्रास; बैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर; शोधसंस्थान, उदयपुर; खुदावक्षाखाँ लाहौरी, पटना; पुरातत्व मंदिर; तथा राजकीय पोथीखाना, जमपुर; भारती कलाभवन, वाराणसी; महाराज घलरामपुर का संप्रहालय; रजा लाहौरी, रामपुर और हिन्दी साहित्य समेलन, प्रयाग; का नाम उम्मेसनीय है।

इनके अतिरिक्त सभी प्रदेशों में ऐसी संस्थाओं का संघटन हुआ है जिनका उद्देश्य इन पोथियों का अधिक से अधिक संग्रह कर उनके विनष्ट होने से बचाना है; किन्तु वहुत कम संस्थाएँ अभीतक इस कार्य में सफल सिद्ध हुई हैं। भारत के ग्राम: सभी भागों में यह ग्रन्थ-संपत्ति यत्र-सत्र विसरी हुई है। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, विहार आदि मैदानी प्रदेशों के अतिरिक्त हिमालय प्रदेश के पहाड़ी भागों में भी उपेचित रूप से पहाड़ी हुई इन पोथियों का उद्धार हो सकता है। राष्ट्रीय सरकार के तत्वावधान में यदि यह कार्य संपन्न हो तो अति उत्तम है; अन्यथा सरकार को चाहिए कि वह इन संस्थाओं को प्रोत्साहन दे। अविदित नहीं कि हमारी उदासीन वृत्तियों के कारण जिन असंख्य पोथियों का प्रवास हुआ उसकी पूर्ति क्या कभी हो सकती है? इस दिशा में जितनी जल्दी सावधान हुआ जाय उतना ही कल्याणकर होगा क्योंकि ये पोथियाँ जिस कागज पर लिखी होती हैं वह दीर्घजीवी एवं समयापेक्ष्य नहीं होता।

इन पोथियों के संग्रह करने में सबसे वही कठिनाई ग्रन्थस्वामी के मिथ्या-मोह के कारण होती है। सभी संग्रहकर्ताओं ने एकमत होकर इस अनुभव को दुहराया है कि लोगों के बीच इन पोथियों के सम्बन्ध में अभी एक परम्परागत पुराना अंघविश्वास चला आ रहा

है। वे लोग हन पोथियों को देने की बात तो अलग रही, छुने तक नहीं देते और उनकी पूजा करते हैं। उनका यह पूजा भाव यहाँ तक सीमातिकमण कर चुका है कि भले ही उराने चिथड़ों में वेष्टित वे पोथियाँ एक दिन दीमक की भोज्य-सामग्री बन जायें; किन्तु किसी के हाथ में न जायें। उनकी धारणा है कि पोथियों में उल्लिखित मन्त्रों का रहस्य खुल गया तो उनका महत्व नष्ट हो ही जायगा, साथ ही उन पूर्वजों की स्वर्गवासी आत्माओं को भी ऐस पहुंचेगी जिन्होंने पोथियों के आमुख आवरण पर मोटे-मोटे अच्छरों में लिखा है 'सुगोप्यम्' 'अपाव्यम्'। कई सज्जन मुझे ऐसे भी मिले हैं जिन्होंने अपने पूर्वजों के उक्त वेदवाक्यों की रक्षा के लिए अपने विशाल ग्रन्थ-संग्रहों को आधी रात में सामने वाली आंगन की दीवार में चुन दिया। कुछ ने कुर्य में ढालकर ग्रन्थों की गोपनीयता की रक्षा की। ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि इस दिशा में उदासीन न हुआ जाय। पहले-पहल आवश्यकता हस बात की है कि ऐसे लोगों की परम्परागत हस संदिग्ध एवं असत्य धारणा को दूर कर उनमें यह विश्वास पैदा कर दिया जाय कि राष्ट्र की जिस अमूल्य संपत्ति को वे हस प्रकार नष्ट कर रहे हैं। देश के लिए उसका कितना महत्व है।

जिन महाचुभावों के पास हस प्रकार के व्यक्तिगत संग्रह केवल हसलिए ही पहे हों कि एक दिन वे भी काल-क्वलित हो जायेंगे। उन्हें भी विवेक से काम लेना चाहिए। मिथ्या मोह-वश राष्ट्र की हस अग्राह्य निधि को व्यक्तिगत न समझकर कुछ उदारता वर्तें। ग्रन्थस्वामी चाहें तो, यथापि भरसक जहाँ तक हो सके हस चाह की अवक्षा ही करें, अर्थ के बदले भी अपने ग्रन्थ-संग्रह को दे सकते हैं। ऐसी भी संस्थाएँ हैं जो प्रतिवर्ष एक बड़ी निधि केवल हन ग्रन्थों के उद्घारार्थ ही व्यय करती हैं।

इस्तरिति व पोथियों के निर्माताओं में आदिशाल से ही ही प्रहृष्टियों
ऐसी चट्ठी भा रही है जिनके पारण घोपत्तमाओं को धनेश्वरेष
कठिनाहयों का मामना करना पड़ता है। प्राप्तीन, धर्यार्थीन घृत
कम पोथियों ऐसी मिलती है जिनमें रचनाकाल, लिपिकाल अथवा
ग्रन्थकर्ता के मर्याद में कोई दस्तेवार हो। इसलिए पारण परम्परागत प्रथा
का निर्वाह लिपि दोस्ता है। इसारे ग्रन्थकारों ने आमानिमान के
भय से इन महावपूर्ण वातों की उपेणा रखी। १०० के ने तो यहाँ तक
लिखा है कि 'संस्कृत के ग्रन्थकारों ने अपना परिचय दिपाकर म जाने
कितने महावपूर्ण ग्रन्थों को देवताओं और ग्रंथियों के नाम लिख
दिया।' संस्कृत के ग्रन्थकारों की इस प्रशृति का दिन्दी है ग्रन्थकारों
ने भी कम धनुमरण नहीं किया।

इसीसे मिलती-हुतती इन ग्रन्थकारों में एक दूसरी प्रशृति लिपि
होती है। यह है एक ही भावरण में कई ग्रन्थों को लिन राखने की।
१०० से अधिक ग्रन्थ एक ही भावरण में लिये मिलते हैं, जिसका
न तो विषय की इटि से कोई साम्य देता है और न ही एक जैसी
भाषा में वे लिखे होते हैं। वे ग्रन्थों को एक ही इष्ट में समाप्त और
भारंभ भी कर देने से तथा एक ही भावरण में भनेक भाषाओं—संस्कृत,
पालि, हिन्दी, उर्दू, यंगला आदि—के ग्रन्थ लिपि देने के कारण इन
पोथियों को किसी वैज्ञानिक पदति से बर्गाफ़्त करना पड़े तो उल्लङ्घन
का विषय यह जाता है।

उपयोगिता

उपयोगिता की इटि से इन इस्तरिति पोथियों का महावपूर्ण
स्थान है। किसी भी देश की सांस्कृतिक चेतना को धनुप्राणित करने
के लिए इन पोथियों का महान् योग रहा है। साहित्यिक, सामाजिक,
राजनीतिक और ऐतिहासिक जीवन की सत्कालीन मनोवृत्तियों, धारणाओं,

चिन्ताओं, भावनाओं और आदर्शों का अविकल स्वरूप हन पोथियों में प्रतिच्छायित है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने अपने ज्ञान-विज्ञान को ग्रथित करने के हेतु हाथ से लिखने की प्रथा को जन्म दिया। आदिकालीन तथा मध्यकालीन अधिकांश ग्रन्थकर्ताओं ने राज्याश्रय प्राप्त कर ही हन पोथियों का प्रणयन किया। ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में आस्थित राजा के सम्बन्ध में भी उन्होंने यत्र-संत्र लिखा, जिससे उस राज्य का इतिहास जानने में बड़ी सुविधा होती है।

इसके अतिरिक्त शिलालिपियों के महत्वपूर्ण लेख इतिहास-निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। हरियेण कवि द्वारा खुदवाई गई प्रयाग के स्तंभ पर सम्राट् स्कन्दगुप्त की प्रशस्ति, अशोक के शिलालेख और महाद्वयवर्ष रुद्रद्वामन के गिरनार वाले शिलालेख हसी कोटि के हैं। अनेक पुरातत्व खोजियों ने ऐसी ही अनेकानेक सोने, चाँदी एवं ताम्रपत्रों पर लिखी गई प्रशस्तियों का पता लगाया है जिनके आधार पर विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है।

इन पोथियों की खोज-रिपोर्ट के आधार पर सर्वप्रथम सन् १८८६ ई० में श्री शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह सरोज' नामक हिन्दी का इतिहास प्रस्तुत किया। इससे भी सदियों पूर्व काश्मीर के अमर कलावन्त कलहण ने अपनी 'राजतरंगिणी' की रचना हसी आधार पर की। सन् १८८९ ई० में डा० ग्रियर्सन ने 'मार्डन वर्नाक्यूलर लिट्रेरचर आफ नार्दन' हिन्दुस्तान' नामक इतिहास लिखा, जिसका महत्व अपने चेत्र में अतुलनीय समझा गया। सन् १८९० ई० में महाशय वावर ने 'वावर मैनुस्क्रिप्ट्स' प्रकाशित करवाया, जिससे लोगों ने संस्कृत-साहित्य के महर्ष को समझा। सन् १९१३ ई० में विद्वद्वर्य मिश्र बन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखकर हिन्दी के विलुप्त भारतीय हस्तलिखित पोथियाँ : एक परिचय ११.

कुछ दिन पूर्व भारत सरकार का शिष्यमंत्रालय इस घात की भरसक कोशिश में था कि लंदनस्थित हृषिदया आफिस पुस्तकालय उसको वापिस मिल जाय। वहाँ के लोग इस पुस्तकालय का मोह इसलिए नहीं छोड़ सके कि, इतने घरों का स्वामित्व भोगकर भारत से उन्हें एकमात्र यही ज्ञान-संपत्ति उपलब्ध हुई है, जो कि आपिर में उनके पास घच सकी है।

हृषिदया आफिस पुस्तकालय में संप्रति ढाई लाख पुस्तकें सुरक्षित हैं। यहीं वीस हजार इस्टलिंगित पोथियों का वृहत्संग्रह है। इस संग्रह में ऐसी पोथियाँ भी हैं, जो दुनिया में कहीं नहीं मिलती हैं। यह सारी सम्पत्ति भारत की ही है।

भारत के ये ग्रन्थरम किस कदर और किस तात्पाद में विदेशों को प्रवासित हुए, इसकी एक छम्पी कथा है; किन्तु जिस कथा को किसी भी इतिहासकार ने लिपिघट नहीं किया है। भारतवासी अपनी इस ग्रन्थ-सम्पदा के लिए तब चिन्तित हुए जब उसका एक घदा भाग उनके हाथों से छिन कर विदेशों को प्रवासित हो चुका था। इन पोथियों के सम्बन्ध में घारीकी से अध्ययन करते हुए हमें विदित होता है कि भारत की घनती-धिगदती राजनीति के कारण उनको स्थायीरूप से भव्य दिन देखने नसीब नहीं हुए।

ग्रवास की दिशाएँ

योरप, अमेरिका और सारे एशिया में भारत की ये पोथियाँ विभिन्न कारणों से प्रवासित हुईं। चीन, जापान, तिब्बत और यिन्डैन में अधिकाधिक पोथियाँ गयीं। चीन, जापान और तिब्बत में ये पोथियाँ चौद्ध-धर्म के प्रचार के कारण ईसवी पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी से जाने लग गयी थीं और लगातार सातवीं-आठवीं शताब्दी तक जाती

रहों। इन देशोंमें पोथियों को ले जाने का कार्य बौद्ध-पण्डितों, प्रचारकों, भिस्तुओं और घुमझड़ों ने किया।

अकेले चीन में फाहियान, हुप्तन्-सांग और इत-सिंग नामक तीन बौद्ध-परिवारकों द्वारा सहजों भारतीय पोथियाँ प्रवासित हुईं। एक ही यात्री हुप्तन्-सांग के सम्बन्ध में अंग्रेज इतिहासकार विसेट स्मिथ का कथन है कि वह चीनी-यात्री भगवान् बुद्ध की अनेक सोने-चाँदी की वहुमूल्य प्रतिमाओं सहित बीस घोड़ों पर मूल्यवान् पोथियाँ लाद कर अपने देश को ले गया।

विदेशों के संग्रहालय

इन देशों के बौद्ध-विहारों और सरकारी-गैर-सरकारी पुस्तकालयों में बहुत-सो भारतीय पोथियाँ आज भी सुरक्षित हैं। ऐसी हुर्लम पोथियाँ भी वहाँ संगृहीत हैं, जो अपनी जन्मभूमि भारत और अपनी मूल-भाषा संस्कृत में आज उपलब्ध नहीं हैं। वैसे तो ये पोथियाँ ईसा की कुछ शाताविद्यों पूर्व से ही उक्त देशों को जाने लग गयी थीं; किन्तु बहाल के सेन और पाल राजाओं के समय में भागलपुर के समीप विक्रमशिला विश्वविद्यालय में लिखी गयी पोथियाँ विशेष रूप से वहाँ गयीं।

विटिश शासकों ने अपनी सत्ता के अन्तिम दिनों तक भारत से पोथियों को इकट्ठा करके अपने देश को भेजा। इण्डिया आफिस पुस्तकालय की चर्चा हम ऊपर कर सुके हैं। इसके अतिरिक्त छन्दन स्थित विटिश न्यूजियम, एशियाटिक सोसाइटी और कामनवेल्थ संग्रहालय भारतीय ज्ञान से ज्योतित हो रहे हैं।

अरब, फारस, तुकिस्तान, खोतान, मिस्र, यूनान और हीराक आदि ये विखरे हुए मर्याद-न्यून

जैशिया के देशों में भारतीय प्रेषियाँ निरन्तर आगी रहीं और भवने मृष्ट रूप में राधा अनुगामी के रूप में वे प्रेषियाँ धारा भी उन देशों के गौरव को ददा रही हैं। 'दस्तप्रियन-त्रिदग्द' भास्मण दिल्लीप्राप्ति-विषयक प्रेयी एक तामन पिद्वान् द्वारा जनृदिग्द होवर तुम इन पाँ प्रकान्तित हुएं। इस पुस्तक को देखकर मंवार के पिद्वानों को आपाप्यं हुआ कि भारतीयों को इतने पुराने उमाने ने दिल्लीप्राप्ति तैये छछि गृह और अप्रचलित विषय का इतना ब्रैड ज्ञान था।

अभी हाल ही में दावठर रम्यवीर चीन, नद्दोलिया और भृप्त-पृशिया से एदी महरपूर्णं सामग्री साथ लाये हैं। इस सामग्री का घजन उगमग दम टन है। उसको देवदहर विद्वानों ने जन्मदाता उगाया कि पहिली शताब्दी में तेहर ग्यारहीं शताब्दी राज भारत में साथ हुए भृप्त-पृशिया, भचूरिया, चीन, जापान और फोरिया के सांस्कृतिक सम्बन्धों का मिलसिलेगार इतिहास तेयार बनाने में उच्च सामग्री एदी सहायक एवं उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रतिभा के ग्रमाण

प्राचीन-भारत के शुद्ध ज्ञानकेन्द्र, उसके ग्रन्थालयों का जल्लयन करने पर विदित होता है कि भारत में दस्तलिमित प्रेषियों के उपरिभित भण्डार भरपूर थे। इन पुस्तकालयों से भारतीयों के जट्ट-भुत विद्याप्रेम का परिचय मिलता है, भपने इस विद्याप्रेम के ही कारण प्रेषियों लिखना उनका म्यवसाय पूर्व र्यस्त हो गया था।

नालंदा भवाधिहार को विद्य-विद्यात गौरव प्राप्त होने का एक वदा कारण उसका उसाधारण पुस्तकालय नहीं था। भारत के विद्याप्रेमी और कलाप्रेमी ग्रन्थ-स्वामियों ने अपने-अपने अनमोल ग्रन्थ-संग्रहों तथा

चित्रं-संग्रहों को नालंदा महाविहार को भेट कर उसके पुस्तकालय के यश को बढ़ाया ।

व्यक्तिगत पुस्तकालय

इसके अतिरिक्त तत्कालीन मठ-मन्दिरों के संग्रह और राजा-महाराजाओं के सरस्वती भण्डार भी पोथियों के गढ़ थे । नालंदा पुस्तकालय की खोई हुई शोहरत को फिर से कायम करने वाले मगध का ओदन्तपुरी महाविहार और विक्रमशिला का पुस्तकालय भी अपना निजी महत्व रखते हैं । इस प्रसङ्ग में हमें महाराजा भोज की भोजशाला, जैनियों के वृहत् उपाध्य और सहस्रों व्यक्तिगत पुस्तकालयों की भी सहसा याद आ जाती है ।

भारत के हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों का इतिहास, मुगल-शाहंशाहों के पोथीखानों का अध्ययन किये घूमे, आधूरा ही कहा जायगा । शाहंशाह अकबर का चरित्र मध्यकालीन भारतीय इतिहास की सहेजनीय वस्तु है । अकबर एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, असामान्य विद्वत्सेवी, अद्भुत विद्याप्रेमी और बड़ा कला-रसिक शासक था । अकबर का पुस्तकालय अपने युग में संसार का सबसे बड़ा पुस्तकालय था । इस पुस्तकालय में चौथीस हजार हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थीं ।

अकबर का ज्ञानप्रेम विरासत के रूप में मुगलवंश के अन्तिम दिनों तक बना रहा । शाहंशाह औरंगजेब की विदुषी पुत्री जेबुनिसा तक शाही-वंश में पुस्तकालयों की परम्परा बनी रही ।

ज्ञान-गौरव

भारत के ज्ञान-गौरव प्राचीन पुस्तकालयों का अध्ययन कर और यह जानकर कि ये ग्रन्थ-रक्त भारत से किस प्रकार विदेशों को प्रवासित थे बिखरे हुए ग्रन्थ-रक्त

दूष, ज्ञान हमें विद्या ग्रहण करनी पाहिए। अभी भी यह धन्यसंसदा हिमालय से ऐकर कन्याकुमारी। वह मारे भारत में दिनांक द्वाई है। बाज भी द्वारे मट्टमन्दिरों में, विद्यावेदी भारतीय नरेशों के सरगली-मण्डारों में, मरकारी, गैरन्मरकारी संप्रदायियों में और मध्यमे अधिक अनिश्चित घरों में, पर्याप्त दृश्यालित पोधियों के धरार मंपद भरपा हैं।

सनातन में इन पोधियों से भवयन्थ में धनेक अन्यविद्याम और कुरीतियों पूर्ववत हैं। छोग क्षणों पोधियों के दिग्नाने और उनका सपांच कराने ने पाप ममझने हैं। इसका शुपरिज्ञाम यह हुआ है और होता जा रहा है कि पुराने वेष्टों में दर्शी ये पोधियों अनिगम वाले तोड़ रही हैं। उनकी कीमती काया दो दीमुक धाट रही है।

राज्य सरकार का प्रयास

परम सौभार्य का दिष्य है कि अपने १३ जून, १९५६ई० के ४४८३।—८५-१९५६ संस्करण पृष्ठ अर्पणालक्षणीय परिपत्र द्वारा उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने यह सूचित किया है कि इस राज्यीय सम्पत्ति को यज्ञाने और उसको उचित संरक्षण देने वे लिए यह उच्चत हैं। भारत सरकार और अन्य राज्य सरकारें मिलकर अधिलंब ही इस कार्य को संपन्न करने के लिए शुत्रप्रविष्ट हैं।

राष्ट्र की हम ज्ञान विद्यामत के उद्घारार्थ उच्चत पपनी सरकार का हाथ घेटाना बाज प्रत्येक द्व्यक्षि का अनिवार्य फर्तव्य है।

—०००००—

अक्षर अमर रहें

हमारे पुरखा हमें जो दे गये उस वसीयत के प्रति
कुछ हमारा भी तो फर्ज है न ?

प्रागैतिहासिक मानव को वर्णमाला की क्यों आवश्यकता हुई और
किस उद्देश्य से उसने लेखनकला को जन्म दिया, इसका कोई
लेखा-जोखा नहीं है। योरूप के इतिहास में 'फदमो' नामक एक पूर्वीय
जाति को सभ्यता-संस्कृति के मामले में बहुत बढ़ा-चढ़ा माना
जाता है। वर्णमाला की सबसे पुरानी जानकारी इसी पूर्वीय जाति को
प्राप्त थी। इनसे ही बाद में 'फोनीशियनों' ने वर्णमाला की शिक्षा ली।
फोनीशियनों से इस परम्परा को यूनानवासियों ने लिया।

अक्षर अमर रहें

१६

यद्यपि कदमों द्वारा निर्दिष्ट धर्ममाला में शोनीशियों ने कह सुचार
किये; किन्तु इसे सरल और सर्वांगिन दर्शन का धैय यूनानियों द्वा
रा ही है। यूनानियों द्वारा धर्ममाला में दो उच्चतरतीय सुधार द्वारा:
उन्होंने प्रचलित स्वर-विहीन धर्ममाला में स्पर्शों का संयोग दिया और
उसे घाँय से दाढ़िनी खोर छिपने की प्रणाली बदलायी। यूनानियों से
रोम वालों ने धर्ममाला का ज्ञान प्राप्त दिया और गृहों में फिर स्वरूप
योरेप में प्रचार हुआ। इस्ती पूर्व तेरहवीं शती तक योरेपवासी
धर्ममाला से सर्वया अपरिचित थे। उन्हें उमरी परिचिति पड़ जाती
बाद ही हुई।

आज से द्वाभग मादे चार हजार वर्ष पूर्व वी अन्तरराष्ट्रीय लिपि
का नाम कोनदार-लिपि था, जिसका सीरिया की 'मत्ती' नामक आर्य
सम्प्रता व्यवहार करती थी। मिथ्र की लपनों अन्तरदेशीय लिपि यद्यपि
चिन्हिति थी, फिर भी याहुरी पत्र-व्यवहार थे कोनदार-लिपि में ही
करते थे। यही कोनदार लिपि वर्तमान यूरोपियन लिपि की जन्मदायी
है। सीरिया की कोनदार लिपि को पहले-पहल भूमध्य-सागर के आम-
पास रहने वाली जातियों ने सीखा। इन्हीं जातियों ने उनमें स्पर्शों का
संयोग कर इसे घाँय से दाढ़िनी खोर छिपना भी प्रचलित दिया।

प्राचीनता की दृष्टि से विश्व की भाद्रिम दो भाषाएँ—आर्य और
सेमेटिक—प्रचलित सभी भाषाओं की जननी हैं। योरेप की ग्रीक, फ्रेंच,
ईटिन और हंगलिश भादि जितनी भी भाषाएँ हैं, सभी का मूल खोत
आर्य भाषा है। पूर्व में भारत और ईरान, जिनकी भाषाएँ संस्कृत और
फ़ारसी हैं, आर्य संस्कृत से ही अनुप्राणित हैं। आर्यों का पृक दृढ़
भूमध्य-एशिया से आकर पंजाब में यस गया था। भाषा-वैज्ञानिकों का
अनुमान है कि वे लोग जिस आसुरी भाषा को योछते थे, उसीसे चैटिक
संस्कृति की उत्पत्ति हुई है।

भारतीय वर्णमाला विषयक चर्चाएँ वेद, उपनिषद् और पुराणों में विखरी हुई भिलती हैं। यजुर्वेद (३४।९ अ०) में लिखा है कि अष्टवसु देवताओं ने १३ अचरों के छन्द में १३ मन्त्रों का प्रणयन किया; रुद्रों ने १४ अचरों के छन्द में १४ मन्त्रों की सृष्टि की। हतना ही नहीं, वल्कि यजुर्वेद के एक दूसरे मन्त्र (५७।२३ अ०) में वैदिक युगीन वर्णचिरों की संख्या पर भी प्रश्न किये गये हैं और समाधानकर्त्ता उत्तर देता है कि अचरों की संख्या सौ और होमों की संख्या अस्सी है।

इससे यह तो विदित होता है कि वैदिक युग की वर्णमाला आज की अपेक्षा सर्वथा भिज्ञ थी, साथ ही इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि वह वर्णमाला आज की वर्णमाला से कहीं अधिक व्यापक और संवर्धनशील थी। यजुर्वेदोंके शत-वर्णों की संख्या घट कर आज हृतनी न्यून हो जाने का प्रबल कारण उच्चारण और व्यवहार की कमी प्रतीत होती है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि (ई० पू० पंचम शतक) के समय में वर्णों की यह संख्या घट कर केवल ६३-६४ रह गयी थी।

अथर्व वेद (४०।३ सूक्त । १८ काण्ड) भी वैदिकयुगीन वर्णमाला का समर्थन करता है।

‘छान्दोग्योपनिषद्’ में तो वर्णोत्पत्ति और उनका वर्णीकरण इस प्रकार वर्णित है कि अ इ उ आदि सम्पूर्ण स्वर इन्द्र की उत्पत्ति हैं, प श स ह यह ऊप्मवर्ण प्रजापति अर्थात् चन्द्रमा की सृष्टि हैं और कवर्ग आदि जितने भी व्यंजन हैं सबके उच्चावयिता मृत्यु अर्थात् महेश्वर हैं। वर्णमाला की उत्पत्ति और उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में ‘नारद-पुराण’ में एक श्लोक आता है कि यदि ब्रह्मा वर्णमाला की उत्पत्ति और लिखने-पढ़ने की परम्परा की स्थापना न करते तो संसार का यह लोकव्यवहार न चलता और संसार ज्ञान से शून्य ही रह जाता। इसी अक्षर अमर रहें

प्रकार पुराणोंके एक दूसरा श्लोक वर्णमाला का विकास और लेखनकला की उपयोगिता के सम्बन्ध में निर्देश करता है कि छः मास के ही घाद लोग धेदमन्त्र को भूलने लगते थे। किसी विद्वत्पुरुष के मरणो-परान्त उसका सारा ज्ञान और सारी विद्या उसी के साथ विलुप्त हो जाया करती थी। ज्ञान के स्थापित और विद्या के प्रचारार्थ सुरक्षेष्ठ ग्रन्थों ने वर्णमाला की उत्पत्ति की और उसके उपरान्त भोजपत्रों तथा चाहपत्रों पर लिखने की प्रथा का प्रचलन हुआ।

इन सब उद्धरणों और प्रमाणों से विदित होता है कि भारतीय वर्णमाला की आयु लगभग दो-ढाई हजार वर्ष विकसी पूर्व अवश्य है। साथ-साथ यह भी सिद्ध होता है कि भारत में लेखन कला का जन्म भी बहुत पहिले हो चुका था। सिन्धु-सम्पत्ता के आलेख इसके प्रमाण हैं। आज भारतीय हस्तलेखों का जो रूप उपलब्ध होता है, हस्तलेखन की परम्परा उससे कहीं अधिक प्राचीन है। सम्राट् अशोक की प्रशस्तियाँ एवं तरसामयिक शिलालों तथा स्तम्भों पर किये गये उल्लीलों के रूप में उपलब्ध हस्तलेखों की गणना की जा सकती है, जिनकी तिथि ६० पूर्वीय शतक है। उसके बाद क्रमशः कुपाण-कालीन धारु-लेख और गुप्तकालीन ताम्रलेख उपलब्ध होते हैं। भारत और बाहरी देशों में चाहपत्र और भोजपत्र पर लिखी गयी इसोत्तर प्रथम और द्वितीय शती की पोथियाँ उपलब्ध होती हैं। दृच्छिण भारत के मलावार प्रान्त में आज भी ताहपत्रीय पोथियाँ लिखने का रिवाज है। वहाँ दस्तावेज इन्हीं पत्रों पर लिखते हैं और स्टाम्प भी इन्हीं के विकते हैं।

संसार के प्राचीनतम् हस्तलेख मिट्टी की टिकियों और पेपरी की छालों पर लिखे हुए उपलब्ध होते हैं। कई देशों में मिट्टी पर ग्रन्थ

खोदने का रिवाज था। मिट्टी की गीली टिकियों पर अच्छर उत्कीर्ण करके उन्हें धूप या आग में सुखा लिया जाता था। इससे उन पर उत्कीर्ण अच्छर सूख कर पक्के और स्पष्ट हो जाते थे। वैधिलोन की खुदाइयों से इस प्रकार की सहजों मिट्टी की ईंटें तथा टिकियाँ मिली हैं जिन पर अनेक प्रकार के लेख खुदे हुए थे। कुछ टिकिये वहाँ से ऐसी भी प्राप्त हुई हैं जिनका लेखन-काल पुरातात्त्वज्ञों ने ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व का निर्णीत किया। ये मृत्तिका-ग्रन्थ पेटियों में खुन कर रखे जाते थे। इन लेखों के आधार पर शोधकर्ता विद्वानों ने वैधिलोन की प्रागैतिहासिक सम्यता को खोज निकाला था।

इन मृत्तिका-ग्रन्थों से भी अधिक प्राचीन 'पेपरी-पोथियाँ' उपलब्ध होती हैं। नील नदी के तटों पर पेपरी के बन्य-बृक्ष अधिकता से पाये जाते हैं। मिश्र के प्रसिभाशाली मनस्तिथियों ने ईसा की हजारों शताब्दियों पूर्व लेखन-कला का आरम्भ इन पेपरी-बृक्षों की छालों पर किया। ये पेपरी-पोथियाँ पत्राकार न होकर कुण्डलीनुमा होती थीं। छिली हुई पेपरी की छालों को पास-पास रख कर उनकी परतों को इस प्रकार लम्बाकार जोड़ दिया जाता था कि उनको कुण्डलीनुमा जोड़ने पर भी उनके जोड़ तथा पत्ते अलग-अलग न हो पाते थे। आवश्यकतानुसार पेपरी की छालों को जोड़ कर उनकी लम्बाई-चौड़ाई तैयार की जाती और तदुपरान्त उन्हीं पर लेखन-कार्य सम्पन्न किया जाता। आज से लगभग ५००० वर्ष पुरानी पोथियाँ पेपरी की छालों पर लिखी हुई मिली हैं। ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व की कुछ शताब्दियों में मिश्र में कुण्डलीनुमा पेपरी-पोथियाँ अधिक संस्था में उपलब्ध हुई हैं। मिश्र के तत्सामयिक सम्राट् पेरोए के शासनकाल में साहित्य, हस्तकला और विज्ञानविषयक अनेक वहुमूल्य पोथियाँ पेपरी पर लिखी हुई मिली हैं। साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला का भी उस युग में अच्छा प्रचार था अक्षर अमर रहे।

और आज तक जिनकी समानता नहीं की जा सकती, ऐसी सचित्र पेपरी-पोथियाँ भी उस युग में सर्वप्रथम निर्मित हुईं। मिथ्र-वासियों में एक पुरानी परम्परा यह भी थी कि मृत्तामाओं के साथ अनेक धार्मिक और साहित्यिक पोथियाँ पेपरी पर लिख कर उनके साथ क्षम में गाढ़ दी जाती थीं। इस प्रकार विदित होता है कि सारे विश्व में प्राचीनतम् हस्तलेख पेपरी की छालों पर लिखे हुए कुण्डलीनुमा पोथियों के रूप में उपलब्ध होते हैं।

मिथ्र में अनेक ऐसे प्राचीन ग्रंथालय थे जिनमें लाखों मूल्यवान् पोथियाँ संगृहीत थीं। इतिहासकारों का विश्वास है कि टॉलेमी के ग्रंथालय में लगभग दो लाख कुण्डलीनुमा पेपरी-पोथियाँ सुरक्षित थीं। इसी प्रकार अकेले सिकन्दरिया के विश्व-विरयात् बृहत् पुस्तकालय में चार लाख से भी अधिक पेपरी-पोथियाँ वडे व्यवस्थित ठन्ड से रखी हुई थीं। सिकन्दरिया के इस ऐतिहासिक ग्रन्थालय का धर्मदोहियों द्वारा बार-बार अपहरण और अभिदाह द्वारा अन्त हुआ। संसार के इस अद्वितीय पुस्तकालय को विनष्ट करने और उसके मूल्यवान् संग्रह को जला डालने का पहिला कृष्णय रोम-सम्राट् सीज़र द्वारा हुआ। बाद में मिथ्र की विद्यानुरागिनी सम्राज्ञी किलयोपेट्रा ने वडे यज्ञ से लगभग दो लाख पेपरी-पोथियों को एकत्र कर सिकन्दरिया के पुस्तकालय को पुनर्जीवित भी किया था; किन्तु सन् ३८९ ई० में धर्मभीर और विद्या-द्वेषी आर्कविशेष धियोक्लिकास के प्रपञ्च से धियोडोशियन ने उसको जलवा कर राख कर दिया और इस दुर्कर्म का सारा अश्रेय खलीफा उमर के सेनानायक तथा मिथ्र के महान् विजेता अमरू के सिर मँड दिया।

सिकन्दरिया का यह बृहत् ग्रंथालय यदि आज होता तो संसार भर के पुस्तकालयों में उसका प्रमुख स्थान होता और निःसन्देह विश्व-

इतिहास की रूपरेखा तैयार करने में वह अस्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ होता। उन बहुमूल्य पेपरी-पोथियों के महान् ज्ञान से मानवता को अपूर्व राहत मिल गई होती। विश्व-विख्यात दार्शनिक भरस्तू के ग्रंथालय में अकेले ५०० ग्रंथ सुरक्षित थे।

धीरे-धीरे लेखनकार्य के लिए पेपरी की जगह वाँस का कागज और पश्चिमों की खाले उपयोग में लायी जाने लगीं। मिश्र में यूनानियों के राज्यकाल के समय लगभग ईसा की तीन शती पूर्व वाँस के कागज पर पोथियाँ लिखी जाने लगीं। यूनान-वासियों और रोम-वासियों ने भी मिश्र-वासियों के अनुकरण पर पेपरी और वाँस के कागज पर पोथियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं। कागज मिलों में तैयार किया जाता था और उस पर सारा नियन्त्रण यूनानी शासन का था। ई० प० तीसरी शती से पहली शती तक की सारी पोथियाँ रोम और यूनान के ग्रंथालयों में पेपरी की छालों अथवा वाँस के कागज पर लिखी उपलब्ध हुईं।

ईसा की दूसरी शती पूर्व लेखनकार्य के लिए जब कागज और पेपरी की कमी होने लगी तब पश्चिमों की खालों पर पोथियाँ लिखी जाने लगीं। ये चर्म-पोथियाँ पहले-पहल मिश्र स्थित परागान नगर में लिखी गयीं। इन चर्म-पोथियों का नाम 'पार्चमेट' था। डॉ० इब्शर ने मिश्र की कुछ पेपरी-पोथियों का अन्वेषण करते समय पता लगाया कि उनमें पार्चमेट अर्थात् चर्म-पोथियों का भी उल्लेख किया गया है। इससे यह विदित होता है कि 'पार्चमेट' का उपयोग भी आज से लगभग ४००० वर्ष पहले हो सुका था।

इस प्रकार मनुष्य ने आज से हजारों वर्ष पूर्व अपने साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन का आरम्भ कर दिया था। सांस्कृतिक और अक्षर अमर रहे।

साहित्यिक अभ्युदय की यह परम्परा सर्वप्रथम किस देश के निवासियों
ने प्रतिष्ठित की, यह वृषा ऋहा-योह का विषय है; किन्तु अपने पूर्ख-
पुरुषों द्वारा वसीयत के रूप में हमें जो चहुमूल्य सम्पत्ति परम्परा से
उपलब्ध हुई, वह थी महान् ज्ञान से परिपूर्ण इस्तेलिक्तिव पोथियाँ।
विश्व के ग्रामः सभी देशों में न्यूनाधिक ये पोथियाँ मूल्यवान् साहित्यिक
सम्पत्ति के रूप में सुरक्षित होती आयी हैं। आज भी हमारा यह
पहिला कर्त्तव्य है कि इस राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति को विनष्ट
होने से बचायें।

—*—*—*—*

अक्षर अमर रहें

प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय

भारत के प्राचीन ग्रन्थालयों से अवगत होता है कि भारत में विद्या-व्यसन की परम्परा बहुत पुरानी है। भारत की यह ज्ञान-सम्पत्ति आज भी यूरोप और एशिया तक विस्तृत हुई मिलती है। चौन, जापान, तिब्बत, नेपाल, ईराक, ईरान, मिश्र, तुर्किस्तान, विटेन के व्यक्तिगत घरों में तथा पुस्तकालयों में भारत का विद्याधन दृस्तलिखित पोथियों के रूप में आज भी उपलब्ध होता है। ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व से ही ये पोथियाँ विदेशों को प्रवासित होने लग गई थीं और समय-समय पर सहजों की संख्या में भारत से अलग होती गई। पोथियों को ले जाने का यह कार्य मुख्यतः घौम्य भिज्जुओं द्वारा सम्पन्न हुआ।

प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय

२५

शार्मिक एक्सना के नामे विदेशी मिट्टि सीर पर्सेटर जारग भाषु और इन मूल्यवान् गदों को इसड़ा कर साध दे गए। सुदमिट इनिटिएटिव विन्सेट निष्प दा गो यहाँ गठ बहना है हि खींची गार्डी ट्रॉफी ट्रॉफी २० घोड़ों की पीठ पर जगता १०० पोपियों लाइ कर खींच दे गया था।

इसमें विदिग दोगा है कि खींचउगुर्गीन जारग का सोर्टिव और साइरियक परातां घृत दी सुदृढ़ था। इनिटिएटर के एट भाज भी इस साध दी तुनरातृति पराने हैं। सुदमिट अर्टिटिव, विपिटेन और मिथ के प्राचीनतम गतर्हीद ग्रन्थालाली है। जीवि जारग में भी विश्वविद्यालय एट तुनरातृति दृष्टिकोणों के जहाँपूर्ण संग्रहों में भरपूर थे। ग्रन्थ-सेतान और ग्रन्थ-संग्रह दा बार्ग जारग में तुरातृति समय से चला भा रहा है। दिन्दु-कुग के लियाने भी प्राचीन विचारीट, जट-बन्दिर और राजप्रामाद थे, सर्वी में खपरिनित एवं खतुपतरमध्य ग्रन्थ-संग्रह विष्यान थे। उसके बाद भी ग्रन्थ-कुग दे छुट तुनित्य यादवाह और नवाब भी डरेट विष्यान्पदनी, विष्यामेडी और पान-रमिक रहे हैं, जिनके जाही तुनरातृतियों में नूतन्यवान् ग्रन्थरूप सुरक्षित थे।

पौर्वी से सागरी जागवी तक के दो जातर सोर्टिव जमु-त्यान के स्वर्णिम रातक रहे हैं। इस समय जारग में लालिल, संत्कृति और कला के दोग्र में जन्मायूर्व उत्तरि तुहै। जीर्णुगीन जारग ने न देवल विष्य में खर्मनिरपेक्ष राजगतन्त्र की प्रतिष्ठा की; खपितु उत्तरि समर्पूर्ण प्रतिष्ठा में ऐसे खसंख्य थीट-विहारों को भी उन्म दिया जिनके कारण तुदूर देशों तक जानार्दन की भाव्य परम्परा का भी सूत्रपात्र हुआ। इसी समय दर्शन, धर्म, विज्ञान, कार्य और कला आदि विषयों

पर भी जम कर चिन्तन-मनन तथा ग्रन्थ-प्रणयन का अभूतपूर्व कार्य प्रारम्भ हुआ। नालंदा के जगद्विख्यात विद्यापीठ की स्थापना भी इसी समय हुई, जिसमें कि संसार के कोने-कोने से विद्योपार्जन के हेतु लोग आने लगे। कुछ ही दिनों में नालंदा का यह यौद्ध-विहार विद्याध्ययन का महान् केन्द्र बन गया। भारत के पण्डित-परिवारों और कलाप्रेमियों ने अपने अमूल्य संग्रहों को मुक्तहस्त नालंदा विहार को भेटस्वरूप अर्पित कर दिया। इस सहयोग के कारण नालंदा का बृहद् ग्रन्थालय लाखों की संख्या में भारतीय ग्रन्थरत्नों से जगमगाने लगा और शोधकर्ता विद्वानों के लिए उत्तरोत्तर उसकी उपयोगिता बढ़ती ही गई।

तरसामयिक हिन्दू मन्दिर भी पोथियों के गढ़ थे। पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान युग में हिन्दू मन्दिरों की स्थिति बहुत ही अच्छी थी। उस समय के देवालय एक प्रकार से शास्त्र-चर्चा के केन्द्र थे। राजा-महाराजाओं ने भी अपने-अपने यहाँ बड़े-बड़े पंडितों को आश्रय देकर नए-नए विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन करवाया।

कुछ दिनों बाद नालंदा का महाविहार जब ध्वस्त हो गया तब मगध के ओदन्तपुरीविहार और विक्रमशिला के ऐतिहासिक मठों के बृहद् ग्रन्थालयों ने भारतीय पोथियों के संग्रह-कार्य को आगे बढ़ाया। अपार ग्रन्थ-सम्पत्ति तो नालंदा-पतन के ही साथ विलीन हो गई; किन्तु जो कुछ भी बच पाई थी वह भी अधिकांश रूप में विदेशी विद्यार्थियों द्वारा भारत से निष्कासित हुई। सन् १२०२ ई० में वस्त्रियार सिलजी के प्रधान सेनानायक मुहम्मद ने विहार-विजय के साथ-साथ ओदन्त-पुरी ग्रन्थालय को भी समूल विनष्ट कर डाका। इस धार्मिक दोह के कारण भारत के कतिपय ग्रन्थालयों और यौद्ध-विहारों की ग्रन्थ-सम्पत्ति का बड़ी नम्रतापूर्वक अपहरण हुआ। यहाँ की अधिकांश पोथियाँ नेपाल प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय

और तिद्वयत को प्रवासित हुहैं। सुमष्टमानी आकल्मणों से भयभीत हो कर घोड़-मिठु नेपाल की धारण में गए और साथ ही असंक्षय पोथियाँ चहाँ लेते गए। नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में अनुकूल जलधारु के कारण आज भी प्राचीनतम भारतीय पोथियाँ सुरक्षित हैं।

परमार वंश के कीर्तिशाली महाराज मोज (१०१० से १०५५ ई०) का ऐतिहासिक ग्रन्थालय और उनकी भोजशाला आज भी उस चैम्ब-शाली जमाने की यादगार है। इस भोजशाला के ११ प्रकोष्ठ आज भी विद्यमान हैं। याद्व चहारदीधारी से विरा हुखा विशाल प्रांगण है। यह भोज की पाठशाला थी जहाँ कि यहाँ भव्य एवं कलापूर्ण प्रस्तर की विशाल सरस्वती-प्रतिमा भविष्यित थी। यह प्रतिमा न जाने कब इंग्लैण्ड को ले जाई गई और प्रतिमा के स्थान पर मस्जिदनुमा एक चौकोर दरार बना दी गई है। भोजशाला के प्रकोष्ठों पर जो यन्त्र उसकी-गित हैं उनसे विदित होता है कि वहाँ ज्योतिष पर धृत अद्ध्यी शिष्या दी जाती थी।

कुछ दिन पूर्व गिरे हुए दो शिला स्तम्भों पर उसकीगित मदन कवि (तेरहवीं शताब्दी) कृत 'परिब्रात मंजरी' के दो अङ्ग पाए गए। महाराजा मोज की पोथीशाला ध्याने युग की अद्वितीय चस्तु थी। सन् ११४० ई. में सिद्धराज जयसिंह ने मालव-विजय के साथ-साथ महाराजा मोज की पोथीशाला की मूल्यवान् अन्य-सम्पत्ति को वहाँ से उठा कर चालुक्यवंशीय राजकीय पुस्तकालय में स्थानान्तरित कर दिया। वारहवीं शताब्दी के एक शिलालेख से विदित हुआ है कि मोज के पुस्तकालय में 'नैपधीय चरित' पर लिखी हुई विद्याधर की प्रथम दीका सुरक्षित थी। यशोधर कृत 'जयमंगला' दीका उसी का आधार था। संप्रांते वान-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में प्राप्त होनेवाली 'रामायण' की प्राचीनतम प्रति की उच्च पुस्तकालय से ही प्रतिलिपि ली गई थी।

मध्ययुगीन कुछ मुस्लिम-शासकों का विद्याप्रेम और उसके द्वारा अनुजीवित पोथीखानों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। दो-एक बादशाह तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने न केवल भारतीय साहित्य की रक्षा की, अपि तु उसका अर्जन-वर्द्धन भी किया। पठान बादशाह फ़ीरो-ज़शाह तुशलक ने ज्वालामुखी भण्डार में संगृहीत लगभग ४००० पोथियों के महरवपूर्ण पोथी-संग्रह को उठावा कर, दिल्ली में गवाया और उनमें से कुछ पोथियों का अरबी एवं फ़ारसी भाषा में अनुवाद करवाया।

शाहँशाह अकबर जैसे प्रस्तुत्पन्नमति शासक का नाम मध्यकालीन भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर आलिखित है। अकबर न केवल एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था, अपितु अतिशय विद्याप्रेमी, उत्कट विद्यासेवी और अद्वितीय कलारसिक भी था। अकबर ने अपने अन्वेषकों द्वारा देश भर से मूलयवान् ग्रन्थों को एकत्र तो करवाया ही, साथ ही अनेक अनुभवी लेखकों, कलाकारों और विविध-भाषाखिदों द्वारा स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थलेखन, चित्रकारी और अनुवाद का कार्य भी करवाया। अकबर के शाही पुस्तकालय में संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी और ग्रीक भाषा की पुस्तकें अलग-अलग बगों में विभाजित थीं। ऐसी भी सचिव युस्तकों वहाँ संगृहीत थीं जिनकी क्रीमत एक लाख से अधिक थी। अबुल फज़ल ने ‘आईने-अकबरी’ में लिखा है कि “इस विद्याप्रेमी शासक का शाही पुस्तकालय अपने ढंग का अद्वितीय और अद्भुत पुस्तकालय था।” विन्सेण्ट स्मिथ ने तो अपने इतिहास ग्रन्थ में यहाँ तक लिखा है कि “उस जमाने के शाही पुस्तकालय की समानता में संसार भर में कोई पुस्तकालय नहीं था। सभी प्रोथियाँ हस्तलिखित थीं।” शाहँशाह के देहान्त के समय शाही पुस्तकालय में २४००० प्राचीन भारत के ज्ञानगढ़ : उसके ग्रन्थालय

हस्तलिखित पोथियाँ विद्यमान थीं। फैज़ी की मृत्यु के बाद १५३५ईं में उसके संग्रह की ४३०० पोथियाँ हमी पुस्तकालय में रखी गई थीं।

बक्यर के बाद, शाही पुस्तकालय की चाही दुर्दशा हुई। कुछ पोथियों को अवध के नवाय ले गए; कुछ को १८५७ के विद्रोहियों ने जला डाला; कुछ प्रदियाटिक मोसाइटी आफ वंगाल ने खरीद लिया और शेष लक्षनक में ही रह गई। नवाय रामपुर तथा खाँ यहांदुर सुदायशश के प्रयवों से कुछ पोथियाँ यच गई थीं जो कि संप्रति रामपुर-बाँकीपुर के पुस्तकालयों और कुछ लक्षनक के अजायघर में सुरक्षित हैं। इन पोथियों पर आज भी अवध-नवाय की मुहर अंकित है।

रामपुर और बाँकीपुर के पोथी-संग्रह भाज भी वही सुधरी हालत में विद्यमान हैं। नवाय रामपुर ने पुनः घडे यत्र से -पर्याप्त अर्थ व्यय करके हस्तलिखित पोथियों को एकत्र करवाया था। इन दोनों संग्रहों में अर्थी और फारसी भाषा की अनुपलब्ध पोथियाँ सुरक्षित हैं। रामपुर-संग्रह में ४४७७ अरबी भाषा की पोथियाँ और ४२५४ फारसी भाषा की पोथियाँ संगृहीत हैं। शाहैशाह यापर के हाय की लिसी हुई कुछ मूल कविताएँ भी इस संग्रह में शामिल हैं। बाँकीपुर-संग्रह में लक्षणिक प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त लगभग २०० हस्तलिखित पोथियाँ भी संगृहीत हैं। इस संग्रह में भी प्राचीनतम अनेक कवियों, कलाकारों और पण्डितों की लिसी हुई मूल प्रतियाँ विद्यमान हैं, जिसमें दाराशिकोह लिखित 'जीवनी-ग्रन्थ' यदे महत्व का है। नवाय रामपुर और खाँ यहांदुर का नाम उनके इन महत्वपूर्ण कायों के कारण बहुत सम्मान के माध्य स्मरण किया जाता है।

प्राचीन-साहित्य-सरषकों में शाहैशाह औरंगजेय की बुत्री ज्ञेयिता का नाम उल्लेखनीय है। इस विद्यात विद्वाणी के ग्रन्थालय की स्थापति

संपूर्ण भार्या एशिया में फैली हुई थी। वहे-वहे पण्डित, कवि, चित्रकार और अनुवादक इस पण्डिता के यहाँ रहते थे। जेबुजिसा ने अपने अन्वेषकों को सम्पूर्ण एशिया में भेजा हुआ था। वहाँ से वे अमूल्य पोथियों का संग्रह कर भारत भेजते थे। भारत के प्रायः सभी ग्रन्थालयों की बहुमूल्य पोथियों की प्रतिलिपियाँ इस विद्वानी के ग्रन्थालय में संगृहीत थीं।

इसके अतिरिक्त जैनियों के उपाध्ययों और काश्मीर के पण्डित परिवारों में भी भूमूल्यवान् पोथियों के वृहत् संग्रह विद्यमान थे। आज भी भारत के अधिकांश घरों में तथा राजकीय और स्वतन्त्र ग्रन्थालयों में भारतीय पोथियों के महस्त्वपूर्ण संग्रह विद्यमान हैं।

भारत में हस्तलिखित पोथियों की सुदीर्घ परम्परा

भारत में पोथियों को हाथ से लिखने की परम्परा का अनुवर्तन बहुत पुराने जमाने में हो चुका था। वैदिक युग का सारा ज्ञान मौखिक था। धेदों का 'श्रुति' नाम पढ़ने का एकमात्र कारण यही है कि समग्र वैदिक साहित्य लगभग पन्द्रह सौ वर्षों तक कण्ठस्थ रूप ही में निर्वाहित होता रहा। जिन विलच्छण प्रतिभा के महामनस्त्रियों का आज श्रष्टि-महर्षि के चिरद से स्मरण किया जाता है, वैदिक युग की ज्ञान-परम्परा का एकाधिकार उन्हीं के हाथों में था।

वैदिक युग की अन्तिम अवधि को 'सूत्रकाल' के नाम से स्मरण किया जाता है। सूत्र-ग्रन्थों की रचना लगभग ८००-२०० ई० पूर्व के चीज़ हुई। इस युग तक अध्ययन-अध्यापन की विधियों में बहुत परिवर्तन हो चुका था। 'गागर में' सागर' की भाँति सूत्रग्रन्थों की ज्ञान-प्रणाली इतनी जटिल हो गयी थी कि उसे, विना लिपिबद्ध किए, हृदयङ्गम करना, दुष्कर-सा हो गया था। साथ ही, वैदिक युग के मनुष्यों की अपेक्षा इस युग के मनुष्यों की ज्ञान-ग्राहिणी प्रक्षा में भी उतना अद्भुत शौर्य नहीं रह गया था।

वैदिक युग के मौखिक ज्ञान को सूत्रयुग के धर्मप्रवण आचार्यों ने जिस प्रकार लिपिबद्ध किया उसकी प्रामाणिक विवरणिका प्रस्तुत करना सम्प्रति कठिन ही नहीं, वरन्, असम्भव भी है; किन्तु, इतना निश्चित-सा है कि पोथियों को लिखने की परम्परा का सूत्रयुग में व्यापक रूप से प्रचलन हो चुका था।

'हाथ से लिखी हुई प्राचीनतम पोथियाँ हमें मोजपन्न और ताङ्पत्र की पोथियों के रूप में मिलती हैं। ताङ्पत्र, ताङ्न-बृहों के पत्तों को कहते हैं। ये ताङ्न-सूत्र ग्रीष्मप्रधान प्रदेशों में अधिकता से पाए जाते हैं। दक्षिण-भारत और पूर्वी-भारत में इसीलिए ताङ्न-बृहों की प्रधानता है। ताङ्पत्रों पर पोथियाँ लिखने की विधि बड़ी जटिल है। इन पत्तों को कमाकर पहले धूप में सुखाया जाता है और उसके बाद लौह-लेखनी आदि से उन पत्तों पर अक्षर खोदे जाते हैं। पत्रों पर अक्षर खुद जाने के अनन्तर उपर से स्याही का लेप कर दिया जाता है। स्याही खुदे हुए अक्षरों में भर जाती है और इस प्रकार, इतने अम के बाद ताङ्पत्र की पोथियों को तैयार किया जाता है।

ताङ्पत्र की कुछ पोथियाँ, विना खोदे, स्याही से भी लिखी जाती भारत में हस्तलिखित पोथियों की सुदीर्घ परम्परा

हैं। पेसी पोथियाँ छुदे हुए अस्तरों की पोथियों से अपेक्षाकृत प्राचीन मिलती हैं।

तादृपत्र की पोथियों के बीच में, उनको लिखने से पूर्व, पृक्ष सूराख किया जाता है। उस सूराख में दोरी ढालकर सभी पत्रों को पृक्ष-साथ पिरो लिया जाता है। पुस्तकों के लिए 'प्रथ' कहा जाना तभी से प्रचलित हुआ जब से पोथियों को इस प्रकार सूत्र में अधित किया (पिरोया) जाने लगा। धाद में ग्रन्थ पुस्तक का पर्यायवाची हो गया।

तादृपत्र के अतिरिक्त भोजपत्र पर भी प्राचीन पोथियाँ लिखी हुई मिलती हैं। भोजपत्र पर लिखी हुई पोथियाँ, तादृपत्र पर लिखी हुई पोथियों की अपेक्षा कम मिलती हैं। भोजपत्र के वृक्षशीतग्रधान प्रदेशों में पाये जाते हैं। हिमालय और काश्मीर की तराह्यों में उनकी अधिकता है।

भोजपत्र और तादृपत्र पर पोथियाँ लिखने का कार्य वहा कठिन है। उनको लिखने के लिये वही सूक्ष्म-वृक्ष और सघे हुए हाथों की आवश्यकता है। इन पोथियों के लेखक विद्वान् होने के साथ-साथ निपुण कलाकर भी होते थे।

भोजपत्र और राधृपत्र पर लिखी हुई घहुत-सी पोथियाँ काश्मीर में मिली हैं। ये पुस्तकें भाज से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखी गयी थीं। यह समय गुप्त साम्राज्य की खुशहाली और सुखचैन का समय था। गुप्त-राजाओं के समय में वही अच्छी-अच्छी पोथियाँ भोजपत्रों और तादृपत्रों पर लिखी गयीं। ये पोथियाँ वही मूल्यवान् थीं। उनके सम्बन्ध में पुराणों में लिखे हुए हवालों से विदित होता है कि उनके अच्छर सुनहरी कलम के थे तथा याहर की दस्तियों पर अच्छी चित्रकारी रहती थी। वारहवीं

या तेरहवीं शांताबद्धी की ताइपन पर लिखी हुई जो श्वेताभ्यरीय जैन सम्प्रदाय की शोब्दी-सी पोथियाँ गुजरात में मिली हैं, उनकी सुनहरी लिपि और आकर्षक चित्रकारी गुस्कालीन पोथियों जैसी ही थी।

बहुत पुराने समय में इसी प्रकार पेड़ की छालों या पत्तों पर पोथियों को लिखने का अचलन था। इस बात का पता और प्रमाण हमें उस अति-प्राचीन साहित्य को देखकर लगता है। आजकल हम पुस्तक का अध्याय, सर्ग या काण्ड एक खास उद्देश्य को लेकर पूरा करते हैं; किन्तु, वैदिक युग की प्रायः सभी पुस्तकों में यह बात नहीं दिखाई देती। हम देखते हैं कि वैद्युगीन ग्रंथनिर्माता जब तक पूरा विषय समाप्त ही नहीं करते, तब तक वर्ण्य मण्डल, अध्याय या सूक्त को समाप्त कर देते हैं। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में एक प्रकार के विचार एक ही जगह जमा हुए न मिलकर किसी हद तक विखरी हुई हालत में मिलते हैं।

इसका कारण उस समय किखने के साधनों की कमी था। पेड़ों की छालें अधिक पत्ते, आकार में जितने छोटे-बड़े होते थे, उन्हीं के हिसाब से मण्डल, सूक्त, सर्ग या अध्याय समाप्त कर लिए जाते थे।

आज ताइपन और भोजपन की पोथियों में वैदिक युग की अपेक्षा सुविधाजनक, कुछ बड़ी हुई परिस्थितियों को पाते हैं। यह मनुष्य की विचार-बुद्धि में तब्दीलियों का परिणाम है। अपनी इसी बढ़ती हुई विचार-बुद्धि के बल पर मानव ने ताइपन और भोजपन की जगह देशी हाथ के बने कागज का निर्माण किया।

वैसे तो पहले-पहल चीन ने आज से लगभग सत्रह-अठारह सौ वर्ष पूर्व कागज का आविष्कार कर डाला था; किन्तु, वह तादाद में भारत में हस्तलिखित पोथियों की सुदीर्घ परम्परा

इतना फरम था कि घटुत समयतक दूसरे देश उसके हाथ से बच्चित हो रहे। भारत में यद्यपि देशी हाथ के बने कागज की पोथियाँ आज से दस-पारह सौ वर्ष पूर्व लिखी जाने लगी थीं; किन्तु, संप्रसि हमें जो पोथियाँ उपलब्ध होती हैं, ये प्रायः तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से पहले की नहीं मिलतीं।

देशी हाथ के बने कागज को माहपत्र भी कहा जाता है। भाज्रकट हमें माहपत्र की पोथियाँ अधिकतर मिलती हैं। इन पोथियों को लिखने के लिए जिस स्याही को काम में लाया जाता था, उससी भी अपनी अद्दग सूखी थी। उस प्रकार की टिकाऊ और चमकीली स्याही आज देखने को नहीं मिलती। यह स्याही पेड़ों के पत्तों के रस या दूसरी जड़ी-नूटियों को कूटकर तैयार की जाती थी। इस स्याही से लिखी हुई पोथियों की अपनी खासियत यह है कि उनको पानी में ढाल देने पर भी उनकी स्याही छुलती या पिघलती नहीं है।

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद भारतीय चित्रकारों ने एक नई दौली को जन्म दिया, जिसको पश्चिम-भारतीय दौली और अंग्रेजी में जैन रूपल कहा जाता है। इस चित्रदौली में भी पोथियाँ लिखी गईं।

भारत में सचिव पोथियों को लिखने का प्रचलन मुगल-सर्वतनत की प्रतिष्ठा के बाद अधिक हुआ। भारत में भी तुकों और पठानों की अरची-फारसी पुस्तकों के अनुकरण पर अस्तर तराशी जाने लगे। मुगल सर्वतनत के पिता शाहँशाह यायर ने कला के सेव में जो उत्सुकता जाहिर की थी, वह मुगलों में धंत तक बनी रही।

मुगल शाहँशाहों में सुन्दर-सुन्दर पोथियों को लिखाने का अद्भुत दौक या। मुगलकाल के लिये हुए 'महाभारत' के अनुवाद 'रजमनामा' की हजारों सचिव पोथियाँ मिली हैं। शाहजहाँ को जो एक दौक ही

चर्चाया था कि अच्छी-अच्छी कलापूर्ण पोथियों की पोस्तीन पर वह अपने दस्तखत कर दिया करता था ।

मुगलकाल की लिखी हुई रुपहली, सुनहली, काली स्याही की कलापूर्ण बहुमूल्य पोथियों को देखकर तत्कालीन कलाकरों के प्रति भरबस संमान-भरे उद्गार प्रकट किए बिना नहीं रहा जाता । कुछ दिन पूर्व कुरान की एक ऐसी ही पोथी को राष्ट्रीय संग्रहालय ने दस हजार रुपयों की लागत से क्रय किया । इस पोथी की पोस्तीन पर शाहजहाँ ने अपना नाम और सन् आदि लिखे हैं ।

मुगलकाल के बाद भी भारत में पोथियाँ लिखी जाती रहीं; किंतु, अंग्रेजों का आधिपत्य हो जाने के बाद भारत में ज्ञानार्जन की यह सुन्दर परम्परा उखड़ती गई, और भारत का सारा अर्जित ज्ञान यहाँ से प्रवासित होता गया ।

यद्यपि बौद्ध-धर्म के आविर्भाव के समय से लेकर अंग्रेजों के आधिपत्य तक भारत से पोथियाँ निरंतर विदेशों को जाती रहीं; किंतु, सहस्रों वर्षों की लम्बी परम्परा में अष्टुण रूप से लिखी गई असंख्य पोथियों के फलस्वरूप आज भी हिमालय के लेकर कन्याकुमारी तक, अनेक घरों में पोथियों के बृहद् भंडार भरे हुए हैं ।

—००५००—

भारतीय पोथियों का प्रवास

भारत ज्ञानियों, पंडितों, कवियों और कलाकारों का देश रहा है। शास्त्र-चिरन और साहित्य-निर्माण उसके द्वे सनातन व्यवसाय रहे हैं। तपःपूर्त भारतीय महर्षियों ने अपने जीवन के धृण-धृण विद्याल्ययन और विद्या-वितरण कैसे महान् कार्यों को सम्पन्न करने में व्यतीत किए। अपने पूर्वपुरुषों से उत्तराधिकार के रूप में हमें जो सम्पत्ति उपलब्ध हुई वह थी हमारी साहित्य-सम्पत्ति। परम्परा से प्राप्त भारत का यह साहित्य-धन आज भी भारतीय एवं विदेशीय ग्रन्थालयों में हस्तलिखित पोथियों के रूप में सुरक्षित है। भारत के इस अतुल विद्या-धन का उपयोग सारा संसार शताव्दियों से करता आ रहा है। भारत की यह ज्ञान-सम्पत्ति किस प्रकार विदेशों को प्रवासित हुई, इसका भी एक रोधक हृतिहास है।

अपने इस बृहद्-वाह्मय के प्रति भारतीय विद्वान् तथा जागरूक हुए, जब अमूल्य एवं अप्राप्य हस्तलिखित पोथियों के बृहस्संग्रह विदेशों को प्रवासित हो चुके थे। राजनीतिक उथल-पुथलों के कारण भारत को जो अपूरणीय चिति उठानी पड़ी वह थी उसके प्राचीन साहित्य का अपहरण। समय-समय पर आत्माह्यों द्वारा जिन असंख्य भारतीय पोथियों की होली जलाई गई उसकी तो गणना ही नहीं की जा सकती; किंतु भारतीय ज्ञान के जो बृहद्-भंडार आज भी विदेशों में दिखाई दे रहे हैं उनके संबंध में तो प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो यहाँ के प्रतिकूल जल-वायु ने प्राचीन पोथियों को असमय ही ग्रस लिया, दूसरे जो कुछ घच पाई थीं उनसे विदेश ही लाभान्वित हुए। अनुकूल जल-वायु के कारण जो भारतीय पोथियाँ चीन, तिब्बत और नेपाल प्रभुति देशों में जीवित रह सकी हैं, प्राचीनता की दृष्टि से उनका महत्वपूर्ण स्थान है। इस्लाम की विनाशक आँधी ने, जो पुक दिन अरब के मरुस्थल से उठी थी, भारत के जिन विशाल ग्रन्थालयों को विनष्ट किया वह ऐतिहास की एक अमिट घटना है। साथ ही इस तथ्य को भी नहीं भुलाया जा सकता कि विदेशी शासकों ने भारत की इस साहित्य-सम्पत्ति का जिस क्रूरता और स्वार्थपरता से अपहरण किया उसका अभाव भी सदा बना रहेगा।

मध्य एशिया

विशेषतः तिब्बत, नेपाल और यहाँ तक कि चीन, जापान, अमेरिका, द्वंगलैण्ड तक भारत से हस्तलिखित पोथियाँ पहुँचीं। पुरातत्त्व के खोजियों ने मठ-मन्दिरों, गिरे हुए घरों, पुराने टीलों और बालू के नीचे से अनेक महत्वपूर्ण पोथियों को खोज निकाला। इन पोथियों में ताढ़-पनीय पोथियाँ थीं। असीरिया, बेबिलोन और मिस्र के ऐतिहासिक भारतीय पोथियों का प्रवास

पुस्तकालयों की भाँति प्राचीन भारत में भी पुस्तकालयों की कमी न थी। तद्दिशिला, नालंदा, नविया, मिधिला तथा राजा खोज के पुस्तकालय के अतिरिक्त मध्यकालीन भारतीय पुस्तकालयों में शाहैशाह अकबर का राजकीय पोथीखाना और अरवी-फारसी भाषाओं की विद्यात विद्युषी जीरंगजेय की पुस्त्री जेयुज्जिसा का सुप्रसिद्ध पुस्तकालय भारतीय इतिहास की स्मृति मात्र रह गए हैं। असंख्य बौद्ध-विहारों और जैन उपाध्रयों के पोथी-संग्रह भी कथावशेष रह गए हैं।

चीन, जापान, तिब्बत, बिटेन आदि देशों में जो असंख्य पूर्व मूलविवान् भारतीय पोथिर्यों प्रवासित हुईं उनकी तथ्य-विवरणिका प्रस्तुत करना कठिन ही नहीं असंभव भी है, किन्तु उसकी रूप-रेखा मात्र से ही विदित हो सकता है कि राष्ट्र को यह दुर्लभ संपत्ति समय-समय पर किस प्रकार हमसे दूर होती गई।

चीन में

ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर विदित होता है कि चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचारकार्य ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व से ही आरंभ हो गया था। हान्-वंश के सम्राट् भिंग अथवा भिंगी ने सन् ६४ ई० में अपने कुछ पण्डितों को बौद्ध-दर्शन-सम्बन्धी साहित्य की खोज और ज्ञान-प्राप्ति के लिए भारत भेजा। किन्तु खोतान में उन पण्डितों की भेट चीन जानेवाले कुछ भारतीय बौद्ध-मिष्ठुओं से हो गई और वे सब चीन को छैट गए। इन भारतीय बौद्ध-मिष्ठुओं के नाम ये—काश्यप मातंक (किया-एहमोतांग) और धर्मरत्न पा गोधर्घन (धु-फा-लन्)। ये प्रथम भारतीय भिषुद्वय जय चीन में प्रविष्ट हुए तो सम्राट् ने उनका आद्र-सरकार किया और उनके निवास-स्थान के लिए लोयांग में बैताभ (पाह-मान्स्म) नामक विहार का निर्माण कराया। कुछ दिनों बाद

लोयांग का वह बौद्ध-विहार बौद्ध-संस्कृति का सुप्रसिद्ध केन्द्र बन गया। सम्राट् मिंग का शासनकाल सन् ५८-७५ है। वे भिषुद्धय अनेक बौद्धधर्मविषयक पोथियाँ साथ ले गए और वहाँ जाकर उन्होंने उनका अनुवाद किया। काश्यप मातंग ने चीनी भाषा में पहले-पहल जिस पोथी को अनुदित किया उसकी एक प्रतिलिपि आज भी शान्तिनिकेतन के संग्रहालय में विद्यमान है।

उत्तरी तातार के वर्द्ध-वंश की राज-महिला छु ने ५१८ है० में सुंग-युन और हुई-सेंग नामक पण्डितों को अन्थ-संग्रह के लिए उज्जयिनी और गांधार भेजा। इन पण्डितों ने कुछ दिन भारत में रहकर ज्ञानार्जन किया और स्वदेश लौटते समय १७० महस्त्वपूर्ण पोथियाँ साथ लेते गए। चीन के दूसरे सम्राट् छु ने ५३९ है० में पोथियों के अन्वेषणार्थ मगध में अपने पण्डितों को भेजा। मगध के तत्कालीन राजा जीवगुप्त ने उन चीनी पण्डितों का समादर ही नहीं किया, अपितु अपने राज्य में बौद्ध-पोथियों का संग्रह कर अपने पण्डित परमार्थ के साथ उन्हें चीन वापस भेजा। इसी प्रकार हृष्ण के राजां चि ने ५७५ है० में ग्यारह विविध भाषा-विद् विद्वानों को भारत भेजा। वे विद्वान् लगभग ढाई सौ पोथियाँ चीन ले हीं जा रहे थे कि उन्हें रास्ते में विदित हुआ कि चेऊ-चंश तथा तु-चंश के राजा बौद्धधर्म-द्वोही बन गए हैं। फलतः वे तुर्किस्तान में ही रुक गए और जिनगुप्त प्रभृति भारतीय बौद्ध-भिषुओं के सहयोग से उन्होंने उन भारतीय पोथियों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। सम्राट् ताई-चि ने भी १५० भिषुओं को भारत भेजा और वे असंख्य महस्त्वपूर्ण अन्थ साथ ले गए।

इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध परिवाजकन्त्रय फा-हियान्, हुएन-रसांग और ईत्त-सिंग कई वर्षों की भारतीय यात्रा के बाद सहस्रों पोथियाँ और महस्त्वपूर्ण आलेख चीन ले गये। फा-हियान् पहिला चीनी यात्री था जिसने भारतीय पोथियों का प्रवास

भारतीय इतिहास पर काफी धोध किया। यह बौद्धमिष्ठु काशगर-स्वोतान होता हुआ पहले पहल काश्मीर में प्रविष्ट हुआ और सम्पूर्ण उत्तरी भारत तथा मगध आदि प्रदेशों का अमण कर चान्द्रलिंगि से सुभद्रपथ द्वारा सिंहल होता हुआ १५ वर्ष बाद लौट कर चीन गया। भारत के अतिरिक्त श्री छंका से भी यह यात्री अनेक पोथियाँ साथ ले गया था। हस्ती यात्री के साथ चे-येन और पाओ-युन् नामक दो भिष्ठु और आये थे, जिन्होंने काश्मीर में रुक कर संस्कृत पोथियों का अनुवाद कर चीन भेजा।

दूसरे चीनी यात्री हुयेन-त्सांग के विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासकार विसेंट स्मिथ लिखता है कि 'यह यात्री मार्ग की अनेक कठिनाइयों को पार करता हुआ साथ में बुद्ध भगवान् की मूर्त्यवान् स्वर्ण-रजत-प्रतिमाएँ और २० घोड़ों पर ६५७ वृहत्काय भारतीय पोथियाँ भी लेता गया। उपने जीवन का शेष भाग उसने उन पोथियों का चीनी-भाषान्तर करने में बिताया। ६६१ ई० तक उसने ६४ अन्यों का अनुवाद कर ढाला था।' यह प्रथं-संग्रह ५२० जिल्हों में विभाजित था जिसको सिंगान्-कु के हुएग-कु विहार में रखा गया। १७ वर्ष बाद वह लौटकर गया।

हृतिंसग तीसरा स्तोत्री या जो जावा, सुमात्रा, मलय, नीकोवर होकर चान्द्रलिंगि के मार्ग से भारत आया। श्रीविजय (सुमात्रा) में उसने संस्कृत का अध्ययन किया और नालंदा, राजगिरि, बुद्धगया, वैशाली, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती तथा वाराणसी प्रमृति भारतीय विद्या-केंद्रों तथा ऐतिहासिक स्थलों का अमण कर लगभग ३०० बौद्ध-पोथियों को वह जाते समय साथ लेता गया। कुछ पोथियों का अनुवाद उसने सुमात्रा में बैठ कर किया। ६८९ ई० में वह स्वदेश लौटा।

और भी कई चीनी बौद्ध भारत आये। शिह-चे-मंग और फा-यंग नामक भिषुद्धय भी अनेक ग्रन्थ चीन ले गए। शिह-चे-मंग को कुसुमपुर (पटना) निवासी रेवत नामक व्राह्मण से अनेक सुन्दर और व्यवस्थित पोथियाँ प्राप्त हुई थीं। फा-यंग २५ भिषुओं को भी साथ लाया था। वे यहाँ से जिस महत्वपूर्ण पोथी को चीन ले गए उसका नाम था—‘अवलोकितेश्वर-महास्थानप्राप्त-घ्याकरणसूत्र’। चीन को जितनी भी पोथियाँ प्रवासित हुईं उनमें अधिकांश संस्कृत-भाषा की थीं।

नन्दी अथवा पुण्योपाय नामक एक भारतीय बौद्ध भिषु सिंहल से महायान और स्थविरवाद के लगभग १५०० ग्रन्थ लाद कर चीन ले गया, जिनमें कई पोथियों का चीनी भाषा में सफल अनुवाद हुआ।

आज भी चीन में राष्ट्र-निर्माण के साथ-साथ साहित्य-निर्माण की आधुनिकतम वैज्ञानिक योजनाओं को बड़े चाव से प्रोत्साहन दिया जा रहा है। संप्रति चीन में छः वृहत् पुस्तकालय हैं—राष्ट्रीय पीपिंग-पुस्तकालय, नान्किंग-पुस्तकालय, चुंगकिंग-पुस्तकालय, लान्चौ-पुस्तकालय, घन्यांग-पुस्तकालय और वू-छांग-पुस्तकालय। राष्ट्रीय पीपिंग-पुस्तकालय चीन का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। इसकी गणना विक्ष के वृहत्तम पुस्तकालयों में की जाती है। इस पुस्तकालय की स्थापना का श्रेय मिंग (१३६८-१६४४ ई०) और छिंग (१६४४-१९११ ई०) वंशीय राजाओं को है। इसमें संप्रति देशी-विदेशी भाषाओं की लगभग २५ लाख उपस्तकें विद्यमान हैं, जिनमें बौद्ध सूत्रों के अकेले ४,३०० भाग हैं, जो सुंग-घंशीय युग (११४९-११७३ ई०) में लकड़ी के ब्लाकों द्वारा छापे गए थे।

जापान में

चीन से बौद्धधर्म का प्रचार जिन-जिन देशों में हुआ, जापान का उनमें प्रमुख स्थान है। जापान में छढ़ी शताब्दी के आस-पास बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। बौद्धधर्म को अधिक स्थायी और व्यापक बनाने के हेतु अनेक बौद्ध-भिन्नज्ञों द्वारा बहुत सी संस्कृत-पोथियाँ चीन से जापान ले जाई गईं। बौद्ध-धर्म की हन पोथियों ने और बौद्ध-धर्म के प्रचारकों ने बौद्ध-धर्म के प्रति जापान में एक उरकंठा जागरित कर दी। फलतः वहाँ की एक शिशु (सुखावती) नामक बौद्ध-संस्था ने अपने दो सुयोग्य विद्वानों, बुनियोनाजिओ और कासावारा, को १८७९ई० में संस्कृत भाषा के अध्ययनार्थ आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में भेजा। कासावारा की कुछ समय थाढ़ ही शृणु हो गई। तीसरे जापानी पंडित ताकाकुसू भी आक्सफर्ड से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर जापान भाषा पर गए। उक्त पंडितद्वय ने जापान में संस्कृत-भाषा का अच्छा प्रचार करने के साथ बाहर से जाई हुई बौद्ध पोथियों का बड़े मनोयोग से अध्ययन करा अनुवाद किया।

निस-समय मैक्समूलर आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक थे उस समय उन्होंने नांजिओ और ताकाकुसू द्वारा जापान से एक 'सुखावती श्यूह' नामक संस्कृत पोथी को अवलोकनार्थ मँगाया। वह पोथी चीनी-भाषा में अनूदित भी और उसका उच्चारण जापानी लिपि में उद्घिसित था। उद्दुपरांत भी महापंडित मैक्समूलर द्वारा अनेक महस्वपूर्ण हस्तलिखित और प्रकाशित संस्कृत-अंग जापान से आक्सफर्ड मँगाए गए, उनकी प्रतिलिपियाँ कराई गईं और आज भी वे अंग और उनकी प्रतिलिपियाँ आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के बोल्डलियन अंगालय में सुरक्षित हैं। उनमें प्राकृत और संस्कृत में लिखी हुई कुछ

ताइपन्नीय पोथियाँ तो बड़े ही महसूव की हैं। सिंहली और बर्मी लिपियों में लिखी हुई कुछ पालि-पोथियाँ भी जापान से प्राप्त हुई हैं।

काश्यप, धर्मराज, धर्मपाल, धोधिरुचि, धोधिधर्म, कुमारजीव, परमार्थ, प्रश्नतर प्रभृति भारतीय वौद्धपर्यटक वौद्धधर्म के प्रचारार्थ न केवल दुर्गम पर्वत-पथों को पारकर जापान आदि देशों में असंख्य भारतीय पोथियाँ साथ ले गए; अपितु उन्होंने उन देशों की भाषाओं में भी अद्भुत कृतियों की रचना कर अपने प्रखर पांडित्य और साथ ही भारत के नाम को भी गौरवान्वित किया।

तिव्वत में

किंवदंति है कि तिव्वत के नरेश अंतु के राजप्रासाद में दैवयोगात् कपर से एक ऐसी पेटी गिरी जिसमें ‘करण्ड-ब्यूहसूत्र’ की एक हस्त-लिखित पोथी, ‘ओं मणि पद्मे हुं’ एक लिखित मंत्र तथा स्वर्ण-चैत्य एवं चित्तामणि की एक मूर्ति विद्यमान थी। यह किंवदंती उत्तरी प्रामाणिक न भी हो; किंतु इस तथ्य को अस्वीकार नहों किया जा सकता कि धन्य देशों की भाँति तिव्वत में भी भारतीय पोथियाँ बहुत बड़ी संख्या में प्रवासित हुईं। अनेक वौद्ध-पर्यटकों और धर्म-प्रचारकों के साथ ऐसी असंख्य मूर्खवान् पोथियाँ भारत से तिव्वत को गईं, जो संप्रति भारत और संसार में कहीं भी अनुपलब्ध हैं। काल-कविति हो जाने के उपरांत आज भी ताइपन्न, भोजपन्न और मांडपन्न पर लिखी हुई पाँचवीं से दशवीं शताब्दी तक की सहस्रों पोथियाँ तिव्वत में पाई जाती हैं।

सन् ६१६ ई० में थौमी-संभोत नामक विद्वान् ने भारत में आकर प्राप्ति लिपि का ज्ञान प्राप्त किया और वह ‘व्याकरणभूल-त्रिशद-नाम’ तथा ‘व्याकरण-लिंगावतार’ नामक व्याकरण-ग्रंथों को अनूदित ग्रंथों सहित तिव्वत ले गया; जिनका परिचय समय-समय पर मिलता भारतीय पोथियों का प्रवास

रहा। १०१६ ई० में भपनी तित्परमंदारी के पाप सुश्रविद् अनुयादव घरमंपाल और १०४२ ई० में भगिनी गामत नारायण पंडित तित्पर गए और एही उन्होंने गंग-प्रयोग का वक्तव्य भद्रपाद दिया।

अनेक विद्यार्थी और दीट-घर्णानुयादी नरेशों में भारतीय विद्वाओं को तित्परत आवंग्रित दिया। ऐसे नरेशों में विनिमो-वाम या भास उस्तर है। इन विद्यानुयादी नरेशों से गंगहार पोधियों के अन्यदभाव्य प्रोत्पान और गामत में पंडितों द्वारा दुष्टादा। इन्हीं के राजदण्डां में चार में भास 'मुख्य-प्रभान-यूप' और 'वर्जनामर' वा तित्परी भास में अनुपाद हुआ। अनुपादक विद्वानों में एमटीए, पचमनी और विनिमित्र प्रसृति भारतीय भिष्ठभ्रों के नाम उल्लेख हैं। इसी समय गुप्तगिरि वंडित भगा-मोम ने तित्परती भासा में भाष्यक, उपेनिष और तंत्रविद्या गंगहत-प्रयोग का अनुयाद दिया।

नालंदा विश्वविद्यालय के अनुस्तरण पर लाला जे भग्वं नामक महाविद्वार की स्थापना दृष्टी उत्तेजय को स्तेन थी गई थी फि मराणा-पूर्वक भारतीय पोधियों पर्ही प्रथा थी। जो सकं और भारतीय वंडितों के सद्योग से उनके तित्परती भासा में अनुपाद दिए जा मरें। 'मह-स्युष्टिति' नामक मंस्तृत-तित्परती महाकोष के अनुयादक वद्यमंस्त्र और कमलद्वीप नामक विद्वान् सन् १८०४ ई० में भासा भाएँ और अनेक महाव्यपूर्ण पोधियों तित्परता दे गए। नागार्जुन, चंद्रधीरि, अन्धप्रोप, यरस्त्ति, रविगुप्त और कालिदाम प्रसृति भाष्यायो-महाकवियों की छुतियों तित्परत पर्हीची, जो एक दिन सफल तित्परता-अनुयाद के रूप में वहीं प्रचारित हुई। 'रामायण' और 'महाभारत' वी अनूदित पोधियों से वहीं की जन-प्रसृति भाष्याधिक प्रभावित हुई और अद्वितीय यन सका भारत से इस्तदिवित पोधियों तित्परत को प्रगामित होती गई।

इछ दी में महापंडित रातुल सोश्वरयादन ने अपनी तित्परत-भासा

के समय धर्म, दर्शन, च्याकरण और काष्ठं-विषयक अनेक भारतीय पोथियों को खोज निकाला। उन पोथियों में तेरहवीं शताब्दी की लिखी हुई भगवद्गत्कृत 'माघ-काव्य' की टीका 'तत्त्वकौमुदी' के अतिरिक्त घौढ़-दर्शन-विषयक आचार्य त्रुद्ध श्रीज्ञान (आठवीं शताब्दी) कृत 'अभिसमयालंकार' की टीका 'प्रज्ञाप्रदीपावली' और 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

‘कुनू-दे-लिंग महाविहार में रखी हुई कुछ ताङ्गपत्रीय पोथियों का भी राहुल जी ने पता लगाया। वहाँ उन्हें नैयायिक धर्मकीर्ति कृत 'वादान्य' पर नालंदा के आचार्य शांतरच्छित द्वारा लिखी हुई एक महस्वपूर्ण टीका उपलब्ध हुई। उस टीका-ग्रंथ का विस्तार लगभग २००० श्लोकों का था और लिपिकाल १० चीं शताब्दी। आचार्य धर्मकीर्ति का यह ग्रंथ आज केवल भोटिया-भाषा में लिखा हुआ मिलता है। इसका मूलरूप संस्कृत में था। उक्त विहार में ही प्राप्त अन्य दो पोथियाँ—‘अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता’ और ‘सद्धर्मपुंडरीक’ के विषय में राहुल जी का कहना है कि ‘प्रज्ञापारमिता महाराजा महीपालदेव गौडेश्वर (९७४-१०२६ ई०) के समय लिखी गई थी। इन दोनों पुस्तकों की काष्ठ-पटिकाओं पर सुंदर बहुरंगे चित्र बने हुए हैं।……… फुटकर पत्रों में तीन पत्र ऐसे भी मिले हैं जिनमें सिद्ध गोरखनाथ के पद हैं।’

आज भी तिब्बत के कान्जुर और तान्जुर नामक घौढ़-संग्रहों से विदित होता है कि भारत से कितनी अधिक पोथियाँ तिब्बत को प्रवासित हुईं।

ब्रिटेन में

भारत की जो अपरिमित साहित्य-संपत्ति ब्रिटेन को प्रवासित हुई भारतीय पोथियों का प्रवास

इससे भाज भी यहाँ के मंथालय और संप्रदाय मुश्तिमित हो रहे हैं। छन्दन-स्थित इंटिया आकिस, विटिश म्युजियम, प्रिनियाटिक स्टोर्स और कामनयेल्य दौसे किंवाल मंथालय भारतीय ज्ञान से उपोतित हो रहे हैं। अकेले कामनयेल्य के मंथालय में ४००० में अधिक अमृत भारतीय पोथिर्या मंगृहीत हैं, जिनकी भाषा हिंदी, संरक्षण, पाहि, भरवी, फारसी तथा तिन्धरी है और जो दर्तन, पर्स, संगीत, काल्प, नाटक, गणित आदि विषयों में वर्गीकृत हैं। यहाँ की छगमग १५० हिंदी की पोथिर्या ३०० वर्ष प्राचीन है। हिंदी दो पोथियों में पूलीराज रासो, दग्मीर रासो, कर्णीरयन्ननायष्टी, पद्मावत, रामचरितमानम्, झिप्रिया, रामचंद्रिका और यिहारी सरमदू की अनेक प्राचीन प्रतिर्या सुरक्षित हैं।

कामनयेल्य-उम्मतकाल्य में हस्तखिमित पोथियों को रखने की यहुत सुंदर व्यवस्था है। यहाँ पा संप्रद भी अद्वितीय है। मुख्सिद्ध दार्शनिक द्वाराशिकोह ने जिन भारतीय उपनिषदों का मन् १६२४ है० में अपने राज पंडितों के सद्योग से संरक्षत से फारसी में अनुयाद किया उस अनुवाद पा हिंदी-रूपीतर कामनयेल्य-उम्मतकाल्य में विद्यमान है। इसका हिंदी-अनुग्रह प्रदाद पंडित ने १७१८ वि० में किया था।

इसी प्रकार विटिश म्युजियम में भी अनेक नयनाभिराम अनुप्रदर्श पोथिर्या संग्रहीत हैं। सरकृत ज्ञादि सापाभों की पोथियों के अतिरिक्त वर्द्दी ६० हिंदी की पोथिर्या सुरक्षित हैं, जिनमें वस्त्रभाष्य का जीवन-चरित, लीलावती, वैद्यमनोरसव, कोकन्जरी, कोकसार-घिघि, संगीत-दर्पण और संगीत-रणनाकर ज्ञादि ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं।

इंटिया आकिस लाहौरे के प्रकाशित कैटलॉग को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय पोथियों का किसना महत्वपूर्ण संग्रह

वहाँ विद्यमान है। हिंदिया आफिस में पोथियों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण पुरातत्व-संबंधी ऐतिहासिक आलेख भी सुरक्षित हैं। इस मूल्यवान् सामग्री को लौटाकर भारत लाने के लिए भारत सरकार का पहिला प्रयास असफल ही रहा। हिंदिया आफिस की हिंदी-पोथियों में रामायण, योगवाशिष्ठ भाषा, रामविनोदवचनिका, उपनिषद्-नृसिंहतापनी, छांदोग्य उपनिषद्, २३ उपनिषद्-संग्रह, अध्यात्मरामायण, कवीरवचनावली और हरिदास के पदों का अद्वितीय संप्रह विद्यमान है। इसी प्रकार एशियाटिक सोसायटी में रखी हुई हिंदी-पोथियों में राठौर-बंशावली, शाहीनामा, सोभवंश की बंशावली, राजतरंगिणी तथा भागवत पुराण जैसी दुष्प्राप्य पोथियाँ संगृहीत हैं।

चीन, जापान, तिब्बत और शिटेन के अतिरिक्त अन्य देशों में भी भारतीय-पोथियाँ प्रवासित हुईं। अरब, फारस और तुर्किस्तान में भी पर्याप्त पोथियाँ पहुँचीं। अन्य देशों की भाँति यहाँ भी यह कार्य बौद्ध-मिथुओं द्वारा आरंभ हुआ। धार्मिक प्रकार के नाते घाहरी देशों से अनेक मिथु तथा पर्यटक भारत आए और ज्ञान-अर्जन के साथ-साथ पोथियों को भी अनिंत कर वे साथ लेते गए। ग्राही और खरोष्ठी लिपि में लिखित अनेक पोथियाँ मध्य एशिया में प्राप्त हुई हैं। 'धर्मपद' की जिस ताङ्पत्रीय पोथी को फ्रांसीसियों ने स्कोज निकाला था वह कुषाण-कालीन थी और उसका समय द्वितीय शतक था। इसी प्रकार तुर्किस्तान और खोतान में भी खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा में लिखी हुई अनेक पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं।

मिस्र, यूनान और ईराक के ध्यापारियों ने जब भारत की इस्त-लिखित पोथियाँ अपने देशवासियों को दिखाई तो उन्हें रत्नगर्भा भारत-भूमि की इस साहित्य-संपत्ति को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। श्याम, कंबोडिया और मलय आदि द्वीपों में भी भारतीय पोथियाँ पहुँचीं।

चीनी-यात्री ईरिंग के यात्रा-विवरणों से विदिन होता है कि लोकों के दृष्टिकोण, एक-दूसरे (सर्वजनिक) दृष्टिकोण; और धर्म (पौत्रों-तात्रों) संघर्षमार्ग (सेंग-फिक्स-नो-ओ) प्रभूति भिन्न-भिन्न द्वारा भी भारतीय पोधिर्यों को गढ़ा।

तिक्ष्णत और मंगोलिया से दो राष्ट्रों द्वारा दृष्टि-सदृश भास्ति पोधिर्यों प्राप्त हुई है। यात्रावी जाती जैसे विभिन्न चीनी-प्रिविटक भी उक्त सामग्री में सम्मिलित है। ८८ भागों का एक दूसरा संप्रदाय है, जिसमें तांत्रिक मंगों से भरे दृष्टि-सदृश शृङ्खला है। ८० से भी अधिक ऐरिहासिक पुरालेखों के भारतीय, लगभग १०० मंगोलिया के भित्तिचित्र तथा पत्थर, छोटे और काढ़ी यनों मूर्तियों इस संप्रदाय में विद्येय रूप से उद्घेतय हैं।

इस प्रकार आमूल धनुशीलन करने के पश्चात् विदिन होता है कि इसी पूर्व की कुछ शताब्दियों में लेकर आज तक भारत की यह अद्वितीय राष्ट्रीय संघर्षि क्षिति खड़े परिमाण में विदेशों को प्रयासित होती रही और उसके अभाव में इमारा साहित्यिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थान किस प्रसार गतिश्लद होता गया।

आज भी ऐसे मूल्यवान् प्रधारणों से भारत के सहयोगी घर भरपूर हैं। भाज भी दमारे मठ-मंदिरों, ग्रंथागारों और राजा-नहाराजाओं के सरस्वती-भंडारों में अपरिमित पोधिर्यों सुरक्षित हैं। पणासों संस्थाएं और हजारों एकांकि इस पेश में कार्य करने की कामना करते हुए भी अर्थमान और अन्य अनेक फठिनाहयों के कारण जागे नहीं पड़ पा रहे हैं। यह एक गंभीर विचार का विषय है कि अपने साहित्यिक पूर्व सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए राष्ट्रीय प्रकार और देश के विद्वानों का ध्यान इस दिशा में आकर्षित हो।

—०००—

इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय

भारत के प्रोजेक्ट वर्ल सांस्कृतिक अवधीन की जीवित साही उसकी विपुल ग्रन्थ-सम्पदा संसार के अनेक भागों में आज भी बिखरी पड़ी है। उसका यह अनुल ज्ञान-धन गत सहजों वर्षों से विदेशों को जांता रहा है। अमेरिका, जर्मनी और मध्य एशियाई देशों को भारत की प्राचीन पोथियाँ गयी ही, सबसे अधिक संख्या में वे चीन, जापान, तिब्बत और ब्रिटेन को गयीं।

लन्दन स्थित विटिश म्युजियम, एशियाटिक सोसाइटी, कॉमनवेल्थ ग्रन्थालय और इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय भारत के ज्ञानग्रन्थों से आज भी ज्योतित हैं और अंगरेजों के विद्या-म्यासन के ज़बलन्त प्रमाण इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय

है। हिम्, अरवी, मीरिया, चीनी, मंगूत, पांडि और हिन्दी मात्र हैं। लगभग ६०,००० हस्तालिग्राम पोशियाँ भुजिपल के शर्वाधिक महाराष्ट्र-पूर्ण आठवें विमान 'नॉर्थ लाइमेरी' में सुरक्षित हैं। रॉयल प्रिंजिसार्टिस सोमाहटी के शोध-संस्थान में महायपूर्ण मंगूत और हिन्दी की पोशियाँ संगृहीत हैं। अबेले फॉनमनपेश्य प्रन्थालय में ४००० से अधिक भूदयान भारतीय पोशियाँ रखी हैं। हस्तिया ऑफिस पुमाशालय छन्दन और ज्ञान-हेन्ड है जो भारत की महायात्रा सारणिक सामग्री में भरपूर है।

भारत में प्रवेश करने के याद ताशाल हाँ प्रिटिश शासनों ने एक ऐसे शृंखला ज्ञान-केन्द्र प्रन्थालय की आपशदका का अनुभव किया। जहाँ भारत की इस अतुल शोधकार्योपयोगी सादिगिर, सांस्कृतिक और देवितामिक सामग्री को एकत्र किया जाय। यदि सूस पटिले-वहल सुप्रमिद्द इतिहास रॉवर्ट ओरम के मस्तिष्क में जगी थी तो उस समय इंस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास टिक रहे थे। किन्तु इस दार्ये को सम्पूर्ण करने में वह विफल रहे। याद को धीरे-धीरे इंस्ट इण्डिया कम्पनी के 'समस्तदार' टाइटेक्टरों ने वहाँ की धनराजि के साथ-साथ इस अनमोल सम्पदा को भी इस्तगत करने का मूल्य समझा और उस ओर ध्यान दिया। सन् १७९९ में विजित टीपु सुल्तान के शृंखला योथोङाने से ग्राह २००० मूल्यान् इस्तालिग्राम प्रन्थरनों ने इन कार्यकर्ताओं के उरमाह को द्विगुणित कर दिया और फलस्वरूप उन्हीं प्रन्थों के शुभारम्भ से इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय का यीजारोपण हुआ।

फिर वो इंगलैण्ड से विशिष्ट विद्वानों को आमन्त्रित किया गया और उनके परामर्श से कम्पनी के एवं धारों ने भारतीय राज्य-सरकारों के नाम परिप्रे भेजकर वहाँ की साहित्यिक, सांस्कृतिक और पुरातात्व-विषयक सामग्री एकत्र कर छन्दन भेजना आरम्भ किया। वहाँ इस

सारे साहित्य को लेकर इण्डिया हाउस, लेडनहॉल स्ट्रीट में १८ फरवरी १८०१ को 'पब्लिक रिपौजिटरी' नाम से एक भव्य पुस्तकालय की स्थापना की गई और उसे प्राच्य विद्या-विद्यारद सर चार्ल्स विल्किन्स की अध्यक्षता में संचालित किया गया। इसके बाद कम्पनी के डाइरेक्टरों ने अपने पुरातत्व विद्वानों के निर्देशानुसार भारत से मूल्यवान् हस्तलिखित पोथियाँ और दूसरी सामग्री खोज-खोज कर लन्दन मँगायी और 'पब्लिक रिपौजिटरी' को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाया। उसीके अन्तर्गत एक मुजियम की भी स्थापना की गयी और उसमें भारत से प्राप्त कला-वस्तुओं को रखा गया। सन् १८५७ के राष्ट्र-विष्वव के बाद अरबी और फारसी भाषाओं की मुर्लभ कलापूर्ण पोथियों का वृहसंग्रह भारत से लन्दन प्रवासित हुआ। इन सचिव पोथियों और पुरातत्वसम्बन्धी आलेखों का मूल्य लाखों रुपया था।

राष्ट्र-विष्वव के बाद जय कम्पनी का शासन समाप्त हुआ और इण्डिया ऑफिस की नींव पढ़ी तय सन् १८६७ में इस 'पब्लिक रिपौजिटरी' का नाम 'इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी' कर दिया गया और उसे इण्डिया हाउस, लीडेनहॉल स्ट्रीट से हटाकर किंग चार्ल्स स्ट्रीट स्थित 'हाइट हॉल' में स्थानान्तरित कर दिया गया, जहाँ वह आज भी वर्तमान है। भारतीय सम्पत्ति होने के कारण भारतीय स्वाधीनता के बाद १९४७ ई० में 'इण्डियन इण्डिपेण्डेंट प्रेस्ट' के अनुसार उसका उत्तराधिकार 'सेक्रेटरी ऑव स्टेट फॉर कॉमनवेल्थ रिलेशन्स' को सौंप दिया गया। इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय की वर्तमान रूपरेखा को देखकर उसके महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय में सम्प्रति लगभग ढाई लाख पुस्तकें हैं। इनमें ७०,००० अँग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं की हैं, शेष

सब प्राच्य भाषाओं की हैं। इसके अतिरिक्त २०,००० मूल्यवान कला-कृतियों का एक पृथक् संग्रह है जहाँ संसार-दुर्लभ कृतियाँ सुरक्षित हैं। इण्डिया ऑफिस भारतीय-ज्ञान-विपणक विभ का सबसे बड़ा पुस्तकालय है। लगभग १५ भाषाओं के ग्रन्थ इस पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, जिनमें अधिकांश भारतीय भाषाओं से सम्बन्धित हैं।

बास्तव में, इस इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय की सारी महिमा और विशेषता उसके 'प्राच्य-विभाग' के ही कारण है। यह विभाग पौच्छ उप-विभागों में है—सुदृष्ट पुस्तकें, हस्तलिखित ग्रन्थ, चित्रकला, छायाचित्र (फोटो) और अन्य घस्तु।

प्राच्य-भाषाओं के सुदृष्ट-विभाग में लगभग १,४०,००० पुस्तकें सुरक्षित हैं, जिनकी मुख्य भाषायें बँगला, हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्राकृत, तमिल, उर्दू, मराठी, गुजराती, सैलगु, अरबी और पंजाबी हैं। किन्तु सबसे महत्व का विभाग हस्तलिखित ग्रन्थों का है। यूरोपीय भाषाओं की हस्तलिखित पोथियों के सेव में फॉक, क्रांसिस, लारेस, रेकिन्स और मेकेन्जी के लगभग ४० व्यवस्थित संग्रह उल्लेखनीय हैं। प्राच्य भाषा की हस्तलिखित पोथियों में अरबी, पर्सियन, संस्कृत, तिब्बती, खोतानी, बँगला, हिन्दी, गुजराती, मराठी, उडिया, पश्तो और उर्दू की पोथियाँ प्रमुख हैं। केवल संस्कृत, अरबी, पर्सियन और तिब्बती भाषाओं की पोथियों की संख्या १९,५०० है। उर्दू, मराठी, हिन्दी, गुजराती, पश्तो, उडिया और बँगला की पोथियों की संख्या लगभग १५० है। इसके अतिरिक्त चर्मा, मेसोपोटामिया, स्याम, ईरान-नेशिया, तुर्की और टर्की भाषाओं की पोथियाँ भी बहाँ संगृहीत हैं, जिनकी संख्या लगभग ४७५ है।

इस विभाग की हस्तलिखित पोथियों की कुछ वर्गीकृत विवरणात्मक

सूचियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं और कुछ प्रकाशनार्थ तैयार हैं। ऐसी प्रकाशित सूचियों में यूरोपीय भाषाओं की पोथियों के पाँच भाग, संस्कृत पोथियों के चार भाग, पर्सियन पोथियों के दो भाग और पालि, असमी, पहलवी, अखेस्ता, बङ्गला, मराठी, उडिया और उर्दू की पोथियों के भी सूचीपत्र प्रकाशित हो चुके हैं। राजस्थानी, तिव्यती और गुजराती प्रभृति भाषाओं की सूचियाँ प्रकाशनार्थ तैयार हैं।

इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय का तीसरा चित्रकला विभाग भी अपने ढंग का अपूर्व है। पर्सियन भाषा की हस्तलिखित पोथियों में लगभग २००० चित्र तत्कालीन कलाविदों की अमर लेखनी के अद्भुत नमूने हैं। इसी प्रकार भारतीय जीवन से सम्बन्धित पाश्चात्य कलाकारों के लगभग १५०० अनुपम चित्र इस विभाग के प्राचीन चित्रों के संग्रह मोनोक्रोम फोटोग्राफिक प्रिण्ट और कलर प्रिण्ट हन दो सीरीजों में निकल चुके हैं।

इसी प्रकार चौथे छायाचित्र या (फोटो) विभाग में भारतीय शिल्प, वास्तुकला और पुरातत्वविषयक लगभग २३०० निरेटिव प्लेट्स और लगभग ५०,००० विभिन्न चित्र संगृहीत हैं। सन् १९३९ में पुस्तकालय की संगृहीत उक्त प्लेटों के आधार पर अरेविक और पर्सियन शिलालेखों के आलेख प्रकाशित हो चुके हैं, जो पुरातत्वज्ञों के लिए अत्यन्त महस्वपूर्ण हैं।

पाँचवें रुट विभाग में ग्रामोफोन रेकॉर्ड तथा भारतीय कदाचित् चुनाहै के नमूने संगृहीत हैं। सुन्दरि पुस्तकों की अपेक्षा हस्तलिखित पोथियों को पुस्तकालय से निर्गत करने के लिए विशेष नियम हैं। ये पोथियाँ या तो विशिष्ट संस्थाओं के नाम निर्गत की जाती हैं या विश्वविद्यालय के पुस्तकालय ही उन्हें उधार ले सकते हैं। सामान्य इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय

सदस्य या पाठक उनका उपयोग पुस्तकालय में बैठ कर ही कर सकता है। यदि कोई अनुशीलनकर्ता किसी हस्तलिखित पोथी की अध्यवा उसके किसी भी चिन्ह की प्रतिलिपि चाहे तो उसकी सुविधा के लिए पुस्तकालय की ओर से माहफ़ोफिल्मिंग और फोटोसेटिंग की ज्यवस्था है।

इण्डिया ऑफिस पुस्तकालय की इतनी मूल्यवान् सामग्री का सारा परिचय पाकर सहज ही प्रश्न उठता है कि यह भारत की अनमोल सम्पदा अथ, भारतीय स्वसन्त्रता के बाद भी, वही क्यों अटकी है। ग्रिटेन के परराष्ट्रमण्डलीय सचिव लॉर्ड होम ने हाल ही में एक घटना दिया है, जिसमें उन्होंने इस पुस्तकालय पर ग्रिटेन के एकाधिकार की घोषणा की है। किन्तु सन् १९३५ के इण्डिया एक्ट की धारा २ संया १७२ के अनुसार सन् १८५८ में इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी का जो उच्चराधिकार 'ताज' के सुपुर्द कर दिया गया था, भारतीय स्वाधीनता अधिनियम सन् १९४६ के बाद वह समाप्त हो जाता है।

भारत और पाकिस्तान सरकारों के शिक्षामन्त्रियों के समय-समय पर प्रकाशित संयुक्त चक्रस्थों से यह सुविदित है कि इण्डिया ऑफिस की अधिकार-प्राप्ति के लिए दोनों देशों का स्वामित्व उसी प्रकार है जिस प्रकार कि धिटिश शासनकाल की सम्पूर्ण भारतीय सम्पत्ति पर।

प्रयास किया, उपःकाल से ही लेखन-कला का भी अम्युदय हुआ, किन्तु उस आदिम युग में लिखने के जो साधन थे वे आज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न और आज की दृष्टि से सर्वथा विचित्र थे। ये पोथियाँ श्रुति और कंठ में लिखी गई हैं। अर्थात् वे एक की बाणी से दूसरे की श्रुति तक और दूसरे की बाणी से तीसरे की श्रुति-स्मृति तक पहुँचती हैं।

सारा पुराना ज्ञान श्रुतजीवी एवं स्मृति-संरचित था। गुरु-शिष्य और वंश-परम्परा के क्रम से वह कण्ठस्थ रूप में सुरचित मौखिक ज्ञान ही श्रुति, स्मृति और पुराण आदि अनेक अभिधानों से कहा गया। ज्ञान-विचारणा की हस परम्परा का अम्युदय अरण्यों में अधिष्ठित कृष्ण-मुनियों के पवित्र आश्रमों से हुआ।

बल, विक्रम और आयु के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य की मेघा स्मृति में हास होता गया, ज्यों-ज्यों ज्ञान की विपुल परम्परा को सुरचित रखने और उसको भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने के उसके पुराने मार्घ्यमों में भी परिवर्त्तन हुआ। एक युग ऐसा था, जब कि ज्ञान को लिपि-बद्र करना धर्मानुगत नहीं समझा जाता था; किन्तु 'गागर में सागर की भाँति' सूत्रग्रन्थों के सूचम ज्ञान ने तत्कालीन विद्या-निकेतनों और अध्येताओं को ऐसी विकट स्थिति में ला पहुँचाया कि समग्र कण्ठाग्र ज्ञान को लिपिबद्र करने के लिये उन्हें विवश होना पड़ा। तभी से सारा मौखिक ज्ञान, सारी मौखिक विद्याएँ और सारे कण्ठाग्र शास्त्र पत्रों पर अर्थात् भोजपत्रों, ताइपत्रों या ताम्र-स्मृतिकापत्रों अथवा घृष्णद्वालों पर लिखे जाने लगे।

सम्प्रति हमें सर्वाधिक प्राचीन पोथियाँ भोजपत्रों और ताइपत्रों पर लिखी हुई मिलती हैं। ताइपत्र की पोथियाँ स्योलमुखी कलम या छौहन्लेखनी से लिखी जाती थीं। भोजपत्र पर लिखी हुई पोथियाँ,

तात्पत्र पर लिखी हुई पोथियों की अपेक्षा कम संख्या में उपलब्ध होती हैं। तात्पत्रीय और भोजपत्रीय पोथियों को लिखने के लिए बड़ी सूक्ष्म-वृक्ष पद्म साधना की आवश्यकता है। हन पोथियों के लेखक विद्वान् होने के साथ-साथ निपुण कलाकार भी होते थे।

आज अधिकांश पोथियाँ हमें माण्डपम अर्थात् देशी हाथ के बने कागज पर लिखी हुई मिलती हैं। यद्यपि चीन में कागज १०५६ई० में ही बनाना आरम्भ हो गया था, किन्तु वह निर्यात में दृतना कम था कि दूसरे देश बहुत समय तक उसके लाभ से बच्चित रहे। भारत में देशी, हाथ के कागज पर पोथियाँ, आज से लगभग दस-बारह सौ वर्ष पूर्व अर्थात् आठवीं-दसवीं शताब्दी ईसवी में लिखी जाने लगी थीं; फिर भी हस प्रकार की पोथियाँ हमें चौदहवीं शताब्दी से पाहेले की कम मिलती हैं।

अति प्राचीन काल से संरचित-संगृहीत भारत की यह विषुल ग्रंथ-सम्पदा धर्मद्वाहियों द्वारा अनेक बार विनष्ट किए जाने पर और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार से लेकर आंग्ल-शासन के अनियम दिनों तक सहस्रों की संख्या में देशों को प्रवासित होने पर भी आज हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारत के सभी अञ्चलों में अपरिमित संख्या में विवरी हुई है। हमें यह जानकर विस्मय होता है कि आज ऐसी भी अनेक पोथियाँ हमें चीन, जापान, जर्मनी और चिटेन प्रमृति देशों में सुरचित मिलती हैं, जो न तो जन्मभूमि भारत में और न अपनी मूल भाषा संस्कृत में ही हैं। संसार का ऐसा वृद्ध युस्तकालय कोई भी शेष नहीं है, जहाँ भारत के ये मूल्यवान् ग्रंथरक्ष सुरचित और अतिशय रूप में सम्मानित नहीं हो रहे हैं।

किन्तु, हस हृषि से यदि हम अपने देश की हस ज्ञान-याती के हस्तलिखित पोथियों का संरक्षण

सम्बन्ध में विचार करते हैं तो हमें निःसाहित और निराश ही होना पड़ता है। भारतीय साहित्य के शोध-संस्कार और वैज्ञानिक विधियों से परीक्षित उसकी जितनी भी दिशाएँ आज तक प्रकाश में आई हैं, उनको प्रकाशित करने का यहुत चबा थ्रेय विदेशी विद्वानों को ही दिया जाना चाहिये। इन मूल्यवान् पुरानी पोथियों और हुर्लंभ कलाकृतियों का पता लगाने में भी पाश्चात्य विद्वान् अधिक उत्सुक रहे हैं, और यद्यपि पाश्चात्यों की यह निष्ठा और उगन परिणाम में भारत के लिए उत्तरी शुभंकर नहीं रही है; फिर भी उनके ज्ञानानुराग, विद्याव्यसन और परिशीलन ने इस दिशा में हमें पर्याप्त प्रोत्साहित किया।

भारतीय साहित्य के परम अनुरागी जर्मनदेशीय वेदविद् विद्वान् मैक्समूलर ने अपनी मुस्तक 'भारत से हम क्या शिशा ले सकते हैं' में एक जगह कहा है कि 'सारे संसार में ज्ञानियों और पण्डितों का देश भारत ही एक मात्र ऐसा है जहाँ कि विपुल ज्ञान-सम्पदा इस्तरिखित पोथियों के रूप में सुरचित है।' मैक्समूलर भहोदय की यह वाणी पाश्चात्य विद्वानों को चरदान सिद्ध हुई और अद्य उत्साह से वे भारतीय ज्ञान की खोज में जुट गये।

संस्कृत के भर्मज्ञ विद्वान् हेनरी टामस कोलम्बुक (१७६५-१८३७ई०) ने अपनी स्तोत्रपूर्ण अभिरुचि के कारण १८०७ई० में एशियाटिक सोसाइटी आफ थंगाल का समापत्ति नियुक्त होते ही सहस्रों भारतीय पोथियों को नष्ट होने से बचाया। उनके द्वारा एकत्र और सम्प्रति हण्डिया आफिस लन्दन में सुरचित पोथियों पर उनके द्वारा लिसी हुई स्तोत्रपूर्ण विघरणिकायें बचे महस्व की हैं। इस महस्वपूर्ण कार्य के लिये उक्केले ही उन्होंने एक वृहत् निष्ठि व्यय करके इस दिशा में अपने अनुराग का परिचय दिया।

दा० चूलर (१८६७-१८९८ हू०) पेरिस, आक्सफर्ड और लन्दन आदि के वृहत् भारतीय पोथी-संग्रहों का अध्ययन-अनुशीलन करने के उपरान्त मैक्समूलर साहब की प्रेरणा से भारत आए और शिक्षा विभाग वर्षाई में नियुक्त होते ही सरकार की ओर से संस्कृत के पंडितों के हितार्थ सर्वप्रथम उन्होंने 'वर्षाई संस्कृत सीरीज' नामक ग्रंथमाला का प्रकाशन किया । उनके जीवन का सर्वाधिक महस्वपूर्ण भाग भारतीय हस्तलिखित पोथियों की खोज करते थीं । १८६६ हू० में सरकार की ओर से बंगाल, बंबई और मद्रास में शोध-संस्थान कायम हुए, और चूलर साहब को वर्षाई शाखा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया । उन्होंने अपने इस कार्यकाल में लगभग २३०० महस्वपूर्ण पोथियों को खोज निकाला जिनमें से आज कुछ पोथियाँ एलिफिस्टन कालेज के पुस्तकालय में, कुछ घर्लिन विश्वविद्यालय में और शेष हृडिया आफिस में सुरक्षित हैं ।

दा० घेवर (१८२५-१९०१ हू०) ने घर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत संस्कृत-पोथियों का एक वृहत् सूचीग्रन्थ तैयार किया तथा दा० चूलर द्वारा घर्लिन पुस्तकालय के लिए ग्रेडित ५०० जैन पोथियों का अनुशीलन करके, जैन-साहित्य पर अन्वेषणारम्भक प्रकाश ढाला ।

दा० आफ्रेवट ने कोलहानी, चूलर, पीटरसन, भांडारकर, घर्लेल, मेंकेजी, कोलब्रुक, गायकवाड़ और राधाकृष्ण प्रभृति विद्वानों द्वारा तैयार की गई खोज-रिपोर्टों के पोथी-संग्रहों को तीन भागों में विभक्त कर उसको 'कैटेलोगस कैटेलोगरम' (सूचीपत्रों का सूचीपत्र) नाम से प्रकाशित किया, जिसका संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण १९४९ हू० में मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष दा० सी० कुन्हन हस्तलिखित पोथियों का संरक्षण

राजा तथा उनके सहायक ढा० वी० राघवन के संपादकरण में 'प' अक्षर तक प्रकाशित हो सकता है। ढा० आफ्रेक्ट की प्रेरणा से आक्सफर्ड की घोड़लियन लाइब्रेरी, हैंडिया आफिस और घर्डिन के राजकीय पुस्तकालयों में संग्रहीत भारतीय पोधियों की विवरणिकाएँ भी प्रकाश में आईं।

अनेक भारतीय विद्वान् भी समय-समय पर इस दिशा में जागरूक हुए, और वह दिशा भी सर्वथा सूनी नहीं है, किन्तु जिस अद्यत्य साहस और अट्रट गति से कार्य होना चाहिए या, वैसा आज तक हुआ नहीं। पं० राधाकृष्ण जी, सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, म० म० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओद्धा, मिथ्यवंधु, ढा० काशीप्रसाद जायसवाल, ढा० श्यामसुन्दरदास, ढा० धीताम्बरदत्त घड़वाल प्रभृति विद्वानों के अथक यरन से सहस्रों पोधियों का उद्धार हुआ और वे प्रकाश में आईं। आज भी राहुल जी, ढा० वासुदेवशरण अग्रवाल, राय कृष्णदास, मुनि जिनविजय, श्री अगरचन्द्र नाहटा, ढा० रघुवीर, प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्री, ढा० सी० कुन्हन राजा, ढा० वी० राघवन, ढा० प्रबोधचन्द्र बागची, ढा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और विश्ववन्धु शास्त्री आदि विद्वान् पूर्व अनेक संस्थाएँ इस सेत्र में कार्य-रत हैं।

—००५००—

भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता

प्राचीनता की इटि से विश्व को आदिम दो भाषायें—आर्यभाषा और सेमेटिक भाषा—प्रचलित सभी भाषाओं की जननी हैं। यूरॅप की ग्रीक, लेटिन, फ्रैंच, इंग्लिश आदि जितनी भी भाषायें हैं, सभी का मूल स्रोत आर्यभाषा है। पूरब में भारत और ईरान, जिनकी भाषा संस्कृत और फारसी है, आर्य-संस्कृति से ही अनुप्राणित हैं।

आर्य कहा जानेवाला सम्पूर्ण मानव-समाज जब श्रेणियों में विभाजित होकर अपनी-अपनी सभ्यता को अर्जित करने में लग गया था, उसी समय के आसपास आयों का एक जल्दी मध्य-एशिया से आकर पंजाब में बस गया। भाषा-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता

वे लोग जिस आसुरी भाषा को बोलते थे, उसी से वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति हुई। इन लोगों ने सम्यता के उत्थान में, अपने जीवन-स्तर को सुसंस्कृत पूर्व उत्तर बनाने में विश्व की सभी विभाजित जातियों में अप्रगण्य स्थान प्राप्त किया।

केवल कहने मात्र से ही किसी भी सिद्धान्त पूर्व अभिप्रेत विषय की 'हृति' नहीं हो जाती। सत्य और मिथ्या में यद्या व्यवधान होता है। मिथ्या की अपेक्षा सत्य अधिक घलवान्, उष्ट पूर्व अनायास ही स्वीकार्य होता है। अतः असन्दिग्ध सत्य है कि उस समय जब कि इतर जातियाँ जंगलों में धूम-धूमकर अपने अभिप्रेत कार्यों को संकेतों द्वारा संपन्न करती थीं, हमारे पूर्वज आच्यारिमिक ज्ञान की गुणियों को सुलझाने में, भगवान् की अदृष्ट विभूतियों का वैदिक ऋचाओं द्वारा स्तवन करने में तथा अपनी गवेषणात्मक शुद्धि द्वारा नई शक्तियों के अनुसन्धान में निरत थे।

वेदों की तिथि

विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद संस्कृत भाषा का आदिग्रन्थ है। यह महर्षियों द्वारा उत्थारित, एवं उन्हीं द्वारा संपादित, विश्व के हृतिहास में खादि संस्कृति का सर्वस्व है। भावुकतावश कुछ लोगों ने वेद को अनादि एवं अपौरुषेय कहकर सहस्रों वर्ष पूर्व उसके निर्माण की कल्पना की है। तथा भी मित्रदेश के साहित्य से—जिसको अनेक योरोधीय विद्वानों ने विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है—वेदों का निर्माणकाल प्राचीन है। मित्रदेश का साहित्य विक्रम सं० पूर्व चार सवा चार हजार वर्ष का है, जब कि वेदों की तिथि आज से छाड हजार वर्ष पूर्व सिद्ध हो चुकी है।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता महापंडित मैक्समूलर ने यथापि वेदों की प्राचीनता विश्ववाद्यमय में स्वीकार करते हुए कहा कि संसार की किसी भाषा में हतना प्राचीन मन्त्र अभी तक नहीं पाया गया; फिर भी वैदिक साहित्य को चार काल—छन्दकाल, मंत्रकाल, वाक्यणकाल और सूत्रकाल—में विभक्त कर प्रत्येक काल की विकास-अवधि के लिए उन्होंने दो-दो सौ वर्ष निश्चित किया है और प्रगवेद की रचना १२०० ई० पू० मानी है; किन्तु भारतीय विद्वानों को यह मत पुष्ट नहीं प्रतीत हुआ। इधर ढाँ छाग वैदिक काल को २४०० से २००० ई० पू० मानते हैं और प्रत्येक काल को उसकी विकासावस्था के लिए पाँच-पाँच सौ वर्ष का समय देते हैं। हो सकता है कि आगे चलकर यही क्रम घटाया-घटाया भी जा सके क्योंकि दूसरा कोई पुष्ट आधार नहीं। फिर ऐसी दशा में कठिन हो जाता है कि किस मिद्दान्त को आधारित एवं प्रामाणिक मानकर उसको असन्दिग्ध समझा जाय ?

किन्तु लोकमान्य बालगंगाधर तिळक ने घड़े परिश्रम से वेदों का अनुसन्धान कार्य किया और प्रगवेद में वर्णित नष्टविद्या-सम्बन्धी उपलेखों के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि प्रगवेद का निर्माण काल ८ द्वाजार घर्ष ३० पू० हुआ है। चदनन्तर अन्य वेदों की रचना ३० पू० ई द्वाजार वर्ष तक मानी है। यह मत भारतीय विद्वानों को नान्य है।

प्रारंतिहासिक ग्रन्थ

भारत की प्रतिहासिक प्राचीनता के प्रमाणस्वरूप हाल ही में लीन महावर्षण आधार प्राप्त हुए हैं—मेसोपोटामिया का सन्धिपत्र, दूरप्ता और मोहेजोदारों की सुशाहरों से प्राप्त सामग्री। मेसोपोटामिया भारत की प्रतिहासिक प्राचीनता

से प्राप्त एक सन्धिपत्र, जिसमें भिल्ह और मेसोपोटामिया के राजाओं की सन्धिवार्ता का उल्लेख है, प्राचीनता की इसि से ₹० प० लगभग १६ सौ वर्ष प्राचीन है। इस सन्धिपत्र में इन्द्र, वरुण आदि वेदविहित देवताओं की वन्दना का उल्लेख है। यह बात स्मरणीय है कि इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की अर्घना का विधान केवल वैदिक काल में ही था। उपनिषद्काल में इन्द्र, वरुण के स्थान पर त्रिमूर्ति—प्रक्षा, विष्णु, महेश की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सदनन्तर सूत्रकाल और पुराणकाल में तो अवतारों की ही चर्चा पाई जाती है। अतः स्पष्ट है कि उच्च सन्धिपत्र उस समय लिखा गया होगा, जब कि ईश्वरभाव से न तो अवतारों की महत्त्व यी और न त्रिमूर्ति—प्रक्षा, विष्णु, महेश की पूजा का ही विधान था।

दूसरे और तीसरे आधार क्रमशः पंजाब और सिन्ध में स्थित हरप्पा और मोहेंजोदारो स्थानों से प्राप्त हुए हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर थी दयाराम साहनी ने सन् १९२१ में मिट्टिगुमरी जिले के हरप्पा स्थान से भिट्ठी के घर्तन, खिलौने, पालिश की हुई कुछ भिट्ठी की प्रतिमाएँ, जिन पर धूपम अंकित है—सिक्के, चाकू, झंगूठियाँ तथा कुछ मोहरें प्राप्त की हैं। इसी समय के आसपास बाबू राखालदास यनर्जी ने लखाना जिले में स्थित मोहेंजोदारो नामक स्थान से भी ऐसी ही महरपूर्ण सामग्री प्राप्त की। इस सामग्री के आधार पर पुरातत्त्व-विभाग के ढाईरेक्टर महाशय जॉन मार्शल ने उच्च दोनों स्थानों को प्रागैतिहासिक बताया और प्राप्त सामग्री को ₹० प० ४००० अयवा ५००० वर्ष प्राचीन सिद्ध किया।

इन महरपूर्ण खोजों से भारतीय सभ्यता की अनेक प्राचीनतम वातों का पता लगा। आजतक जहाँ भारतीय लेखनकला, खित्रकला

आदि की ग्राहणगति १०००० शतांशी तात्पारी का प्राप्तिकर्ता हो सकता था, यहीं भव ग्रन्थानुसार हो सकता है कि प्रारम्भिक ग्रन्थानुसार ८०००० शतांशी तात्पारी का ग्रन्थानुसार ८०००० शतांशी तात्पारी हो सकता था, जिसका ग्रन्थानुसार अन्येष्ट की इन शब्दानुसार में वर्णन है, जिसमें गाय के कानों में ब्राह्म वा भैरु शब्दानुसार ग्रन्थ का उल्लेख आया है।

ग्राहण काल

पेटों की अन्तर्गतिकालीन के अवधार तक ही व्याख्या है। विषय है। व्याख्या वा विषय तिन प्रत्येकी में गाया जाता है, वहाँ ग्राहण प्रत्येकी की मंजुरी ही है। इन ग्राहण प्रत्येकी की मात्रा चैट्टिङ एवं लैटिङ युग की सर्वप्राचीन भाषा है। ग्राहण प्रत्येकी के स्रोते भी जित विषय है—एवं ग्राहण, भारतवर्ष और उपनिषद्। विषये भाग में वज्र-साध-ग्रन्थी विषयों की भवित्वावर चर्चा है। इषु शता, शतियों की गायाओं का भी इसमें उल्लेख आया है। दूसरे भारतवर्ष ग्रन्थ ऐसे हैं, जो जन-कल्पना से दूर भरपरों में पढ़े पूर्वे वदांये गाये हैं। तैतिरीय भारतवर्ष पर भाष्य करते दूष प्राप्तिकार्य में लिखा है कि दृग्दा भारत्यक नाम दृष्टिये पदा ति भार्या वानप्रसादाद में अख्यों में राघव जीवन की शृंग समर्पाओं पर विचार करती है। इन प्रत्येकी में यज्ञों का भारत्यारिक सादाग्र वर्णित है। योनों ग्राहण प्रत्येकी में भेद गढ़ है ति दृष्टि प्राप्ति गो गाहं एव जीवन के विषय-कलाओं का प्रतिपादन करते हैं और भारत्यक ग्रन्थों में प्राप्तप्राची जीवन के विषयों की भी सांकेतिकता है। यीनरे ग्रन्थ उपनिषद् है, जिसमें ऐसल ग्राहयित्यामर्यन्ती सूष्मातिष्ठूष्म विषयों का प्रतिपादन है। चैट्टिङ-चाट्मप का अनिष्ट भाग दोनों में उपनिषद् ऐकान्ता भी अभिदिव होते हैं। उपनिषदों में ही सम्बन्धित दो अन्य ग्रन्थ भगवद्गीता भारत की ऐनिहासिक प्राचीनता

और ग्राहणसूत्र मिलकर 'प्रस्थानव्रयी' के नाम से उच्चारित होते हैं। ग्राहणों का रचनाकाल वि० पू० २५०० से १४०० तक माना गया है।

विषय की हाइ से सम्पूर्ण ग्राहण ग्रन्थों के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। स्वयं ग्राहणों और आरण्यकों में कर्म का ही विशेषतः विधान है। अतः ये कर्मकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उपनिषद् भारतीय ज्ञान के भण्डार हैं। अतः इनकी गणना ज्ञानकाण्ड के ही अन्तर्गत होती है। स्वयं ग्राहणों और आरण्यकों की संख्या लगभग ७० तथा उपनिषदों की संख्या २६० है। प्रसिद्ध उपनिषद् १२ हैं—ईशा, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौशीतकी और श्वेताश्वतर।

सूत्र काल

मंत्रसहिताओं की घ्याव्या का समय ग्राहणकाल से अभिहित होता है। ग्राहणकाल के अनन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। ग्राहणकाल श्रुतियों का काल रहा है। इस समय का सारा साहित्य केवल श्रुतिगम्य होने के कारण उत्पन्नित रूप में नहीं पाया जाता। स्मरणशक्ति के ही द्वारा उसका अध्ययन-अध्यापन पूर्व घ्यवहार होता था। सूत्रकाल तक यज्ञ-यागों का इतना याहुल्य हो गया था कि उसको स्मरणशक्ति के द्वारा सुरचित रखना कठिन था; फलस्वरूप इस परम्परागत संचित ज्ञान को अद्भुत रखने के उद्देश्य से सूत्र-ग्रन्थों का प्रययन हुआ। वेद-विषय को समझने के लिए जिन ग्रन्थों को निमित्त माना गया उनको वेदांग की संज्ञा दी गई। शिष्या, कल्प, घ्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, इन छः वेदांगों की सृष्टि हुई। सीन प्रकार के सूत्र रचे गए—गृह्णसूत्र, धर्मसूत्र और श्रौतसूत्र।

इसी समय राजा वेन और विशेषन ने भोगवाद को प्रचानता देकर सारी आध्यात्मिक ज्ञान-गरिमा को उपेक्षित कर दिया। इसी सिद्धान्त को लेकर आचार्य चार्वाक ने भोगवाद की विस्तृत मीमांसा कर अपना पृथक् मत ही प्रतिपादित कर दिया। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा में दार्शनिक सिद्धान्तों पर ऊहापोह हुआ। तदनन्तर महर्षि गौतम और महर्षि कणाद ने पुष्ट प्रमाणों के आधार न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन द्वारा ईश्वरवाद का प्रतिपादन किया। वाद में सांख्यदर्शन और योग-दर्शनों—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक की सुष्ठि हुई।

भाषा का परिष्कार

इसी समय भाषा को एक विशेष रूप दिए जाने की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया। ऋग्वेद और ऋग्वेद से पूर्व की भाषा आसुरी भाषा कहलाती थी। ब्राह्मणकाल की भाषा आसुरी से भिन्न एवं अधिक परिमाजित दशा में थी। तदनन्तर सूत्रकाल में व्याकरण ग्रन्थों की रचना होने के कारण भाषा नियमों से आदद्ध होकर सुसंस्कृत हो गई और उसको एक विशेष दशा में विकसित होने का मौका मिला।

ई० सन् ११-१२ सौ वर्ष पूर्व औदुम्बरायण, शाकटायन तथा गार्य आदि आचार्यों ने व्याकरण एवं निरुक्त ग्रन्थों की रचना कर भाषा को परिमाजित करने की दिशा में महस्वपूर्ण परिवर्तन किए। ई० सन् ७ सौ वर्ष पूर्व आचार्य यास्क ने निरुक्त की रचना कर भिन्न-भिन्न देशज शब्दों एवं व्यवहारोपयोगी शब्दों का निर्वचन किया।

तदनन्तर डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् महर्षि पाणिनि ने 'कष्टाध्यायी' की रचना कर भाषा को स्याकरण के नियमों से परिपूर्ति किया। पाणिनि के बाद तो स्याकरणग्रन्थों का मार्ग ही प्रशस्त हो गया। महर्षि पतंजलि का 'महाभाष्य' भी इस सेव्र का गण्य ग्रन्थ है।

यथापि ग्राम्यणकाल में त्रिमूर्ति—प्रह्ला, विष्णु, महेश के आराध्य के रूप में पूजे जाने का उल्लेख है; फिर भी उस समय गौणरूप से ही उनका अस्तित्व बना रहा। सूत्रकाल में आकर हम देखते हैं कि त्रिमूर्ति की अर्चना पर लोगों की पूर्णतः निष्ठा रही। इसके अतिरिक्त लेखनकला का भी इस काल में अच्छा आवर हुआ। आही लिपि को छोड़कर वेदविहित इतर लिपियाँ, जो नागरीलिपि की भाँति बाएँ से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं, अपनाई जाने लगीं। संस्कृत चाहूमय के सर्वप्रथम ग्रन्थत्रय—रामायण, महाभारत और मनुस्मृति—की रचना सूत्रकाल में ही हुई, यथापि इनका पूर्णरूपेण प्रचलन एवं उपयोग आगे चलकर स्मृतिकाल एवं पौराणिक-काल में ही हुआ।

इ० सन् ५०० वर्ष पूर्व महामा बुद्ध का आधिर्भाव हुआ। बुद्धकालीन सारा साहित्य दूसरी प्राकृत, जिसको पालि की संज्ञा दी गई, सूत्रकाल में ही रखा गया। सूत्रकालीन सारा साहित्य चि० पूर्व १४०० से ५०० वर्ष के बीच रखा गया।

पुराण काल

सूत्रकाल के अनन्तर स्मृतियों का समय और तदनन्तर पुराणों का युग आता है। पुराणों के सम्बन्ध में विद्वानों की बहुत समय सक प्रायः यही घारणा बनी रही कि उनके अन्दर कपोल-क्षणना के अतिरिक्त कोई तथ्य है ही नहीं। पाश्चात्य विद्वान् तो उस सारे

साहित्य को माझथोलाजी, अर्थात् प्राचीन दृन्तकथाओं का संग्रहमात्र समझते रहे हैं; किन्तु अब पर्याप्त ज्ञानधीन के अनन्तर पुराणों की प्राचीनता और उनकी ग्रामाणिकता पर विद्वानों की आस्था दृढ़ होती जा रही है। हो सकता है कि अत्युक्ति से वर्णित अनेक घटनाओं का ऐतिहासिक आधार तथ्यों से हीन हो; किन्तु सर्वपूर्ण पौराणिक साहित्य को एकदम ही कल्पित बता देना केवल थोथे विचारों का घोतक होगा।

मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण तथा ब्रह्मण्ड आदि पुराणों में वर्णित अनेक आख्यानों से पता चलता है कि पुराणों की रचना किसी उद्देश्य-विशेष को लेकर की गई थी। उक्त ग्रन्थों में पुराणों का लक्षण एवं पुराणों की कल्पना का आधार इस प्रकार वर्णित है:— १. सर्ग अर्थात् सृष्टि की आदिकथा, २. प्रतिसर्ग अर्थात् उसकी विकासावस्था, ३. वंश अर्थात् प्रलय के बाद सृष्टिरचना की आदि वंशावली, ४. मन्वन्तर अर्थात् चौदह मनुओं की राज्यस्थिति एवं उनका कालक्रम और ५. वंशानुचरित अर्थात् सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी राजाओं का वंशवर्णन। इन पाँच निर्देशों से पुराणों के रचे जाने का उद्देश्य जाना जा सकता है।

इस प्रकार सृष्टि के आदि से लेकर उसकी प्रलयावस्था की कहानी और वीच-धीच में लुस राजवंशों की सविस्तार सूची तथा सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी राजाओं की राज्यस्थिति का ऐतिहासिक वर्णन जिन पुराणों का अपना विषय है, वे क्या कोरी दृन्तकथाओं से भरे केवल कपोल-कल्पित कहे जाने योग्य होंगे?

पुराणों-उपपुराणों की संख्या कुल मिलाकर ३६ है, जिनमें १८ पुराण हैं और १८ उपपुराण। सृष्टि के अपरिहार्य तीन विशेषण सर्ग, स्थिति और विनाश के ऐतिहासिक ज्ञान को सुरक्षित रखने की विचारणा भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता

से लोमहर्षण सूत ने मैत्रेय, शिशुपायन और अकृतमण नामक तीन शिष्यों के सहयोग से चार संहिताओं की रचना की । पुराण संहिताओं का यह समय है० सन् १५ सौ वर्ष पूर्व का है । जैसे ब्राह्मणों ने धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं, वर्णाधर्म-धर्मों आदि का नियमन समृद्धि ग्रन्थों में किया, वैसे ही सूतों, मागधों और चारणों आदि ने समय-समय पर पौराणिक माहात्म्यों की रचना कर उनमें सृष्टि की कथा का सविस्तर वर्णन किया ।

प्रामाणिकता की दृष्टि से पुराणों का महत्व समय-समय पर प्राप्त शिलालेखों, मुद्राओं और विरोपतः विदेशियों के यात्रा-विवरणों से होता रहा है । महर्षियों के जीवन-भृत्य, उनके कार्यों का उल्लेख पुराणों के अतिरिक्त खोजने पर भी नहीं मिलेगा । भौगोलिक दृष्टि से भी पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है । अनेक तीयों और धर्मस्थानों का जैसा वर्णन पुराणों में मिलेगा, वह इतिहासकारों की दृष्टि में सर्वथा नहीं वस्तु है ।

समय-निर्धारण की दृष्टि से पुराणों की तिथि बहुत ग्राचीन है । यहाँ तक कि सूक्तग्रन्थों, उपनिषदों और इससे पूर्व संहिताओं में भी वीज रूप से पुराणों का शीण क्षम वर्तमान था । फिर भी शंकराचार्य, कुमारिलभट्ट तथा वाणभट्ट के ग्रन्थों में पुराण ग्रन्थों का जो उल्लेख आया है और आचार्य चाणक्य ने अपने धर्यशास्त्र में पुराणों के जो अनेक उद्धरण दिये हैं, इससे यह निपक्ष प्रमाणित है कि पुराणों का पूर्ण ग्रौदरूप है० सन् ६०० वर्ष पूर्व से आरंभ होकर लगातार गुप्तकाल तक अप्रतिहत गति से संपन्न होता रहा है ।

यूरॉप, अमेरिका तथा भारत में समय-समय पर सम्यता, धर्म और संस्कृति के अर्जन में जो नये अनुसन्धान हुए हैं, उनमें भारतीय

और यूरोपीय परिवारों की प्रागैतिहासिक ज्ञानगवेषणा में वैदिक चाहूमय का जो महत्वपूर्ण योग रहा है, वह विश्व के इतिहासकारों से अविदित नहीं। दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ज्ञान का ऐसा गहन और गंभीर उत्स, जिससे सारा विश्व अनुग्राणित होता रहा है, भारत की देन है। उपनिषदों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक जर्मन विद्वान् शोपेनहार का कहना है कि 'वे सुक्षे जीवन में शान्ति देते रहे और मृत्यु के समय भी शान्ति देंगे।'

अतः संसेप में यह है, भारत की ऐतिहासिक प्राचीनता और विश्व के सम्मुख उसका चास्तविक महर्व ।

—००५००—

महापुरुष मनु

हमारे प्राचीन भारतीयों में महापुरुष मनु का नाम ऐतिहासिक तिथिक्रम से भले ही परे की वस्तु समझी जाती हो; किन्तु भारतीय धार्मिक व्यवस्था को संपन्न करने और आर्य-संस्कृति को अनुप्राणित करने में मनु का नाम इतिहास की वस्तु धर्मशय थन गया है। धार्मिक व्यवस्था के नियन्ता के रूप में और आर्य-सम्यता को विश्व-सम्यता के समुख एक सुधरा, निखरा रूप प्रदर्शित करने में मनु का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। सदियों से चली आती संस्कृति की दीण रेखा को पुनरुज्जीवित करने और प्रशस्त नियमों द्वारा सामाजिक जीवन को सुनियंत्रित करने में मनु की शास्त्रीय दृष्टि विश्व के बहुत

क्रम महापुरुषों में लिखित होती है। धर्म-नियन्ता और आर्य-संस्कृति का ध्यास्याता मनु आज भी जातीय पुनरुत्थान को शाश्वत गति से स्फूर्ति प्रदान कर रहा है। युगान्तव्यापी जीवन की सुधरी प्रतिच्छाया और मानवीय इतिहास के अंतीत रूप को आज की तिथियों में और सुदूर भविष्य तक अप्रतिहित गति से अद्भुण करने का श्रेय हमारे आदि पुरुष मनु को ही है।

मनु का विराट् स्वरूप

आर्य-संस्कृति के प्राणभूत मनु का नाम वेदों से लेकर पुराण और इतिहास की पंक्तियों में सर्वत्र विखरा हुआ है। अनुश्रुतियों के वाक्य इस धात के प्रमाण हैं कि मानवीय सम्यता के अस्युदय में ऐतिहासिक पुरुष मनु की ख्याति युग-युगान्तर तक अमर रहेगी। हो सकता है कि गाथाओं में, पौराणिक आख्यानों में भावावेश के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से अतिरंजना भी हो गई हो; किन्तु सत्य के साक्षात्कार से विमुख नहीं हुआ जा सकता। अतः मनु को ऐतिहासिक पुरुष न मानने का कोई प्रयोजन हमारे सामने नहीं उठता है। अपितु मनु के विराट् रूप पर जब ध्यान जाता है तो बवेठ, सुमेठ और मिथ तक के इतिहास से भी आंति होने लगती है। उक्त तीनों देशों का इतिहास वहाँ के मानवीय जीवन का जिस क्रम से आरंभिक अस्युदय चलता है उसी के ठीक अनुरूप हमारा अंतिम मन्वन्तर भी चलता है। अनेक घटनाक्रम भी मिलते-जुलते हैं। अतः संदेह होता है कि बीज रूप में विराट् मानवीय सृष्टि का स्थापना एक ही पुरुष-पुरातन तो नहीं था, जो कि विविध नामरूपों से उद्दित होकर बवेठ और सुमेठ के इतिहास में तो जलप्रलय के बाद सृष्टि संस्थापना में 'नुह' के नाम से अभिहित हुआ, प्राचीन क्रोट-द्वीप में आदि सम्राट् के रूप में

‘मिनोस’-संज्ञावान् द्वना, तथा भारत में वैवस्वत मन्वन्तर के प्रतिष्ठापक विश्राट् चैतन्य के रूप में, ‘मनु’ के नाम से पूजा गया !

मन्वन्तर

चैदिक घाण्डमय में मनु के नाम से १४ मनुओं के साथ १४ मन्वन्तरों का उल्लेख है; किन्तु इतिहास की दृष्टि से सात मन्वन्तरों का ही योग ढीक दैटा है। प्रथम मन्वन्तर स्वायंभू मनु से प्रारंभ होता है और अन्तिम मन्वन्तर वैवस्वत मनु तक चलता है। विश्व-इतिहास की प्रधान घटना जलप्लावन के घाद सृष्टि का सूत्रपात सूर्णी वैवस्वत मनु द्वारा मानते हैं। इच्छाकुर्वशीय आदि सग्राट् जिस मनु का अनुध्युतियों में उल्लेख आता है वह यही वैवस्वत मनु है। शतपथ ग्राहण से लेकर भागवत और छान्दोग्योपनिषद् में जिस पुरुष-पुरातन का वर्णन है वही वैवस्वत मनु प्रजापति के नाम से प्रख्यात है। राम, कृष्ण और शुद्ध इसी वंश-वृक्ष की शास्त्रायें हैं। रघुवंश में कालिदास ने जिस शासन व्यवस्था का वर्णन किया है उसका मेरु मनु की व्यवस्था पर आधारित है। यहाँ तक कि रघुवंश में मनु को शासन और नीति का प्रतीक ही मान लिया गया है। श्रीकृष्ण ने गीता में इत्यं कहा है कि राजर्पियों द्वारा जिस प्रज्ञायोग का विधान घण्ठित है वह वैवस्वत मनु से ही अनुप्राणित एवं दृष्ट हुआ है। भारतीय इतिहास में साम्राज्य का सूत्रपात पहले-पहले वैधस्वत मनु द्वारा ही हुआ।

जिस अन्तिम मन्वन्तर का यहाँ उल्लेख हो रहा है उससे पूर्व प्रागैतिहासिक सात मनुओं का नाम आता है। पौराणिक खोजों से पता चलता है कि अंतिम वैवस्वत मन्वन्तर को छोड़कर शेष छह मन्वन्तर

स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चान्द्रप पूर्वापर क्रम से सृष्टि-संस्थापना में समर्थ होते रहे हैं। पुराणों में वर्णित इन मन्वन्तरों का व्यवस्था-काल लाखों वर्षों का दिया हुआ है, जिसके आधार पर इनकी निश्चित तिथि का पता लगाना कठिन है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि हमारे पूर्वजों की और हमारी आयु में अन्तर अवश्य आ गया है। वे लोग हमारी अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी, एवं शारीरिक मापदंड से भी लग्भे-चौड़े थे। सत्ययुग में मानव-शरीर हस्त-परिमाण से २१ हाथ, त्रेता में १४ हाथ, द्वापर में ७ हाथ और आज कल कलियुग में ३॥ हाथ रह गया है। अतः उन प्र-पूर्वजों का भोगकाल भी स्वभावतः लम्बा होना चाहिये।

स्थिति-काल

मन्त्र-संहिताओं की अंतिम कुछ श्रव्याओं में स्वायम्भू मनु का उल्लेख आया है। विद्वानों की सम्मति में ऋग्वेद का समय आज से ८००० वर्ष पूर्व निश्चित हो चुका है। ऋग्वेद संहिता के १००० वर्ष बाद भन्य तीन संहिताओं का समय आता है। अतः ऋग्वेद संहिता के अनन्तर और इतर तीन संहिताओं के पूर्व, स्वायम्भू मनु का समय आता है। पुराणों की धारणा है कि प्रथम स्वायम्भू मन्वन्तर २९ पीढ़ियों तक विना व्यतिक्रम से राज्य-व्यवस्था चलाता रहा और उक्त २९ पीढ़ियां ७२५ वर्ष के अन्तर्गत आती हैं। यदि मन्त्रसंहिताओं और पुराणों के उक्त उल्लेखों को आधारित समझा जाय तो स्वायम्भू मन्वन्तर ईस्वी के ६००० वर्ष के कुछ पूर्व से आरंभ होकर ई० पूर्व ५६०० या ५२०० वर्ष के बीच बैठता है।

वेदों की कुछ श्रव्याओं में वेदर्पि के नाम से दो ही मनुओं—स्वायं-भुव और वैवस्वत—का उल्लेख मिलता है। यह भी निश्चित हो चुका महापुरुष मनुः

है कि हमारा वर्तमान मन्वन्तर, जिसके अधिष्ठाता वैवस्वत मनु हैं, ई० पू० ३८०० वर्ष से आरंभ होता है। इस प्रकार शेष पांच मन्वन्तरों के लिये कुल १५०० का समय बचता है। इतिहास की इष्ट से यही गणना समुचित जान पड़ती है।

वैवस्वत मन्वन्तर की प्रामाणिकता में एक दूसरी गणना भी उद्घृत की जा सकती है। महाराजा युधिष्ठिर, महाराजा रामचन्द्र की २९ थी पीढ़ी, अर्थात् लगभग ७०० वर्ष पीछे हुए। महाराजा रामचन्द्र का राज्यकाल वैवस्वत मन्वन्तर से १६०० वर्ष पश्चात् आता है। इस प्रकार भी वैवस्वत मनु का समय ई० के ४००० वर्ष पूर्व ही आता है और उधर वैवस्वत मन्वन्तर से २००० वर्ष पूर्व अर्थात् आज से ८००० वर्ष पूर्व वेदों की रिधि भी उपयुक्त बैठती है।

मनुस्मृति

जर्मन विद्वान् निक्सो ने बाह्यविल और मनुस्मृति की तुलना में अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'मनुस्मृति' की रचना में मनु ने जिस विवेक दुदि का परिचय दिया है वह बाह्यविल की अपेक्षा कहीं चढ़कर है।'

अनेक विद्वानों की राय है कि मनुस्मृति का असली रूप आजकल पाये जाने वाले रूप से भिन्न था। तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी आदि संहिताओं में मनुविहित धर्मशास्त्र का उल्लेख हुआ है और उसकी प्रशंसा में यहाँ तक कहा है कि 'मनु के वचनास्त्र औषधि के समान गुणकारी हैं।' इससे पता चलता है कि मनु ने धर्मशास्त्र का प्रणयन बहुत पहिले कर लिया था। विद्वानों की गवेषणाओं से पता चलता है कि मनुविहित मनुस्मृति का असली रूप मानव धर्मसूत्र के रूप में हुआ था जिसका संबंध कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से था।

मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप बारह आचार्यों में विभक्त है। आश्रोपान्त अनुष्टुप् छन्द की रचना है। धर्म-जिज्ञासु ऋषिवरों की प्रेरणा से मनु ने लोक-कल्याणार्थ समय-समय पर जिन प्रवचनों की पुण्य सृष्टि की उन्हीं का सङ्कलनमात्र मनुस्मृति है। कुछ समयानन्तर प्रवचन का उक्त कार्य अपने योग्य श्रृगु को सौंपकर महर्षि मनु एकान्त जीवन की स्थोर में अन्तर्धर्म हो गये और शेष कार्य संपन्न करने में ऋषिवर श्रृगु लोक के नाम धर्म का संदेश देने में निरत हो गये। वास्तव में मनुस्मृति श्रृगुवंशीय आचार्यों की लोकोपकारी गवेषणा का ही फल है। अशेष जीवन की व्याख्या पूर्व उसके नाना रूपों की सर्वज्ञता मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चार पुरुषार्थ, सोलह संस्कार, पञ्च महायज्ञ, चार आधम, चतुर्वर्ण और कर्तव्यव्रय, इन्हीं की सीमांसा मनुस्मृति में की गई है। और इससे अद्वृता कोई भी सामाजिक कर्तव्य शेष नहीं, जिसका उल्लेख इनमें न हुआ हो। संपूर्ण जीवन का ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस, दोनों की सिद्धि मनुधर्म के पारायण से प्राप्त हो जाती है।

व्यापकता और ख्याति

स्मृतिग्रन्थों में धर्म शब्द से उस व्यापकता का वोध होता है, जिसके अन्तर्गत अंग्रेजी के रिलिजन और ला, दोनों का समावेश हो जाता है। धर्मशास्त्रों में धार्मिक नियमों के अतिरिक्त राजनीतिक और सामाजिक नियमों का भी विधान है। अंग्रेजी के 'रिलिजन' शब्द से केवल धर्म का ही वोध होता है तो 'ला' शब्द से केवल राजनीतिक एवं सामाजिक नियमों पर धृष्टि जाती है; किन्तु एक ही धर्म के अन्तर्गत उक्त दोनों 'रिलिजन' और 'ला' आ जाते हैं। धर्मग्रन्थों की रचना बहुत महापुरुष मनुः

प्राचीन काल से ही होने लगती थी। मनुस्मृति से पहुंच समय पूर्व आपस्तम्य और धौधायन सूत्रों की रचना हो सकी थी। दग्धभग इसी समय के समीप गौतम और वशिष्ठ सूत्रों का भी निर्माण हो सका था। मनुस्मृति पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गयीं, जिनमें मदम शतान्द्री की मेधातिथि की और ग्याराहीं शतान्द्री की गोविन्दराज की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं।

मनुस्मृति अपने पूर्ववर्ती सभी धर्मप्रणयों का निपोद है। सम्मान, खाति और प्रचार की इसी से, आज सक के दग्धभग सभी धर्मप्रणय मनुस्मृति के पीछे हो जाते हैं। यमा, जाया, याणी और फिलिपाइन, जिस एक ही देश में छः सौ द्वीप हैं, मनुविदित धर्म-स्थापना का प्रचार था। सन् १९६० में प्रकाशित 'फिलिपाइन और भारत' नामक पुस्तक में दा० राय का कहना है कि 'यहाँ की राजसभाओं में कानूनों के आदि निर्माता के रूप में मनु के चित्र लगे हुये हैं।' जाया और योर्नियो में भी कुछ दिन पूर्व हिन्दू राजाओं का राज्य रहा है। रपेन के अधिकार से पूर्व यहाँ मनु की शासन-स्थापना का ही प्रचार था। कम्योडिया के पश्चिम में याईलैंड, जिसका प्राचीन नाम द्वारावती भी था, हिन्दू-धर्म का प्रधान केन्द्र रहा है। दा० ग्राहम ने अपनी पुस्तक 'श्याम' में लिखा है कि 'यारहन्तेरह वर्ष के घालकों का शिखासुण्डन-संस्कार हिन्दुओं के उपनयन संस्कार के ठीक अनुरूप है। मुसलमान तक भी इस संस्कार से उपनीत होते हैं।' अमेरिका में तो हिन्दू-संस्कृति का बड़ा आदर रहा है। माया, इन्का और भास्तिक जाति की शिष्य-प्रणाली श्रष्टिकुल शिष्य-प्रणाली से मिलती है। अन्येष्टि-संस्कार, जन्मोरसव, विवाह-संस्कार, प्रसूतिका-गृह में अप्ति-स्थापन आदि विधियाँ हिन्दू-संस्कारों से पर्याप्त साम्य रखती हैं। श्री चमन-लाल ने अपनी 'हिन्दू-अमेरिका' पुस्तक में लिखा है कि 'हो सकता है

अमेरिका भी अन्य देशों की भाँति प्राचीन समय में हिन्दुओं का ही एक उपनिवेश रहा हो और ईसाई धर्म के व्यापक होने से पूर्व वहाँ हिन्दू-संस्कृति का ही प्रचार रहा हो ।

स्मृतिकार मनु ने आज से हजारों वर्ष पूर्व विश्व को एक जुनौती दी थी कि वह भारत के तपःपूत ऋषियों के आचार-विचार से कुछ शिक्षा अवश्य ले । वास्तव में मनु की यह धारणा विश्व के संबंध में, मानवता के संबंध में, आदर्श कही जा सकती है । हिन्दुओं की प्राचीन शासन-व्यवस्था, राज्य-नियम और न्याय-पद्धति को महत्ता देते हुये महाशय लूहू जेकोलियट ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान की बाहुबिल' में महर्षि मनु की उक्त लोकोपकारी चाणी का समर्थन करते हुये लिखा है कि 'मनुस्मृति वह नीव है जिसपर मिट्ठी, झरानी, यूनानी और रोमन के न्याय और नियमों का अव्य प्राप्ताद खड़ा है । यूरोप की आधुनिक न्याय-भावना पर मनु का विशेष प्रभाव लिखित होता है ।'

स्पष्ट है कि मानवता के पुनरुत्थान में महापुरुष मनु ने जिस शाश्वत गति से रक्षित प्रदान की है वह भारतीय इतिहास में और विश्व के इतिहास में युग-युगान्तर तक अमर रहेगी ।

विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ

गंभीर मनन और एकाग्र चिन्तन करने के उपरान्त ज्ञात होता है कि विश्व के महाप्राण मनस्त्वयों में समान रूपसे जिस अन्तःप्रेरणा के दर्शन होते हैं, वह है उनका सत्यानुभव एवं उनकी सौन्दर्यानुभूति; जिससे प्रेरित होकर उन्होंने मानवता की तह में तिरोभूत शाश्वत सत्य और व्यापक सौन्दर्य को अपनी कलाभिलापा का चिरन्तन विषय बनाया। सत्य और सौन्दर्य की इसी अनवरत आकांक्षा ने कला को जन्म दिया। महीं कारण है कि विभिन्न देश-काल में अवतरित हमारे असामान्य प्रतिभासंपद महाकाव्यों में एक ही अन्तःप्रेरणा के दर्शन होते हैं। वाल्मीकि, वेदव्यास, होमर और मिष्टन विश्व-साहित्य की ऐसी ही अमर

विभूतियाँ हैं, जिनके महामानसे सौन्दर्य और सत्य की पुकान्त जिज्ञासा के फलस्वरूप एक ही भावधारा में तरंगायित हैं। शताब्दियों के सुदीर्घ व्यवधान के बावजूद भी आज हम उनकी कृतियों में एक ही अंतः प्रेरणाके दर्शन पाते हैं।

वाल्मीकि.

भारतीय धार्म में महर्षि वाल्मीकि की स्वरूप-कल्पना वडे पूज्य भाव से की जाती है। वाल्मीकि भारत के ही आदिकवि नहीं, अपितु विश्व के कान्याकाश में उनका खोजस्वी प्रकाश सर्वत्र देवीप्यभान है। उनकी व्यापक आनुभूति ने साहित्य में जिन नयी प्रवृत्तियों का सूचनपात किया, चतुर्दिक वडे पूज्यभाव से उनका स्वागत किया गया। सांसारिक स्वार्थलिप्साभों से सर्वथा दूर अरण्यों में जीवन विताने वाले भारतीय मनस्वियों के तपःपूत अन्तःकरण प्राणिमात्र की कल्याण-कामना से आत्मर थे। हसीलिये उनकी कला एकदेशीय न होकर उसमें प्राणिमात्र की आधा आप्यायित है। महाकवि का हृदय जिस महावेदना से एक दिन आन्दोलित हुआ था, वह थी क्रौंच-मिथुन की असद्य विरह व्याकुलता, जिसे निष्ठुर व्याध ने विफल कर दिया था। कवि-हृदय की उसी चिरंतन 'आह' ने ही कविता को जन्म दिया।

'रामायण' महाकाव्य महाकवि वाल्मीकि का ही नहीं, अपितु वह विश्व-साहित्य का अमर स्मारक है। महापुरुष राम के विराट् स्वरूप में सत्य और सौन्दर्य की ऐसी लोकोत्तर अवतारणा महर्षि की सधी लेखनी ही कर सकने में समर्थ हुई है। जीवन की सुगम और दुर्गम भावानुभूति का साक्षात्कार 'रामायण' के शब्द-स्वरूपों से किया जा सकता है। आदि कवि की यह भावानुभूति राम की दैहिक विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ

चित्तवृत्तियों में फूट कर उस महाप्रयाण की ओर अप्रसर है, जिसकी पक्षान्त विधानित आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में निहित है।

वेदव्यास

वेदव्यास भारतीय कथा-साहित्य का आदि प्रणेता हैं। व्यापक कथा-साहित्य की प्रकृति यशस्वी कलाकार वेदव्यास की वाणी में अन्तर्निहित है। मानवीय जीवन के विराट् स्वरूप की कल्पना और मानसिक चित्तवृत्तियों का वैचित्र्य कथाकार व्यास की बृहस्पत्याख्यों में विखरा हुआ है। भगवान् वेदव्यास का भस्मामान्य व्यक्तित्व विश्व के विचारकों के लिये आदि काल से ही एक महान् प्रेरणा का विषय बना रहा। व्यास की वाणी ने यावजीवन सरयान्वेषण और सौन्दर्यों-पासन में ही अपनी हऱ्यता समझी। लोक-भावना पृथ्वे जातीय संस्कारों की अभिरुचियाँ व्यास की विचार-धारा में साकार हो गयी हैं।

‘महाभारत’ महाकाव्यकार व्यास की वह अमर कृति है, जिसकी गणना विश्व के उन महाकाव्यों की कोटि में की जाती है, जिनकी जटिल सृष्टि कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म और पाप-पुण्य की विचारणा में एकाग्र है। इस विश्व-विश्वुत महाकाव्य की तह में मानवीय जीवन के कुछ पैर अहंमन्यताएँ भी सञ्चिहित हैं और उन पर विजय प्राप्त करने के उपाय भी। दैहिक और दैविक जीवन का ऐसा सुन्दर समन्वय यदि किसी दूसरे काव्य में देखने को मिलता है, तो ग्रीस के अमर काव्य ‘इलियड’ में। ‘महाभारत’ और ‘इलियड’ ऐसे रक्खार हैं, जिनमें जीवन की समग्र शक्तियों को घटोर कर पिरो दिया गया है। इस महाकाव्यद्वय में देश-काल की अस्थिक धूरी के होने पर भी विचारों का इधना तारतम्य विस्मयोत्पादक है। वेदव्यास और होमर की कला में सत्य और सौन्दर्य का उभयविध स्वरूप समन्वित है।

‘इलियड’ महाकाव्य के रचयिता महाकवि होमर ‘युग-युगान्तर तक हमारी साहित्यिक चेतनाओं को स्फूर्ति प्रदान करता रहेगा। उसकी वाणी में मन को वशीभूत कर देने वाली विचित्र संमोहकता है। होमर सृष्टि-सौन्दर्य का पिपासु है। उसकी इसी अद्भुत विशेषता और पारदर्शी कल्पना ने ही उसको विश्व के अमर कलाकारों की कोटि में लाकर स्थान कर दिया है। उसकी कला में जीवन का निष्पन्न है और है काव्य-पिपासुओं को सन्तुष्ट कर देने की असाधारण रसिकता। उसके महाकाव्य-द्वय ‘ओडसी’ तथा ‘इलियड’ उस व्यापक भावुकता के घोतक हैं, जीवन भर जिसकी निःश्रेयस सिद्धि के लिये उसने घोर साधना की। दोनों के कथानक ऐतिहासिक हैं एवं शैली प्रतीकात्मक; किन्तु उनके मूल में एक ही प्रेम तत्त्व की प्रधानता है। यूनान की ख्यातनामा सुन्दरियाँ पेनीलोप और हेलन सौन्दर्य और प्रेम की साक्षात् मूर्तियाँ हैं। विश्व को वशीभूत कर देने वाली होमर की इन रूपसी नायिकाओं के चरित्रों में एक अद्भुत समोहकता है। लोक-जीवन का स्पर्श करने वाली होमर की उपमाएँ भी काव्य-सौन्दर्य के सर्वथा अनुरूप उत्तरी हैं। उसने अपनी बन्द आँखों से पार्थिव तथा अपार्थिव जगत का वास्तविक अनुभव किया है।

‘इलियड’ महाकाव्य का कथानक ग्रीक का द्वोजन युद्ध इतिहास की अविस्मरणीय घटना है, जैसे ‘महाभारत’ का कुरुक्षेत्र। शक्तिशाली द्राय नरेश के राजकुमार ने स्पार्टा के स्वामी मेनीलास की परम सुन्दरी पक्षी हेलन का उसी भाँति अपहरण किया जैसे साध्वी सीता का हठघर्मी रावण ने और देवी द्वौपदी का चीरहरण कुत्सित हुःसाशन ने। द्वोजन युद्ध में, देवताओं ने अवतरित होकर वैसे ही मेनीलास की विश्व-साहित्य की अमर विभूतियाँ

सहायता की, जैसे राम पक्ष की वानर सेना ने और पाण्डव पक्ष की श्रीकृष्ण ने। सीता, द्रौपदी और हेलन की करुणा का तीनों महाकवियों ने समान रूप से हृदयग्राही चित्रण किया है। राम, पाण्डव और मेनीलास का विराट् पौरुष चित्रित करना ही इस काव्यत्रयी का विषय है।

मिल्टन

सोलहवीं शताब्दि की क्रान्ति यूरोप के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इस शताब्दी में नवीन का प्राचीन से, तर्क का विश्वास से और विज्ञान का काव्य से जो देशम्भाषी द्वन्द्व छिपा हुआ था, मिल्टन की कला पर समान रूप से उसका प्रभाव पड़ा। 'कोमसा' नामक नाटक में इसी द्वन्द्व की छाया सर्वंत्र प्रतिविभित है। 'पैराडाइज लास्ट' मिल्टन की अमर कृति है। इसमें दिखाया गया है कि आदम और ईव की प्रणयकहानी मानवीय जीवन की आदि कहानी है। सर्वेशी शैतान पाप का प्रतीक है, जो कि आदम और हौंसा का प्रेममय दाम्पत्य विनष्ट करने पर तुला है। किन्तु अन्त में विजय प्रणय की ही दिखाई गयी है।

महाकवि मिल्टन ने अपने छृद पर्वं निराश जीवन की नेत्रहीन दशा में हृदय की ज्योति को प्रज्वलित कर तोन महाकाव्यों को रचना की—पैराडाइज रीजेंड, सेमसन एगनिस्टीज और पैराडाइज लास्ट। 'पैराडाइज लास्ट' मिल्टन की सर्वोक्तुष्ट रचना है, जिसकी गणना विश्व-विश्रुत महाकाव्यों की कोटि में की गयी है। प्रणय और सौन्दर्य की ऐसी लोकोक्तर अवतारणा विश्व के हने-गिने काव्यों में ही हो सकी है। मिल्टन ने अपनी स्फुट रचनाओं में मुक्तक छन्दों का आश्रय लिया है। गीतिकाव्य के खेत्र में ऐसी रचनाएँ अनुपम बन पड़ी हैं। संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास ने जिस योग्यता से गीतिकाव्यों की

रचना की है, मिल्टन के छन्दों में भी वह अद्भुत शालीनता-विद्यमान है।

इस प्रकार वास्मीकि, व्यास, होमर और मिल्टन ऐसे सुदृढ़ स्तम्भ हैं, जिन पर विश्व-वाह्य का विशाल भवन आधारित है। इन महाप्राण पुरुषों ने समय-समय पर अवतरित होकर जिन लोकोत्तर प्रवृत्तियों की अवतारणा की है, उनसे हमारी साहित्यिक चेतना युग-युगान्तर तक अनुप्राणित होती रहेगी परं इमारी प्रतिगति में तथा हमारे अन्तर्द्वन्द्व में हमें समुचित मार्गप्रदर्शन करती रहेगी। अवश्य ही उनके काव्यों के श्रेयस और प्रेयस अनन्तकाल तक मानवता की हित-चिन्तना में ध्यना योग देते रहेंगे और उनकी शाश्वत वाणियाँ विश्व के अन्तराल में सतत गुंजायमान रहेंगी। युग अनन्त के अन्धकार में विलीन हो जायेंगे, किन्तु माँ भारती के इन सपूत्रों की यशोगाथर्यावचन्द्रदिक्षाकर संसार में जीवित रहेंगी।

—००५०००—

व्याकरणशास्त्र का प्रणयन

भारतीय वैज्ञानिकों का मत है कि भार्य-भाषा से प्रसूत पूर्वी शास्त्रों की दो भाषाएँ—संस्कृत और जेन्द्र भवेस्ता ही यहाँ की मूल भाषाएँ हैं, जिनके बोलने वाले क्रमशः भारतीय और ईरानी हैं। यही कारण है कि जेन्द्र भवेस्ता और संस्कृत में यहुत कुछ मौलिक साम्य है। संस्कृत का प्राचीनतम रूप आसुरी भाषा के नाम से अभिहित है, जिसमें ऋग्वेद की रचना हुई। भाषा का जो रूप वैदिक काल (ई० प० ४००० से २५०० तक) में था, घाष्णणकाल (ई० प० २५०० से १४००) में आकर उसने अपना पुराना चोला घद्ला और तदनन्तर हम देखते हैं कि उसका परिमार्जित स्वरूप निरन्तर विकसित और

अग्रसर होता गया। आह्याणकाल भाषा की हटि-से संकान्तिकाल रहा है। व्राह्यणग्रन्थों की भाषा वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत की मध्यकालीन भाषा है। इसके बाद सूत्रकाल (ई० प० १४०० से ५००) का भारम्भ होता है और इस काल में भाषा का एक व्यवस्थित सुथरा, निखरा रूप सामने आता है। पुराणकाल (ई० प० ५०० से गुप्त काल तक) में तो भाषा का परम्परागत स्वरूप सर्वथा नये युग में समाहित होकर अपने सुदूर-भविष्य के नव-निर्माण में सुतरां अग्रसर होता गया। भाषा की इस युग-परम्परा का निर्माता उसका व्याकरण ही है।

व्याकरण की उपयोगिता

यह सत्य है कि भाषा का निर्माण और उसका विकास व्याकरण की अपेक्षा नहीं रखता; फिर भी किसी साहित्य को चेतना प्रदान करने वाला उसका व्याकरण ही होता है। जिस भाषा का अपना कोई नियम और निजी प्रणाली ही नहीं उसका साहित्य अपने व्यक्तिस्व के विकास में समर्थ नहीं हो पाता। किसी भी साहित्य का प्रतिनिधित्व उसका व्याकरण ही करता है। जिस भाषा का व्याकरण जितना ही सर्वांगीण होगा उसका साहित्य भी उतना ही सम्पन्न एवं व्यापक होगा। विश्व की जितनी भी उक्षत कही जाने वाली भाषायें हैं उनमें संस्कृत का अपना एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि उसका व्याकरण इतना व्यापक और समृद्ध है कि संसार की बहुत कम भाषाओं के व्याकरण में उतनी सर्वांगीणता का समावेश हो पाया है। पाणिनि व्याकरण पर जब विख्यात वैयाकरण यूरोपीय विद्वान् सर मोनियर विलियम्स की हटि पढ़ी तो उन्होंने सहसा पाणिनि व्याकरण को दुनियाँ के नाम एक चुनौती स्वीकार करते हुए कहा पाणिनि व्याकरण से बदकर विश्व की व्याकरणशाख का प्रणयन

किसी भी भाषा में ध्याकरण ने कभी पैसे मियम घनाये ही नहीं। इसके पृष्ठ-पृष्ठ सूत्र से भारी विस्मय होता है।

महर्पि यास्क

भारतीय वाद्यय को सुसंपत्त करने में भाज से सदस्यों वर्ष पूर्व हमारे तपःपूत महर्पियों ने अपनी पारदर्शी प्रतिभा के यल पर अपनी संरक्षिति के अर्जन-यर्डन में अपने एकान्त जीवन की जिन विशेषताओं का दर्शन कराया है वे विश्व-विश्वुत हैं। ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल चिन्तन-मनन आदि सभी लेखों में उनकी ध्यापक दृष्टि समान रूप से पढ़ी है। कोई भी लेख पैसा नहीं जो उनकी दृष्टि से खोजल रहा हो।

यह विषय विवादास्पद है कि भाषा-शास्त्र का अभ्युदय क्या और किस तिथि से आरम्भ होता है, किन्तु इसना तो निश्चित ही है कि वैदिक युग के उत्तर भाग में ही ध्याकरणशास्त्र पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो गया था। वेदों के छः अङ्गो—शिष्या, कर्त्तु, ध्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष में ध्याकरण को भी एक स्थान दिया गया है। भाषाशास्त्र की दिशा में प्रथम प्रयोग महर्पि यास्क का 'निरुक्त' उल्लेख-नीय है। विकसीय सम्बन्ध लगभग सात सौ वर्ष पूर्व महर्पि यास्क का समय सभी देशी-विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है। यास्क ने अपने 'निरुक्त' नामक ग्रन्थ की रचना में दो वातों को लक्ष्य भाना—सर्व प्रथम तो उन्होंने भाषा को घोषगम्य बनाने के उद्देश्य से कठिन वैदिक शब्दों को सुनकर उनकी ध्युरपत्ति की और तदनन्तर स्युत्पादित पारिभाषिक शब्दावली को भिन्न-भिन्न देशज रूपों में समन्वित कर उसको स्पष्टतर बना दिया।

'निरुक्त' में यद्यपि यास्क के अनेक पूर्ववर्तीं वैयाकरणों पूर्व निरुक्तकारों का उल्लेख हुआ है, किन्तु उनकी सम्पूर्ण रचनाओं का अभाव

अभी तक उसी प्रकार जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। सैद्धान्तिक हृषि से भले ही अनेक ग्रन्थकारों ने उद्दरण रूप अनेक आचार्यों का उद्दलेख भी किया है, किन्तु यास्क ने पूर्ववर्ती प्रायः तीन ही आचार्य-शाकटायन, गार्य और औदुम्बरायन ही ऐसे हुए हैं जिन्होंने भाषाशास्त्र की दिशा में मौलिक प्रयोग किये।

मुनित्रय

संस्कृत-साहित्य में व्याकरण शास्त्र के प्राणभूत तीन आचार्य पाणिनि, कारपायन और पतञ्जलि-ही ऐसे हुये हैं जिन्होंने इस दिशा में महत्व-पूर्ण अभावों की पूर्ति की। उक्त तीनों ही आचार्य मुनित्रय के नाम से अभिहित होते हैं। महर्षि पाणिनि अन्य दो आचार्यों से, रचना पूर्व कालक्रम की दृष्टि से, अग्रणी है। विक्रमी पाँच-सौ वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनि का समय आता है। पाणिनि के एक-सौ वर्ष बाद महर्षि कारपायन और तदनन्तर दो-सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर महर्षि पतञ्जलि का स्थितिकाल है। इन तीनों वैयाकरणों की स्तुति में आचार्य दण्डी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘काव्यादर्श’ में तो यहाँ तक कह दाला है कि ‘संस्कृतं नाम दैवीवागन्वाख्याता महर्षिभिः’ उक्त मुनित्रय के द्वारा आख्यात पूर्व हृषि होने से ही देववाणी संस्कृत नाम से अभिहित हुई।

पाणिनि ने सूत्र रूप में सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र को आठ अध्यायों में विभक्त कर ‘अष्टाध्यायी’ के नाम से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में भी उद्दरण रूप से कुछ आचार्यों, जैसे शाकटायन, भारद्वाज आदि का नाम आया है। पाणिनि ने अपने इस अपूर्व ग्रन्थ की सृष्टि कर व्याकरण के सूचमातिसूचम रहस्यों को युग के सामने उद्घाटित किया। वस्तुतः पाणिनि का जन्म ऐसे समय हुआ था

जब कि एक और तो परम्परागत भाषा का अन्यथस्थित रूप लोगों की बाणी में अपना स्थायी अधिकार जमा रहा था और दूसरी और आगे के लिये साहित्य-सर्जना का मार्ग ही अपरिमार्जित भाषा के कारण अवस्था-सा हो गया था। पाणिनि का आविर्भाव होते ही साहित्याकाश की उठती हुई आँधी अन्धकार के गर्ते में विलीन हो गई और भाषा का आँगन एक बार पुनः जगमगा उठा।

पाणिनि के सौ-वर्ष उपरान्त ही शब्दों की प्रत्येक शाखा पर एक-एक 'प्रतिशास्य' अन्य लिखे गये, जिनमें स्वर, छन्द के विधानों के अतिरिक्त व्याकरण-सम्बन्धी नियमों पर भी यथेष्ट प्रकाश ढाला गया। इस कोटि के अन्यों में महर्षि शौनक का 'शूरवेद प्रतिशास्य' तथा महर्षि कात्यायन का 'यजुःप्रतिशास्य' विशेष उल्लेखनीय है। कात्यायन ने उक्त प्रतिशास्य ग्रन्थ के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने पाणिनि की 'अष्टाघ्यायी' पर वार्तिक लिख कर शेष कार्य को सम्पन्न किया। महर्षि कात्यायन ने पाणिनि के बाद की एक शती में व्यवहारोपयोगी नये शब्दों की निष्पत्ति के लिए कुछ वार्तिकों की रचना कर शेष भाग की समाप्ति की।

कात्यायन के बाद महर्षि पतञ्जलि का उदय हुआ और उन्होंने अपना प्रसिद्ध एवं विशालकाय ग्रन्थ 'महाभाष्य' लिखकर 'अष्टाघ्यायी' के सूत्रों की विस्तृत मीमांसा की। इस ग्रन्थ की रचना से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि पाणिनि व्याकरण के अनेक रहस्यों पर पर्याप्त प्रकाश पढ़ा और तदनन्तर ही पाणिनि व्याकरण विद्वानों का योधगम्य विषय बना। महाभाष्यकार ने पाणिनि की अग्राध-शान-गरिमा का मन्यन कर अपनी सुविस्तृत व्याख्या द्वारा 'अष्टाघ्यायी' की श्रेष्ठता को लोक के सम्मुख स्पष्ट किया। हन्हीं आचार्यों को लक्ष्य मानकर आगे अनेक

व्याकरण-ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें वरदराजाचार्य कृत 'लघुकौमुदी', भट्टोजि दीक्षित कृत 'सिद्धान्त-कौमुदी' तथा 'प्रौढमनोरमा' आदि का नाम उल्लेखनीय है।

मध्यकालीन आचार्य

तदनन्तर पाँच-सौ वर्ष तक व्याकरण-ग्रन्थों की उक्त मध्युला टूट गई और इस बीच लिखा गया कोई भी व्याकरण-ग्रन्थ देखने को नहीं मिलता। विद्याव्यासनी गुप्त-सम्राटों के प्रश्रय में कला-कौशल, काव्य, नाटकादि की खूब ख्याति हुई, किन्तु व्याकरण की दिशा में यह युग भी मौन रहा। कुछ समय धाद शर्वशार्मा ने 'कातन्नव्याकरण' लिखा। यह ग्रन्थ अपने चेत्र में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ। इसका कारण यह था कि अब तक व्याकरण की दिशा में जो कार्य हुए थे वे प्रायः विद्वानों की ही विचारणा के विपय रहे। सर्वसाधारण को लक्ष्य मानकर एवं प्रारम्भिक विद्यार्थी के उपयुक्त अभी तक कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं रचा गया था। यह कार्य 'कातन्नव्याकरण' द्वारा सम्पन्न हुआ। अनिवार्य रूप से प्रत्येक पण्डित परिवारों में इस ग्रन्थ का पठन-पाठन हुआ।

इस ग्रन्थ पर लगभग आठ टीकायें लिखी गईं। ६० सन् ६०० के लगभग आचार्य चन्द्रगोमिन् ने 'चान्द्रायण' नामक ग्रन्थ लिखा। ख्याति एवं प्रचार की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कम आदर हुआ। इसी प्रकार सन् ६६० के आसपास जयादित्य और वामन ने पाणिनि व्याकरण पर सरल, सुवोध भाषा में भाष्य लिख कर 'काशिकावृत्ति' के नाम से उसका प्रकाशन किया। भर्तृहरि के ग्रन्थत्रय—चाष्य-प्रदीप, महाभाष्य-दीपिका तथा महाभाष्य-त्रिपदी—से व्याकरण के विद्यार्थियों का मार्ग ही प्रशस्त हो गया।

ई० सन् १०० के पूर्वार्द्ध में जैन आचार्य शाकटायन ने एक महत्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ लिखा, जिसका कि अभी तक केवल उल्लेख ही मिलता है। इसी समय के आसपास एक दूसरे जैन आचार्य हेमचन्द्र ने राजा सिद्धराज की अमरता में एक विशालकाय ग्रन्थ 'सिद्धहेम' लिखा, जिसका उस समय बड़ा समादर हुआ। ई० सन् १२०० वे उत्तरार्द्ध में पण्डित उवालादत्त शर्मा ने उणादि सूत्रों पर टीका लिखी इसके असिरिक धामन ने 'लिंगानुशासन' हेमचन्द्र ने 'उणादिसूत्रवृत्ति', 'धातुपाठ' 'धातुपारायण' 'धातुमाला' तथा 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ लिखे; धर्ममान ने 'गणरक्षमहोदधि' और भासविज्ञ ने 'गणकारिका' आदि ग्रन्थ लिखे।

समीक्षण

पाणिनि के समकालीन अनेक शब्द कात्यायन के समय में पहुँच कर अर्थभेद से व्यवहृत होने लगे। ऐसे ही कात्यायन ने जिन शब्दों को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है परज़लि ने उन्हीं शब्दों को दूसरे अर्थ में प्रयोग किया। उदाहरणार्थ पाणिनि के समय में 'यवनानी' शब्द यवन की स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु एक-सौ-वर्ष बाद ही कात्यायन ने उक्त 'यवनानी' शब्द का प्रयोग 'यवनास्त्रिप्याम्' यवनों की लिपि के लिए व्यवहृत किया। ऐसे ही परज़लि ने अपने 'महाभाष्य' में भिन्न-भिन्न देश शब्दों की व्याख्या करते यताया कि सौराष्ट्र प्रदेश में यमनार्थक 'हस्तिं' किया का प्रयोग पूर्वी प्रदेश में 'रंहति' किया से किया जाता था तथा उसी अर्थ में आर्य लोग 'गच्छति' किया का व्यवहार करते थे।

पाणिनि व्याकरण में लोकोक्तियों का जितना प्रयोग हम देखते हैं उससे कहीं बढ़कर वे 'महाभाष्य' में मिलते हैं। इससे यह भी ध्वनित

दोसा है कि उस समय जन-भाषा का सर्वभाषारण स्थ संग्रह भाषा ऐ भी, जिसको रथ दृष्टि याता साधारण धर्मि भी भनायाम ही बोलने लगता था और निम्न कोटि का छुटाए तक 'यद्यात् फरोमि ददि चाहमरं फरोमि' यक्ष फरने पर उच्छृङ्खला शब्द भी रघना भनायाम ही करने में क्षमता को समर्पण की थी।

—३४—

महर्षि पाणिनि

संस्कृत-चार्द्धमय में भाषा-शास्त्र के प्राणभूत तीन लाघायों—पाणिनि, कार्त्यायन और पतञ्जलि—में महर्षि पाणिनि का प्रमुख स्थान है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने इन महर्षियों को ‘मुनित्रय’ के नाम से स्मरण किया है। अन्य दो लाघायों की व्यषेष्ठा पाणिनि का व्यक्तित्व कुछ मौलिक विशेषताएँ लिये हैं। भाषा-शास्त्र के आदि गुरु के रूप में इन महर्षिवर की व्याणी सहस्रों वर्षों से संस्कृत के शब्दाकाश में चतुर्दिक् शब्दायमान है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं यहुमुखी व्यक्तित्व का विश्व के द्वितीयासकारों ने आदर किया। सहस्रों वर्ष पूर्व भाषा-व्यवस्था की जो रूपरेखा इन्होंने निर्धारित की थी, देश-काल के

उत्थान-पतनों को पारकर आज भी अपने उसी मूल में वह स्थित है। व्याकरण-शास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में पाणिनि का व्यक्तित्व युग-युगांतर तक अमर है एवं उनकी भारती का यशोगान शब्दातीत है।

पाणिनि भी उन्हीं भारतीय मनीषियों में हैं, जिन्होंने भारम-प्रशंसा के भय से अपनी महत्तम कृतियों को किसी महापुरुष या देवता-विशेष के नाम लिख कर अपनी व्यक्तित्वजिज्ञासा का स्वयं ही निराकरण कर दिया है। इतना शुभ है कि पाणिनि ने अपनी कृतियों को किसी के नाम न लिखा; किन्तु अपनी जीवन-संघन्धी ज्ञानकारी के लिए उन्होंने अपने आसजनों की परम्परा को अविकल दुहराया है।

विद्वान् इतिहासकारों एवं समालोचकों ने आन्तरिक और बाह्य साचय से पाणिनि के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाला है उसके अनुसार प्रतीत होता है कि पाणिनि का जन्म उस संक्राति-काल में हुआ जब कि भाषा के चेत्र में वडा वितण्डावाद मचा हुआ था। यह वैदिक युग और लौकिक युग का संधिकाल था।^{३३} सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री निरुक्तकार यास्क (७०० वि० प०) ने इस चेत्र में जितने भी सुधार किए, किन्तु एक सुनिश्चित भाषा-व्यवस्था निर्धारित करने में वे भी सक्षम न हो सके। इस महान्तम कार्य की पूर्ति पाणिनि ने की।

पाणिनि का वास्तविक नाम अज्ञात है। ‘त्रिकाण्डशेषकोश’ के रचयिता पुरुषोत्तमदेव ने पाणिनि के पाणिन, पाणिनि, दाढ़ीपुन्न, शालंकि, शालात्मुरीय और आहिक ये छः पर्यायवाची नाम दिये हैं। म० म० शिवदत्तशर्मा ने ‘शालंकि’ शब्द के आधार पर पाणिनि के पिता का नाम ‘शालंक’ लिखा है। पंडित हरिदत्त के अनुसार ‘पाणिन-स्थापत्यं पणिनो युवा पाणिनिः’ पाणिनि के पिता का नाम ‘पाणिन’ सिद्ध होता है। पतंजलि ने पाणिनि को ‘सर्वासर्वपदादेशा दाढ़ी-महर्षि पाणिनि

पुर्वस्य पाणिने।' दार्ढीपुग्र नाम से स्मरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि की माता दघ-कुल से सम्बन्धित थी। महाभाष्यकार ने उन्हें शालातुरीय कह कर अभिहित किया है। विद्वानों दी सोज के भनुसार यह शालातुर ग्राम पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में है। संप्रहकार व्यादि को दाक्षायण कहा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि संभवतः ये पाणिनि के मामा थे। धृदःशास्त्र के रचयिता आचार्य पिंगल पाणिनि के छोटे भाई थे। स्मृतिकार वेवल प्रति इनके पितामह थे।

पाणिनि के गुरु का नाम महेश्वर वताया गया है; फिन्नु यह श्रम है। पाणिनि के गुरु का नाम वर्ष था, जैसा कि सोमदेव (११वीं शताब्दी) ने 'कथामरितसागर' में स्पष्ट किया है—

अथ फालेन वर्षस्य शिष्यघर्गो महानभूत् ।

तत्त्वेकः पाणिनिर्नाम जडयुद्धितरोऽभवत् ॥

इसी प्रकार पाणिनि के भी अनेक शिष्य वताये गये हैं, जिनमें कौरस का नाम प्रामाणिकता से उपलब्ध होता है। आचार्य उद्भव का कहना है कि 'सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रयान्पाणिने।' पाणिनि का शारीरान्त सिंह द्वारा हुआ। इससे पूर्व 'पञ्चतन्त्र' की कथा में भी सिंह द्वारा पाणिनि का शारीरान्त होना घण्ठित है।

पाणिनि के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों का यदा मतभेद है। विधिव विद्वानों की सम्मति इस प्रकार है। महापंडित मैक्समूलर पाणिनि का स्थितिकाल ३५० ई० पू० मानते हैं तो वेवर ४०० ई० पू०, गोल्डस्टकर, भाँडारकर तथा उपाध्याय ५०० ई० पू०। इसी प्रकार थेल्येलकर पूर्व कीय ६००, ७०० ई० पू०, रजवादे और वैद्य ८००, ९००, ई० पू०, पंडित सत्यघत सानश्वरी २४००० ई० पू०, श्री युधिष्ठिर मीमांसक २८०० वि० पू० और श्री वासुदेवदारण अग्रवाल 'अष्टाध्यायी' के सम्यक् मंथन के अनन्तर पाणिनि को युधिष्ठिर पूर्व परीक्षित का

समकालीन सिद्ध करते हैं और साथ ही यह भी स्पष्ट करते हैं कि शुधिष्ठिर और परीचित का समय आज से लगभग ४३६९ वर्ष पूर्व था।

अष्टाध्यायी और अन्य रचनायें

‘अष्टाध्यायी’ पाणिनि का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य का अमर स्मारक है। इस विश्व-विश्रुत रचना की समक्षता अनुलनीय है। यही कारण है कि विश्वात् वैयाकरण सर मोनियर विलियम्स ने ‘अष्टाध्यायी’ की स्तुति में कहा है—‘विश्व में आज तक व्याकरण के ज्ञेन्म में इतने घड़कर नियम कभी नहीं बने। ‘अष्टाध्यायी’ का एक-एक सूत्र गागर में सागर की झाँति विस्मयोत्पादक है।’

‘अष्टाध्यायी’ में कुल भिलाकर ३९६३ सूत्र हैं, जो क्रमानुसार आठ ध्यायों में विभक्त हैं एवं प्रत्येक ध्याय चार-चार पादों में वर्गीकृत है। यह ग्रन्थ जहाँ व्याकरण के ज्ञेन्म में अद्वितीय है वहाँ सहस्रों वर्ष पूर्व का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक और सामाजिक ज्ञान भी इसमें समाविष्ट है।

लगभग ३० पूर्ववर्ती धुरन्धर भाषा-शाखियों के ग्रन्थों का अनुशीलन-परिशीलन करने के पश्चात् ‘अष्टाध्यायी’ की रचना की गई है। इसी प्रकार पाणिनि के उत्तरवर्ती सभी व्याकरण-ग्रन्थ ‘अष्टाध्यायी’ के आधार पर रचे गये हैं। ‘अष्टाध्यायी’ में भाषाशास्त्र का आदि और अन्त समाहित है। इस हृषि से महर्पि पाणिनि व्याकरणशास्त्र के सर्वप्रथम और सर्वान्वितम् यशस्वी भाषाविद् सिद्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त पाणिनीय तन्त्र, ग्रन्थाहार सूत्र, अष्टाध्यायी-वृत्ति, शिक्षा और गणपाठ आदि ग्रन्थ पाणिनिकृत और बताये जाते हैं। सुभाषित-ग्रन्थों में भी पाणिनि के नाम से अनेक लिलित पद पाये जाते हैं, जो समीक्षकों की हृषि से गीतकाव्य के उख़्कृष्ट उदाहरण हैं।

—०५०३०—

महर्षि कात्यायन

संस्कृत-साहित्य में भाषाशास्त्र के प्राणभूत तीन ज्ञाचार्य—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ही 'मुनित्रय' के नाम से अभिहित होते हैं। ज्याकरणशास्त्र के इन आदि निर्माताओं का वृहुष्ट व्यक्तित्व भारतीय इतिहास की पुनीत धरोहर है। सहस्रों वर्षों की सुदीर्घ दूरी के बावजूद हमारे उक्त महर्षिवरों की अमर धारियाँ आज भी हमारे चिन्तनशील मस्तिष्कों को नित नवीन प्रेरणाएँ प्रदान कर रही हैं। महर्षि पाणिनि ने 'क्षटाध्यायी' के सूत्रों में भाषा की अनन्त शक्ति को जैसे एकीभूत कर दिया है। इसी प्रकार सूक्ष्म-मति महर्षि कात्यायन ने स्थाकरण की उन वारीकियों को समेट कर अपने 'वार्तिकों' में समन्वित

किया, जिन तक पाणिनि का भी ध्यान न जा सका था। तदनन्तर विशालबुद्धि पतंजलि ने पाणिनि और कार्यायन की प्रतिभा को अपने 'महाभाष्य' द्वारा उद्धारित किया।

महामुनि कात्यायन व्याकरणशास्त्र के द्वितीय आचार्य हैं जिनके महाब्यक्तिव से भाषाशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी सुपरिचित है। पाणिनि कृत 'अष्टाख्यायी' के ख्यातनामा सात वार्तिककारों का इतिहासकारों ने उल्लेख किया है जिनके नाम हैं क्रमशः कात्य या कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, कोषा, वाढव, व्याघ्रभूति और वैयाकृपथ। कात्यायन को काल-क्रम और रचना-नैपुण्य की इष्टि से अपने चेत्र में प्रसुख स्थान प्राप्त है। 'त्रिकांडशेषकोश' के उल्लेखानुसार कात्यायन के कात्य, कात्यायन, मुनर्वसु, मेधाजित और वररुचि ये पर्यायवाची नाम उपलब्ध होते हैं। 'कथा-सरित्सागर' के रचयिता ने जिस श्रुतधर नाम से कात्यायन का उल्लेख किया है, श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' में सिद्ध किया है कि वह नाम वार्तिककार कात्यायन का न होकर किसी भिन्न व्यक्ति का है।

'स्कंदपुराण' में कात्यायन के पिता का नाम याज्ञवल्क्य, पुत्र का नाम घररुचि और इन्हें कात्यायनशास्त्र का प्रवर्तक माना गया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने सात वार्तिककारों में केवल कात्यायन कृत 'वार्तिक-पाठ' को ही प्रामाणिक माना है और उनको दाक्षिणात्य कह कर अभिहित किया है। इधर श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने इतिहास ग्रंथ में अनेक पुष्ट प्रमाणों को आधार मान कर सिद्ध किया है कि 'अष्टाख्यायी' के सुप्रसिद्ध वार्तिककार का नाम वररुचि कात्यायन तथा उनके पिता का नाम कात्यायन और पितामह का नाम याज्ञवल्क्य था। सायणाचार्य भी 'श्रुतभाष्य' के उपोद्घात में इसी मंतव्य की ओर महर्षि कात्यायन

संकेत करते हैं कि 'तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो धरहचिना वार्तिकैर्दशितः ।' 'महाभाष्य' की कतिपय पञ्चियों से यह भी विदित होता है कि धरहचि कात्यायन दाक्षिणात्य थे ।

काल-निर्धारण की इटि से अन्य महामुरुपों की भाँति इनके संबंध में भी विद्वानों का मतभेद है । सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' और ऐमेन्द्र कृत 'वृहत्कथामंजरी' के अनुसार कात्यायन के उपाध्याय का नाम वर्ष था; साथ ही यह भी विदित होता है कि पाणिनि, व्याडि, इन्द्रदत्त आदि उनके सहपाठी थे । आज हमें निश्चित रूप से इतना तो विदित हो ही गया है कि पाणिनि और कात्यायन न तो सहाध्यायी थे और न समकालीन; किन्तु यह बात अलग है कि कात्यायन का स्थितिकाल ठीक-ठीक क्या था ।

पाणिनि और कात्यायन का विवेचन करते हुए ढा० वासुदेव शरण अग्रवाल सिद्ध करते हैं कि कात्यायन मनु से ३००, ४०० वर्ष पूर्व हुए हैं और ढा० अग्रवाल के ही अनुसार मनु का समय ईसा के आठसौ वर्ष पूर्व ठहरता है । इस प्रकार इस मध्य के अनुसार कात्यायन का स्थितिकाल ३०० पू० ११००, १२०० वर्ष प्राचीन दैठता है । दूसरी ओर धी मीमांसक जी के मतानुसार कात्यायन विक्रमी के लगभग २७०० वर्ष पूर्व चर्तमान थे । इस संबंध में उन्होंने इतिहासकारों की मूलों का स्पष्टीकरण करते हुए स्थिर किया है कि वार्तिककार कात्यायन उदयन-पुत्र चहीनर से प्राचीन थे । इसके अतिरिक्त जायसदाल, कीथ, उपाध्याय और पांडेय आदि कतिपय इतिहासकार कात्यायन का स्थितिकाल ४००, ५०० ई० पू० निर्धारित करते हैं ।

जो भी हो, इतना तो सुविदित ही है कि कात्यायन एक असामान्य प्रतिभा के भाषा-शास्त्री हुए हैं । उनके बहुमुखी घ्यक्षित्य के प्रति

अविश्वास करने का हमारे पास कोई कारण विद्यमान नहीं है। ज्याकरण-शास्त्र के निर्माण में जिन त्रिकालजीवी मौलिक तथ्यों को उन्होंने उद्घावित किया है उनकी सत्यता आज भी प्रमाणित है।

कात्यायन कृत रचनाओं का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है। भाषा-शास्त्र के निर्माण में इन महर्षिवर के वार्तिक एक महत्व-पूर्ण अभाव की पूर्ति करते हैं। महाभाष्यकार ने कात्यायन के वार्तिक को 'अष्टाध्यायी' जितना सम्मान प्रदान कर उनके महर्व को और भी बढ़ा दिया है। इन वार्तिकों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है, इसका भी संतोषजनक निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है। वार्तिक पाठ के अतिरिक्त 'स्कंद पुराण' में श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्रयजुः पार्षद आदि सूत्रग्रन्थों का प्रणेता भी कात्यायन को ही माना गया है। महर्षि शौनक कृत 'ऋग्वेद प्रातिशास्य' के अनन्तर स्वर, छंद और ज्याकरण सम्बन्धी विधानों पर यथेष्ट प्रकाश ढालने वाला ग्रंथ 'कात्यायन प्रातिशास्य' बताया जाता है।

इन कृतियों के अतिरिक्त महाराज समुद्रगुप्त ने एक श्लोक 'कृष्ण-चरित' में इस प्रकार लिखा है :

न केवलं ज्याकरणं पुषोप दात्तिसुतस्येरितवार्तिकैयः ।
काव्योऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसो कविकर्मदक्षः ॥

अर्थात् कात्यायन पाणिनि की भाँति कविकर्मदक्ष भी ये और इस संबंध में उनके नाम से 'स्वर्गारोहण' काव्य का उल्लेख किया जाता है। सुकृक काव्य के द्वेत्र में कात्यायन कृत 'आजसंज्ञक श्लोक' सुभाषित ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। मद्रास से प्रकाशित 'चतुर्भाणी' में 'उभय-महर्षि कात्यायन

सारिका भाण' कास्यायन कृत ही बताया जाता है। संप्रति जो 'कास्यायन स्टूटि' प्राप्त है, वह विद्वानों की हस्ति में कास्यायन की मूल रचना नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कास्यायन का प्रामाणिक सामरिक्षण्य प्राप्त करने के लिए अभी पर्याप्त अनुशीलन की आवश्यकता है।



भाष्यकार पतञ्जलि

स्थाकरणशास्त्र के तीन रूपातिमान् निर्मतिशों में पाणिनि और कास्यायन के अनन्तर पतञ्जलि का नाम आता है। महामुनि पतञ्जलि का युग सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग है। इस युग में कला और साहित्य की चतुर्मुखी उज्ज्ञति हुई है। धर्म, दर्शन, रस्त्रति, कोशा, काव्य, महाकाव्य, नाटक ग्रन्थों पर असंख्य कृतियाँ इसी युग में निर्मित हुई हैं। पतञ्जलि जैसे महामनस्वियों का जन्म किसी भी राष्ट्र के लिये महान् गौरव की बात है। भारतीय साहित्य के ये मूल्यवान् रत्न उसकी अमर संपत्ति हैं। विश्व के विद्वान् समालोचकों एवं प्राच्यविद्या-विशारदों ने सिद्ध कर दिया कि पतञ्जलि की अवतारणा भारतीय साहित्य के लिये एक उल्लेखनीय घटना है।

कोषाकारों एवं प्राचीन ग्रन्थकारों ने पतञ्जलि को गोनर्दीय, गोणिका-
उम्र, नागनाय, अडिपति, फणिभृत, चूर्णिकार और पद्मकार आदि विविध
नामों से अभिहित किया है। निर्विवाद नहीं कहा जा सकता है कि ये
सभी नाम पतञ्जलि के हैं; फिर भी हृतना तो सुविदित ही है कि आदि
के दो नामों को छोड़कर शेष पाँच नामों को ग्रन्थकारों ने पतञ्जलि के
पर्याय में ही प्रयुक्त किया है।

पतञ्जलि का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करने में सबसे घटी कठिनाई
उसके नाम की अनेकरूपता के कारण होती है। 'योगसूत्र' का
रचयिता पतञ्जलि, 'महाभाष्य' का रचयिता पतञ्जलि, 'लौहशास्त्र'
का निर्माता पतञ्जलि और 'चरक' का प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलिविषयक
नाम-रूप की पकारमक्ता हरनी जटिल है कि उसको सुलझाना
असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। कुछ सभालोचकों का अभिभाव
है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि, महाभाष्यकार पतंजलि से मर्वया
पृथक् एवं स्थितिकाल की इटि से भी योगसूत्रकार, महाभाष्यकार
से कई शताब्दी पूर्व ठहरते हैं। उधर 'पतञ्जलिचरित' के
रख्लेखानुसार 'सूत्राणि योगशास्त्रे' 'योगशास्त्र' के सूत्रों का रचयिता
महाभाष्यकार ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार लौहशास्त्रकार एवं महा-
भाष्यकार के संबंध में भी कठिपय विवाद प्रचलित हैं; किन्तु सामान्य
मत दोनों को अभिष्ठ मानने के पक्ष में है। 'पतंजलिसूत्रबृत्ति' के
रचयिता भोज, नागेश भट्ट एवं भावप्रकाशकार का मत है कि महा-
भाष्यकार और चरक का प्रतिसंस्कर्ता एक ही व्यक्ति है। चक्रपाणि के
'पातञ्जल-महाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः' इस कथन से, कि महाभाष्यकार
पतञ्जलि तथा चरक का प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलि दोनों अभिष्ठ व्यक्ति हैं,
उक्त मत की ओर भी पुष्टि हो जाती है।

पतञ्जलि का स्थितिकाल

महामुनि पतञ्जलि के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों के अनेक मत हैं। 'महाभाष्य' में 'आध्यायिका वासवदत्तिका'—'वासवदत्ता' की आध्यायिका-का उल्लेख ही नहीं हुआ है, अपितु 'तत्र लालायित फगी' पतञ्जलि का उस पर विमुग्ध होना भी चर्णित है। इस दृष्टि से पतञ्जलि वासवदत्ताकार सुवंशु (छठी शताब्दि) के उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। इस संबंध में विचारणीय यह है कि ख्यातनामा महाकाव्यकारों- कालिदास, भारवि-की रचनाओं का 'महाभाष्य' में कहीं उल्लेख तक नहीं हुआ है जैसा कि 'सिद्धांतकौमुदी' के रचयिता भट्टोजि दीक्षित ने किया है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी सुवंशु के अभिभावक ने उक्त प्रसंग को पीछे से जोड़ दिया है।

एक दूसरा पक्ष 'भगवता पिंगलेन पाणिन्युजेन' के आधार पर 'पिंगल' शब्द से पतंजलि का अनुमान लगाकर उनको पाणिनि का पूर्ववर्ती सिद्ध करता है; किन्तु नामसाहश्य मात्र से इस मत को विना निराकरण हुए मान्यता नहीं दी जा सकती है, क्योंकि 'पिंगल' शब्द वेदों से लेकर परवर्ती काव्य महाकाव्य आदि ग्रन्थों में विविधार्थकाची प्रयुक्त हुआ है।

महाभाष्य के अन्तसर्वाचयों से विद्वानों को यह मत सर्वमान्य है कि पतञ्जलि पुष्पमित्र शुग के समकालीन और संभवतः उनके समाप्तित भी थे। कविराज अत्रिगुप्त के अतिरिक्त यही मत प्रचलित है कि इसा की द्वितीय शताब्दी पूर्व ये महापुरुष वर्तमान थे। इस दृष्टि से इतिहास-प्रसिद्ध पुष्पमित्र के पाटलिपुत्र वाले अश्वमेध यज्ञ में पतञ्जलि की उपस्थिति भी स्वीकार्य हो सकती है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक पतञ्जलि को लगभग १२०० वि० पू० मानते हैं।

पतञ्जलि की जन्मभूमि और उनके जीवनचरित की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिये अभी पर्याप्त जोध की आवश्यकता है। 'महाभाष्य' की पंक्तियों के धाधार पर कुछ विद्वानों ने उन्हें काश्मीर-देशीय यताया है, तो कुछ ने पाटलीपुत्रनिवासी।

'महाभाष्य' महामुनि पतञ्जलि की धमर रचना है। आचार्य शंकर कृत वेदांतसूत्रों के भाष्यानन्तर भाष्यकार्य के रूप में पतञ्जलि का 'महाभाष्य' संस्कृत-साहित्य का ही नहीं, अपितु संसार का महान् आश्रय है। यह भाष्य-ग्रन्थ महर्विं पाणिनि कृत 'अष्टाघ्यार्थी' के चार हजार सूत्रों में से केवल १३१३ गंभीरतम् सूत्रों को छाँटकर उन पर लिखा गया है। ध्याकरणशास्त्र के जिन सूत्रमातिसूत्रम् रहस्यों की समीक्षा इस विशालकाय भाष्य-ग्रन्थ में को गई है, गंभीर विचारक ही उस महत्व को जान सकते हैं। 'शब्द' की व्यापकता पर प्रकाश ढालकर 'स्फोटवाद' के एक नए दार्शनिक सिद्धांत का भी यह आदि ग्रन्थ है, जिसके अनुसार अनादि, अनन्त, अवण्ड, अज्ञेय और स्वयं-प्रकाशम् आदि नाना विशेषणों से युक्त शब्दग्रन्थ ही सृष्टि का आदि कारण माना गया है।

'महाभाष्य' के अतिरिक्त चरक का प्रतिसंस्कर्ता, किसी अज्ञातनामा कोशाग्रन्थकार, सांरयशास्त्रकार, रसशास्त्रकार और लौहशास्त्रकार के रूप में भी पतञ्जलि का उल्लेख हुआ है। इतिहासकार श्री भीमांसक जी पतञ्जलि कृत तीन रचनाओं—सामवेदीय निदानसूत्र, योगसूत्र और महाभाष्य—को ही विशेष महत्व देते हैं। मैक्समूलर भी योग-दर्शन और निदानसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति को मानते हैं। समुद्रगुप्त कृत 'कृष्णचरित' के अनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्वरचित योगसूत्रों के निर्दर्शनार्थ एक 'महानन्द काव्य' की भी रचना की थी।

इस प्रकार भाष्यकार पतञ्जलि के व्यक्तित्व का अध्ययन करने के उपरान्त प्रतीत होता है कि संस्कृत-साहित्य को समृद्ध बनाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी अमर कृतियों ने उनके व्यक्तित्व को चिरस्थायी बना दिया है।

—♦♦♦♦—

कालिदास का मेघदूत

महापण्डित महिलनाथ सूरि ने मेघदूत की व्याख्या करते हुए संजीवनी टीका में लिखा है—‘सीतां प्रति रामस्य हनूमसन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देश कविः कृतवान्’ अर्थात् भगवती सीता के समीप हनुमान् द्वारा भेजा गया भगवान् रामचन्द्र का संदेश ही प्रकारान्तर से महाकवि ने मेघदूत का विषय चुना है। चालमीकि रामायण में वर्णित अनेक स्थल उक्त दृष्टिकोण का समर्थन भी करते हैं। कुछ भी हो, चाहे कथानक भागवत से लिया गया हो; अथवा वह रामायण या किसी इतर काष्ठ से अनुप्राणित हो, किन्तु इसमें सन्देश नहीं कि भावुक कवि की दिग्य प्रतिभा मेघदूत की रचना कर दिग्दिगन्तर में अवश्य रक्फुरित

हुई है। संसार के साहित्याकाश में विरले ही ऐसे दिनमणि उद्दित हुए हैं, जिनके प्रकाश से एकधारगी ही विश्व का कोना-कोना जगमगा उठा। महाकवि कालिदास की भारती ने जिस चेत्र को चुना उसी में चार चाँद लगा दिए।

कथानक

मेघदूत का सम्पूर्ण कथानक दो भागों में विभक्त है—पूर्वमेघ और और उत्तरमेघ। दोनों भागों में कुल मिलाकर १३० श्लोक हैं। पूर्वमेघ में अलकापुरी से लेकर रामगिरि तक पहुंचने का मार्ग-वर्णन है। उत्तरमेघ में अलकापुरी का सौन्दर्य, हिमाच्छादित हिमालय का धिम्बग्राही चित्रण, विरह-विधुरा अपनी प्रियतमा की आत्मरवशा और अन्त में अपने भावी-मिलन का सन्देश वर्णित है। अलकापुरी के स्वामी कुवेर ने अधिकारप्रमत्तता के कारण अपने सेवक यज्ञ को एक वर्ष के लिए देश-निर्वासन का कठिन दण्ड दिया। अपनी नव-विवाहिता नवोदिता पत्नी को छोड़कर असहाय यज्ञ सुदूर मर्यालोक में आकर एक वर्ष तक अपने पार्षों का प्रायश्चित्त करता है। नागपुर के उत्तरकोण में स्थित रामगिरि की पहाड़ी को सर्वथा योग्य समझकर यज्ञ ने वहाँ रहकर अपने वियोग के दुखदायी दिनों को विताने की सोची; किन्तु आठ मास के बाद घलात् दधाई हुई उसकी विरह-व्यग्रता को भाषाइ-आवण के जलदों ने द्विगुणित बल से उभाइ दिया।

ढोलते हुये कदम्बनिकुञ्ज, हरे घास की विस्तृत भूमि-शर्या, हन्द वधुओं के भोद भरे अभियान, जलदों की सघन पंक्तियाँ, मन्द पवन के मादक श्लोके, मेघों का राजन-तर्जन, अथक धाराप्रपात और धीच-धीच में विद्युत के कौंधियाँ देने वाले प्रकाश ने विरही यज्ञ के प्राणों को आकुल कर दिया। फलस्वरूप उन आकुलित प्राणों से फूट पड़े दर्द-भरे कालिदास का मेघदूत

प्रणय-मस्तक, जिनसा आरोद-भवरोद मेघदूत की धंकियों में
रंजित है।

विरही यह की मनोध्यया के दण्ड असुख भद्रासवि की प्रतिभा के
अनुपमेय विदेषग हैं। कर्मा-कर्मी तो मन्देह दोने एगता है कि काटि-
शास ने मेघदूत का रूप रथहर ब्रकारान्तर मे छपना ही विरह से
नियेदित नहीं किया है! युद्ध भी दो, मेघदूत का शामूल वर्णेश्वर तिस
पटुता से निर्मित किया गया है यह समादरणीय ध्ययरथ है। मेष की
परोपकारिता को छपयकर यह कहता है—‘हे मेष, इस संसार में भर्ते
गुम्हीं तो एक ऐसे हो जो संसार के तरे दुर्योगानियों को उंटक पटुचारे
हो। ऐसी रमणियों, जिनके पति परदेश में हों, भला तुम्हारी प्रसीढ़ा में
बयों न उतावली होगी! मैषा मेष, मेरे छोटने के दिनों को गिनती
हुई तुम्हारी प्रियता भासी उनायास ही तुम्हें मिल जायगी। और
देखो, विरहजर्जरित पह या तो धेवार्चन करती तुम्हें दिलाई हैरी या
मेरा काव्यनिक चित्र धंकित करने में अस्त होगी; अपवा पित्रस्त
सारिका से पूछती होगी कि हे मधुरिके, तुम्हें भी अपने प्रियतम की
कभी याद आती है?’

अपने एक-एक हृदयोदयगारों को मेष से नियेदित करते हुए अमागे
यह के प्रति फूलगा उमड़ आती है। उसके सन्देशों में, उसके विरह में,
उसकी पृकान्त दशा में उन्तर भर आता है। अपनी प्रियतमा की
प्रत्येक प्रिय पस्तु उसको अपने प्राणों से भी प्रिय लगती है। यह मेष
से कहता है—‘हे सौभ्य, मेरे घर के निफट ही कल्पशृष्ट के दण्डिण कोण
में एक घावदी है। उस घावदी के तीर पर उनावटी एक पहाड़ है।
मिन्न, वह पहाड़ मेरी घर घाली को धस्ति प्रिय है; इसलिये जब मैं तुम्हें
दिजली के साथ कभी देखता हूं तब मेरा धकेला एवं उदास मन उस
पहाड़ को सामने खड़ा-सा देखता है।’

गीतिमाधुर्य

गीति-काव्य के विन्नरण में महाकवि कालिदास विशेषरूप से सचेष्ट हुये हैं। ऋतुसंहार पदश्रुत्यों का संघात है। उसमें गीतों का ऐसा प्रांजल सामंजस्य हुआ है, जो अन्यथ दुर्लभ है। मेघदूत में भी गीतों की ऐसी स्वच्छन्द शैवालिनी प्रवाहित हुई है जिसके अवगाहन से पाठक रस-विभोर हो जाते हैं। विप्रलङ्घ शृंगार का सहारा लेकर मेघदूत में गीतों की अनन्य सृष्टि हुई है। वियोग की पुकान्त विद्वलता में यज्ञ के आन्वरिक उद्गार गीति-काव्य के चेत्र में अनुपमेय बन पड़े हैं। उनमें गीतों की तन्मयता तो है ही, साथ में भावों का अन्तःसौन्दर्य और व्यथाजनित प्रलाप भी उसका अपरिहार्य विशेषण बन गया है। यज्ञ की विरह-दशा को इस काव्य में वही मार्मिकता से व्यंजित किया है। यज्ञ कहता है—‘हे मेघ, अलकापुरी में पहुंचकर तुम देखोगे कि मेरी विरह-वियुता यज्ञणी मेरे वियोग में भलिन घसन पहिने, अंक में दीणा धारण किये मेरे नामाच्छरों को गुनगुनाती मूर्छित दशा में आँसू बहाती होगी।’

जीवन की पुकदेशीय तन्मयता में अन्तरास्मा का पुक पक्षीय उद्घाटन मेघदूत की पंक्ति-पंक्ति में यन्त्रन्त्र अलसाया हुआ है। आवण-भावों के मेघों का गर्जन-तर्जन सुनकर प्रियतमा की याद हृदय को आनंदोलित कर देती है और तब अनायास ही यज्ञ गुनगुना उठता है—सुदूर देश में अरस्ति अपनी ग्रेयसी का अस्त्य वियोग।

मधुरकण्ठकूजित कामिनी की भाँति मेघदूत की कोमल कान्त पदावली पाठक को ज्ञक्षोर देती है। विप्रलङ्घ शृंगार का सहारा लेकर कहण भावों की ऐसी मर्मान्त व्यंजना बहुत कम काष्यों में देखने को मिली है। मेघदूत के मन्दाक्रान्ता छन्द संगीत के स्वर-माधुर्य में अनुपम बन पड़े हैं। पद्यों का माधुर्य और परिमित पदावली में भावों की विशुद्ध व्यंजना मेघदूत की विशेषता है।

अकृति-चित्रण

मेघदूत में मानवीय प्रदृश के साथ प्रहृति के द्वारा सौन्दर्य का दान मंथोग हुआ है। गलगिरि वी पहाड़ियों का प्रहृति-सौन्दर्य, जो भी विविध दृश्यावलियों का विषय वी भौतिकीयों से यादें नामे लगती है। उत्तरी और दक्षिणात्मी वी सनुवम जोड़ा हृष्ट को आकृष्ट कर देती है। दर्शकगुरु में खींच जापहासामां यतुन्प्रथा एवं प्रवर्चन गान्म-स्वर विहीनों वी दृशा को गोष्ठीय दग्ध देता है। प्रहृति वी इन्द्रपत्नी देवताओं से मेघदूत का आकृष्ट देता रंगित है। अगिलाप एराम्ब लीकन विलासे पाला यह प्रहृति हे विद्वा न्तो वी देवदर दार-दार मेघों से क्षपना विहृत नियेदन दरता है। हिमालय वी सारांशों में विषय देवदार के विशाल गृह क्षपने सुगन्धिय एवं दीपाल वदन से मात्र यह के मन्नाप सो गूर करने में यहायक होते हैं। प्रहृति एवं प्रादृष्टवं विपनि के जिनों में रथे मानवना देता है। प्रहृति का एवं प्रदृष्ट-सदाचार-भूति में भीयु यहार उमरा माय देता है। भावन के भंटराते मेघ उमरे नियेदन एवं उमरी माली यहायी के पास पहुंचने में महायक होते हैं।

मेघदूत में पर्णित प्रहृति-सारांशवं यह वी घणिगत द्रेम-परिपि में निकल्डर विनय-प्रेम में परिणत हो जाता है। एवं पाठक प्रहृति के माय अपना सरपन्च जोड़ता दितार्द देता है। ददागां भद्रेता वी छुभायनी प्रहृति, नीष नामक पदार्थी के रमणीय हृष्ट, उग्रस्थिनी का भरपुर सौन्दर्य, धनधान्य अवन्ती का प्रहृति-वीभव, देवतिरि के पदार्थी की नैसर्गिक चित्रण, पद्मायती की रमणीय इश्यावलियों, निर्धिन्मया, गम्भीरा तथा चर्मण्यती आदि नदियों का इन्द्रप्राणी वर्णन आकृष्ट कर देता है।

मेघ को सजीव प्राणी समझ कर यज्ञ ने उससे अपने 'सुख-दुःख निवेदित किये । उसके साथ अपना विनोद और मनोरंजन कर आधी-यता का नाता जोड़ा । अपने विपत्ति के चर्णों में मेघ को ही एकमात्र साथी समझकर यज्ञने खुलफर अपने दुखदे उसको सुनाये । निष्कर्ष यह है कि इस काव्य में पेह-पहलव, नदी-नद, खोह-पहाह, पशु-पक्षी, जड़-चेतन, सभी के साथ प्रेम का अपरिहार्य नाता जोड़कर प्रकृति-साह-चर्य का सुन्दर निर्वाह हुआ है ।

आदर्श प्रेम

मेघदूत की प्रेम-परम्परा आदर्श प्रेम की परम्परा है । उसमें क्षणिक आवेश एवं अस्थायी नशा नहीं । किसी अभिसारिका नायिका की सृष्टि कर छुद प्रेम का रोना नहीं रोया गया । इस काव्य में पावन दास्पत्य-प्रणय का सहारा लिया गया है । यज्ञ-दृश्यति के प्रणय-निवेदन में मानवीय प्रणय का कांत संयोग हुआ है । पतिव्रता गृहिणी और एकनिष्ठ पत्नी-परायण पति लोक-जीवन के धरातल पर अपने विशुद्ध दास्पत्य-प्रणय के लिए पूजनीय हैं । यही कारण है कि मेघदूत का विरह पाठक और श्रोता दोनों के लिए सहानुभूति का विषय बन जाता है । इसी आदर्श प्रेम-प्रणाली को लक्ष्य कर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—

'मेघदूत में कालिदास ने आदर्श प्रेम का चिन्न खींचा है । उसको विशेष हृदयग्राही और यथार्थता-न्यंजक बनाने के लिए यज्ञ की नायक-कल्पना करके कालिदास ने अपने कवित्व-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है । निःस्वार्थ और निर्बाज प्रेम का जैसा चिन्न मेघदूत में देखने को मिलता है वैसा और किसी काव्य में नहीं । मेघदूत के यज्ञ का प्रेम-निर्दोष है ।.....मनुष्य-प्रेम से हृश्वर-सम्बन्धी प्रेम की भी उत्पत्ति हो कालिदास का मेघदूत

सकती है। अत्यधि कालिदास का मेघदूत शङ्कार और करुण रस से परिच्छुर है तो क्या हुआ, वह उच्च प्रेम का सजीव उदाहरण है।'

अत्यन्त शङ्कारी रचना होते हुए भी मेघदूत की प्रेम-प्रणाली वासना-जनित उद्धाम प्रेम से शून्य है। आदर्श दाम्पत्य-प्रेम का चिन्नांकन, जिसकी प्रेरणा राम-सीता के दिव्य प्रेम से प्राप्त हुई है, मेघदूत में वही सफलता से चिन्नित किया गया है। यह कहता है—‘मैया मेघ, तुम देखोगे कि मेरे विरह के दिन से ही मेरी गृहिणी देहटी पर जो फूल नित्य रखती चलती है उन्हें धरती पर फैलाकर गिन रही होगी कि अब विरह के कितने दिन बाकी हैं, और जाली से छुनकर आती हुई चन्द्र-रस्मियाँ शीतलता के कारण जब उसके विरह को उकसाने लगेंगी तब वह अपनी आँसू भरी पलकों को ढक लेगी। मैया मेघ, उस समय मेरी प्यारी ऐसी दिखाई देगी जैसे यदली के दिन धरती पर सिलने वाली कोई अघसिली कमलिनी हो।’

लोकप्रियता

महाकवि कालिदास की सरस्वती ने ही विश्व को सर्वप्रथम दूत-काष्य का सन्देश दिया है। १२ वीं शताब्दी के यशस्वी कलाकार घोमी ने मेघदूत की ही शैली पर ‘पवनदूत’ की रचना की। इसके अनन्तर दूत-काष्य का भार्ग ही प्रशस्त हो गया। नोमीदूत, हंसदूत, कोकिलदूत और उद्धवदूत आदि सन्देशकान्यों का तांता ही लग गया। मेघदूत पर अनेक टीकाएं लिखी गईं। विदेशों में भी अंग्रेजी, जर्मनी, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं में उसके सरस अनुवाद हुए। महापण्डित मैक्समूलर ने सन् १८४७ में जर्मन भाषा में मेघदूत का सरस पथानुवाद किया। महाशय मोनफ्रेच ने सो यहाँ तक कह दाला कि योरप में तो क्या, विश्व में अभी तक ऐसे साहित्य का सर्वथा अभाव है। महाशय पृच्छा

कालिदास का ऋतुसंहार

कालिदास की उपलब्ध सभी कृतियों में विषय की दृष्टि से, भाष-चिन्तन की दृष्टि से, भाकार-प्रकार की दृष्टि से 'ऋतु-संहार' का अपना स्थान सबसे अन्त में है। ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमन्त, शिंशिर और वसन्त क्रमशः पद्मकृत्यों को छः सर्गों में निष्पद्ध कर १५८ श्लोकों में सम्पूर्ण काव्य की समाप्ति कर दी गई है। आरम्भिक रचना होने से 'ऋतुसंहार' यथापि कालिदास का बालप्रयास है, फिर भी उनकी भारती को प्रोत्साहित करने का श्रेय भी इसी दुधमुहें खण्डकाव्य को है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की अन्तर्दृष्टि आरंभ से ही सौंदर्य-निरीक्षण में ही अधिक रमी हुई थी। इस काव्य-खण्ड में नर-प्रकृति के साथ वाष्प

प्रकृति का जो एकात् संयोग व्यञ्जित हुआ है वह हतर कामों में, यहाँ तक कि कालिदास की श्रेष्ठतम रचनाओं में भी, नहीं। प्रकृति की नाना मनोरम मुन्द्ररताओं का दृद्यग्राही चित्रण पद्मशत्रुओं का आश्रय हेकर अनुपम यन पढ़ा है। उद्धीपन विभाव के रूप में शृङ्खार के उभय-पश-संयोग और विप्रलभ—का शास्त्रीय परम्पराओं के साथ-साथ जो निर्धारित किया गया है वह अटंकार-शास्त्रियों की विचारणा का विषय है। कौन जानता था कि कृष्ण-कलेवर 'शत्रुसंहार' की द्वीण पंक्तियों में कालिदास की भारती एक घार मुखरित होकर भविष्य में विश्व-वाह्यमय को अनुप्राणित करने में समर्थ होगी ?

गीतों की सरसता

संरक्षण-साटिष्य में गीतिकाव्य का श्रीगणेश कालिदास की दो शृङ्खियों—‘मेघदूत’ और ‘शत्रुमंहार’ से ही होता है। ‘मेघदूत’ गीति के ऐश्वर में यदि अपना कोई जोड़ रखता है तो वह ‘शत्रुसंहार’ ही है। ‘मेघदूत’ में जहाँ शृङ्खार का एक दैशीय रूप विप्रलभ ही लिया गया है, ‘शत्रुसंहार’ में वहाँ अवसरोधित शृङ्खार के द्वीनों पक्षों को उपयोग में लाया गया है। ‘शत्रुमंहार’ पद्मशत्रुओं का संघात है। उसकी पंक्ति-पंक्ति में कवि ने यौवन का उहाम देग प्रवाहित किया है, जो युवकों को, प्रेम-विद्युत घनिताओं को इमविमोर कर देता है। उसका कारण यह है कि तरुण एवं वी तरुणाई से ‘शत्रुसंहार’ का सारा कलेवर विनष्ट है। एक दिन, जय कि कवि को यौवन-न्यतिया में चसन्तोसव की भूम सभी रही होगी, उसने नव धू के केशपाण में गुँथा हुआ अशोक पुष्प देखा होगा, आच्छमंडरी तोर का काम करती रही होगी, कालिदास ने प्रथम्भा का रूप धारण किया होगा और कोकिल बन्दीजन हे रूप में इमका मंदेश हाट-बाट और उत्तम भै पर्हुचा देता रहा होगा, कालिदास का शत्रुसंहार

जिसको सुनकर सहस्र कोकिलदंटी घनिताओं की स्वर-माधुरी गुंजरित हुए यिना न रही होगी, प्रणय के ऐसे प्रगाढ़ प्रदर्शों में कवि का युक्त दृढ़य आनंदोलित हुआ होगा और तथ उसने हुः-हाँ ग्रीष्म को छाप फैरके कहा होगा:—

यजतु तथ निदाघः कामिनीभिः समेतो
निदि सुषुषितगीते हर्ष्यपृष्ठे सुरेन।

ग्रीष्म-चर्णन

‘ऋतुसंदार’ में पद्मधनुओं का भारतीय ग्रीष्म-चर्णन से होता है। कोई विरहीन अपने पुकाकी जीवन की वियोग-दशा को सुखूर देश में स्थित अपने पुकारा अवलम्बन, अपनी प्रियतमा, से नियेदित करता है। उसका आदोलित दृढ़य एकाएक कल्पना करता है कि गर्भी की तपन मिटाने के लिये ऊँची-ऊँची अटालिकायें, जिनके ध्वण फर्श गुलाबजल, केवड़ा और सुगन्धित चन्दन से सिक्क हो और जहाँ चब्बल उंगलियों से श्वकृत धीणा के स्वर-सप्तक निनादित हों। निदाघकाणीन प्रचण्ड सूर्य की रसिमर्याँ कासुक दृढ़य की आकुलता को व्ययित कर देती है और तथ नीरव चाँदनी रातों में अपनी साखी को सम्योधित कर कोई दूर देशी कहता है—“हे प्रिय, इस ऋतु में रमणियों के उज्ज्वल हारों से सुसज्जित चन्दन पुते उभरे स्तन और महीन घस्तों से आवृत सुनहरी करधनी से बैधे नितम्य भाग, भला सुग्हीं यताओ, क्यों न मन को चब्बल कर दें। मनचली सुकुमारियों की मन्द मुस्कानें किस परदेशी के एकान्त विरह को न उभार देती होंगा?”

प्रचण्ड ग्रीष्म की यातना से वन्य जन्तुओं की दशा शोचनीय हो गई है। गर्भ धूप से शुलसा हुआ सर्प फन फैला कर जब फुफकारे लेता है तो फन की छाया के लोभ से मोर उसके निकट ग्राण पाने को

इतराता है। जिह का यादम इत्यामा लिखित पह गया है कि यात में सहे हाथी को देखता हुआ भी वह शर्मिं यदृ द्वारा लेता है। उदाम बन्दरों के दृष्टान्ते त्रुट गुच्छों दी खोट यात रहे हैं। प्रश्नद भाँधी के येत में गोपने सेसर के गृहों की राष्ट्र में गारे गंतव्य ये भाग की छपटों का घर बना दिया है और यस्ता उत्तर प्रश्न भाँधी के रेतांग मैदानों में आशर हाँक रहे हैं।

वर्षा-वर्णन

“प्रिये, देवो, मैटरां गेधी के द्वुग्ट और वद्यकर्ता विलिंगी दी चकार्चिप से ऐसा अभिष छोता है कि कामिनियों का एपारा यावत समीप ही आ गया है। पर्याही की पित्र-पित्र गाभता से दृष्टि बल्दों के समूह धरि-धरि प्यारी भरती की ओर तूर रहे हैं। मोर लप्ती प्यारी मोरनियों को गले लगान्त्या कर पर्यागमन पर फूटे भटी यमा रहे हैं। प्रीम्य से द्वुलमे भज विद्रानित की आद में रिक्त हैं।”

“ओर देवो, यायन, भाद्रों की लिखित निशा में सुख-विष कर गावों ग्रेमियों के समीप जाने वाली कामिनियों का भागं गगकर्ता त्रुट विलिंगी प्रदर्शित कर रही हैं। लप्ते प्रियनम की याद में अर्पीर कोई वद्यवद्यमर्ता विव्यफल जैसे भारत की ओपल जैसे कोणल भारतों से त्रुट गुनगुनार्ता और गालों को बाँध दाय के यल टेके, टकटकी छायाएँ लियीं की प्रतीका कर रही हैं। एक ओर सो फलकल करती त्रुट नदियों यह रही है, छायियों के छुण्ट मस्ती में दूधर-दूधर घूम रहे हैं, दी-भरी यन्दगही में घमनन्तुओं के मोद भरे नृथ द्वे रहे हैं औ दूसरी ओर याँ के इस उत्सव को देखकर परदेशी पतियों की विरह-विहृण ग्रेमियों द्वय की वेदना को देखाये पियोग के दिनों को विता रही हैं। कही महीन और उजली साडियों से परिवेष्ट रगभियों के नितारघमाग याँ की

‘फुहारों से सिक्ख होने के कारण मनचले युवकों की चासनावृत्ति को उभार रहे हैं।’

शरद्-वर्णन

वर्षा के धीत जाने पर शरद् सुन्दरी नवागता रूपवती वधू की भाँति सस्यशपामला धरती पर अवतीर्ण हो रही है। धब्बल चन्द्रिका के प्रकाश से निर्मल शरद् की निशाखों में तृष्णित मन अनेकांत वातावरण की चाह से किसी की तलाश में चल्ल हो जाता है। ऐसे समय में कामातुर रमणियाँ अपने संगीत सुख को भी हेय समझकर अपने ब्रेमियों के एकान्त सहवास के लिये लोक-लज्जा की भी परवाह नहीं कर रही हैं। शरद् के संयोग का आनन्द सखियों का प्रिय विषय बना हुआ है।

दुपहरिया के फूलों से आरक्ष तथा पके हुए धानों से लदी धरती की अपूर्व शोभा और ऊपर निरञ्च धाकाश का मनोमुग्धकारी इर्ष वरवस मन को अपनी ओर आकर्पित कर रहा है। प्रातःकालीन बिखरे मुक्का-घिन्दु, कमल और कुमुद से अभियिक्ष मन्द् पवन के स्पर्श मात्र से ही कसक पैदा हो रही है। एक ओर यदि धान की लहलहाती विस्तृत भूमि दृष्टि को धौंध लेती है तो दूसरी ओर हरी धास को चरंती हुई गायें तथा स्वच्छन्द विचरते सारस और हसों के जोड़े मन को मोह देते हैं।

हेमन्त-वर्णन

शरद् धीता और हेमन्त का उदय होते ही सचेतन-अचेतन, सारी प्रकृति में परिवर्तन हो गया। अब न तो कामिनियों की महीन रेशमी साड़ियाँ ही दृष्टिगत होती हैं, न रक्षजटित करधनी की शोभा ही नितम्ब प्रदेश धारण किये हुए हैं, न भुजभाग में कंकन ही चमकते नजर आते

है और म देखो वही पापतनियों की गलत ही अवगता में चांग मेरी
रही है। अब तो गरम उनी पर्याएँ के सारण में ऐद की सुकुमारता ही
शोषण हो गई है।

इन् पर छंकुरित मेर्हूजी की दरिशाई के ऊपर भोमविन्दु बालारम
की भवगाई में ऐप्रत्याग होते हैं यातो मुगामों की सुविधा दरया
यिद्वाकर भरती ने हमन्त वा इतान दिया हो। हमन्तोऽन्त भनाने
दरिशावशों के ममृह और गारमों की संचिह्नी ऐतनेवाले को पक
बार ही आशयित हिये तो रहे हैं। निरन्तर दिम-प्रसात के आग
पर्वतीय प्रदेशों की परिवाह भवलता भवूर्य दोभा भाग्ण हिये हैं।

शिशिर-वर्णन

शिशिर अग्रुद्धी छिरन के पारण दोग अपने परों के द्वार घन्द
हिये घर को पाग की तपत से गरमा रहे हैं। इन दिनों न चन्द्रमा को
किसीं ही अस्थी लगती है, न घन्दन का दीपल लिए ही महापक होता
है, न ऊपर छुतों का दायनानन्द ही दधिकर लगता है और नहीं पीले
चारों की रात में कोई पाद्र दियाई देता है।

नपागता पत्नियों के पदान्त आगन्द में निरत गुपक दोग अपने-
अपने घरों से कही दिन यक पाद्र नहीं निहलते हैं। इन दिनों
विशालाई शमिनियों के कंधों पर कौले देशपाद और सर्व-शोभा जैसी
सुखों की सुन्दरता लघमी का स्वरूप याद दिला रहे हैं।

वसन्त-वर्णन

अगुराज घमन्त के भागमन पर प्रकृति के अणु-अणु में नहं रक्तिं,
नहं जागृति और नवोरमाह द्वा गया है। लुभावने दिनों की सुहावनी
सर्क्षिं में रसिकजनों के चित्त फसमसाने लगे। सारे यातायरण में
कालिदास का अतुसंहार

मादकता महकने लगी। छामती हुई आग्र-मञ्जरियों में कुहु-कुहु करती कोयल की पुकारें घिरहिणियों की अन्तर्वेदना को उभारने लगीं। एक और रमणियों के सुभाषित शहार की महक से रसलोलुप अमरावली उनके आस-पास मँदरा रही है। कसमसाती चोलियों के ऊपर चासन्ती बर्ण की साधियों की फहरन तथा हुँवराले बालों से बँधी बेणी में गुँये गये अशोक के फूल अपूर्व शोभा का शोतन कर रहे हैं। दुर्वल और पीले झड़ों से युक्त अलसाई कलिका की भाँति जंमाई लेती खिर्पा परदेश गये अपने पति की प्रतीक्षा में दिन गिन रही हैं।

परदेश में जीवन विताने वाला कोई दूरदेशी ज्यों ही मन बहलाने की चाह से किसी उपचार-विशेष का आश्रय लेता है त्यों ही कोयल के प्यासे सहक और चसन्त सुन्दरियों की घायल कर देने वाली भीठी चित्तयन उसकी दबी हुई बेदना को द्विगुणित बल से उभार देती है। मलयगिरि में दस मास की पृकान्त तपस्या में लीन घासन्ती पवन का ईपद् स्पर्श जब बनवासी जीवन में ही उथल-पुथल मचा देता है तब उन बेचारों की क्या दशा होगी जो सांसारिक प्रणय के ऐसे उत्सवों पर अपनी प्रेयसी से अलग, दूर देश में जीवन विता रहे होंगे?

‘ऋग्संहार’ की विशेषताओं में उसमें वर्णित विषय का कालिदास की लेखनी ने जिस सरलता तथा स्वाभाविकता के साथ चित्रण किया है वह पूर्व मावनाओं से प्रेरित होकर किया है। कालिदास के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक ग्रन्यकारों ने यद्यसुखों के वर्णन में अपनी कला का शेष प्रदर्शन किया, किन्तु कालिदास का ‘ऋग्संहार’ अपनी भौलिकता पूर्व सरससा में आज तक अपना जोड़ नहीं रखता। अति उष्ण भावों के प्रदर्शन में, शैली की शेषता में ‘ऋग्संहार’ विश्वसाहित्य का अमूल्य रख है।

—०००—

संस्कृत के महाकाव्य

वेद भारतीय धार्मिक ग्रन्थ है। उनमें भारतीय जीवन की जिन शावसुम्मी विज्ञानाओं और एहसासी विचारों पर सम्बन्धित प्रतिपादन हुआ, उम्रको देखा हर अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वेद-विद्यायक ऐसे महर्विष्यर में एकल मंत्रद्रष्टा ही थे, अवितु काण्ड्यद्रष्टा भी थे। प्रकृति की अन्तर्विज्ञान से प्रेरित होकर जिन वैदिक शास्त्रों पर उद्गायन उन्होंने किया है, काव्य के सेप्र में उत्तम। विशिष्ट स्थान है। महाकाव्य का जो वैभवशाली रूपरूप आज दमारे सामने विद्यमान है, कदाचित् उसकी आधारशिला वैदिक काल ही में पर सुकी थी। आगे चलकर व्राण्डण-ग्रन्थों (२५००-१४०० खि. पू.) में यर्जित आदपानों

संस्कृत के महाकाव्य

१२७

में काष्य के बे घेदकालीन धोज अंकुरित होते दिखाई पड़ते हैं और सूत्रकाल (१४००-५०० वि. पू.) की भाव-बहुल शैली में वही काष्यांकुर ईपतपलवित होते प्रतीत होते हैं ।

रामायण और महाभारत संस्कृत-साहित्य के दो अमर स्मारक हैं । परिचमीय पण्डितों ने 'एपिक' कहकर हन्हीं दो ब्रह्म-ग्रन्थों की चर्चा की है । भारतीय अलंकारशास्त्रियों ने 'महाभारत' को तो इतिहास, पूर्वास्थान के अन्तर्गत माना है और 'रामायण' का आदि महाकाव्य के रूप में उल्लेख किया है । 'महाभारत' भले ही स्वयं एक महाकाव्य न हो; किन्तु संस्कृत के महाकाव्यों का जनक अवश्य है । इसी दृष्टि से विदेशी विद्वानों ने 'महाभारत' को 'एपिक विदिन एपिक' अर्थात् महाकाव्य के भीतर महाकाव्य कहा है ।

संस्कृत के महाकाव्यकारों ने 'महाभारत' के उपास्थानों की 'रामायण' की शैली में रचना करके दोनों ग्रन्थों की वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर दिया है । इस दृष्टि से 'रामायण' संस्कृत-साहित्य का आदि महाकाव्य और महर्यि वाल्मीकि आदि महाकवि ठहरते हैं । 'रामायण' का रचनाकाल ६०० ई. पू. और 'महाभारत' का अंत्येष्टिकाल ५०० ई. पू. है 'रामायण' एक ही व्यक्ति की कृति है, पर, 'महाभारत' समय-समय पर विरचित अनेक प्रतिभाओं का पुज्जीभूत स्वरूप है ।

'महाभारत' की शांत्येष्टि ही के आसपास सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि (५०० ई. पू.) के नाम राजरोखर (९वीं श.) ने 'पाताल विजय' या 'जांघवती विजय' नामक महाकाव्य का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

नमः पाणिनये चस्मै यस्मादाविरभूदिह ।

आदौ सु व्याकरणं कान्यमनु जांघवतीविजयम् ॥

पाणिनि की यह महाकाव्यकृति अठारह सर्गों की वसाई जाती है,

कृतियाँ— १. कुमारसम्भव और २. रघुवंश—अपने सेना की अद्वितीय पूर्व अनुलूनीय कृतियाँ हैं। ‘कुमारसम्भव’ के १७ सर्गों में शिव-पार्वती के परिणय-प्रसंग को लेकर कालिदास ने जिस कवित्वमयी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह वर्णनात्मीत है। इसी प्रकार १९ सर्गों में समाप्त होनेवाली दूसरी कृति ‘रघुवंश’ महाकवि की दूरदर्शी इसी पूर्व सुपरिपक्व प्रज्ञा-कौशल का अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित करती है। ‘रघुवंश’ में कालिदास की कविता का पूर्ण वैभव स्वंजित हुआ है।

कालिदास के बाद अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ईस्वी) में ‘बुद्धचरित’ और ‘सौन्दरनन्द’ नामक महाकाव्यों की रचना करके महाकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ाया। २८ सर्गों की महाकाव्य-कृति ‘बुद्धचरित’ के एक तिव्यती अनुवाद (८०० ई०) के रूप में संप्रति १४ सर्ग ही उपलब्ध होने हैं। बौद्ध महाकवि की विशेषता प्रसाद-गुणपरक भाषा, भाव और शैली में विद्यमान है। बुद्धधर्म के सिद्धान्तों का लोक-न्यायी प्रचार करनेवाला दूसरा १८ सर्गों का महाकाव्य ‘सौन्दरनन्द’ अश्वघोष के कविकर्म को बहुत ऊँचा उठा देता है।

तदुपर्यात महाकवि भर्तुमेठ (पञ्चम शताब्दी) की उपलब्ध महाकाव्य कृति ‘हयामीव-वध’ के अनन्तर भारवि (पछि शताब्दी) कृत ‘किरातासुनीय’ का नाम महाकाव्य के सेना में उल्लेखनीय है। प्रसुत महाकाव्य की गणना संस्कृत-साहित्य की ‘धृहस्त्रयी’—किरात, माघ, नैषध—में की गई है। भारवि की कवित्व-कीर्ति को अनुष्ण बनाए रखनेवाला उनका यह एकमात्र महाकाव्य संस्कृत-साहित्य में अपना अद्यग स्थान रखता है। इसमें १८ सर्ग हैं। ‘महाभारत’ के वन-पर्व से इसका कथानक लिया गया है। इस ग्रन्थ में अलङ्कारशास्त्रोक्त नियमों का समुचित निर्धारित किया गया है। व्याकरण-नियमों के साथ-साथ

काव्य-नियमों का ऐसा सुन्दर निर्वाह कम काव्यों में दिखाई देता है। कालिदास और अश्वघोष की अपेक्षा भारवि का व्यक्तित्व सर्वथा स्वतंत्र प्रतीत होता है। इसका बड़ा भारी कारण यह है कि भारवि ने वीर-रस का बड़ा हृदयग्राही विन्नेन और अलंकृत काव्य-शैली का सफल चर्णन किया है। 'अर्थ-गौरव' भारवि की सबसे बड़ी विशेषता है।

महाकवि भट्टि (सप्तम शताब्दी का भारम्भ) का 'रावणवध' जिसे 'भट्टिकाव्य' ही के नाम से अभिहित किया जाता है, अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों से कुछ पृथक् विशेषताएँ लिप्त हुए हैं। अपने इस महाकाव्य के सम्बन्ध में भट्टि ने स्वयं लिखा है:—

दीपतुल्यः प्रवंधोऽयं शब्दलक्षणचक्षुपाम् ।

अर्थात् मेरा यह प्रधन्व वैयाकरणों के लिप् तो दीपक के समान है; किन्तु, दूसरों के लिप् अंधे के हाथ की आरसी की तरह है। इसका कारण यह है कि काव्य-रसिकों की अपेक्षा व्याकरण-प्रेमियों के लिप् 'भट्टिकाव्य' अधिक उपयोगी है। काव्य की सुकोमल प्रकृति को व्याकरण के निर्मम हाथों द्वारा इस काव्य में ऐसा भसल दिया गया है कि महाकाव्य की जगह वह व्याकरण-ग्रन्थ ही बन गया है।

भट्टि के बाद कुमारदास (सप्तम शताब्दी का मध्यभाग) कृत २५ सर्गों की महाकाव्यकृति 'जानकी-हरण' का स्थान आता है। इसमें राम-कथा को बड़ी ही सुन्दर शैली में वर्णित किया गया है। राजशेखर (नवम शताब्दी) की तो इस महाकाव्य के सम्बन्ध में श्लेषोक्ति है कि 'रघुवंश' की विद्यमानता में भी 'जानकीहरण' करने की कुशलता या तो रावण ही में थी या कुमारदास ही में देखी गई है।

कुमारदास के अनन्तर माघ (सप्तम शताब्दी का उत्तराधि) नाम आता है। महाकवि माघ की असामान्य प्रतिभा से कौन संस्कृतज्ञ संस्कृत के महाकाव्य

अपरिचित होगा ? माघ के व्यक्तित्व को अमर बना देनेवाला उनका महाकाव्य 'शिशुपालवध' (माघ-काव्य) विद्वन्मंडली का विनोद-साधन रहता आया है । यही एकमात्र कृति माघ के नाम से आज उपलब्ध है । इस महाकाव्य की गणना 'बृहस्पती' में की गई है । 'किरातार्जुनीय' की भाँति इसका कथानक भी 'महाभारत' से लिया गया है । इसमें २० सर्ग हैं । विज्ञ समालोचकों का कथन है कि 'माघ-काव्य' में काठिदास जैसी उपमा, भारवि जैसा अर्थगौरव और दण्डि जैसा पदलालित्य समाविष्ट है—माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।

संस्कृत के महाकाव्यों में सर्वाधिक बृहस्पताय ग्रन्थ के रचयिता रत्नाकर (अष्टम शताब्दी) कवि-प्रसविनी काश्मीर-भूमि की देन हैं । इनकी महाकाव्य-कृति 'हरविजय' के ५० सर्गों में भगवान् शंकर द्वारा संघासुर-संहार की कथा वर्णित है । इसमें ४,३२० श्लोक हैं । माघ के महाकाव्यकृति को चुनौती देनेवाले इस महाकाव्य में अनेक विशेषताएँ समन्वित हैं । काश्मीर ही के दूसरे महाकवि शिवस्वामी (नवम शताब्दी) कृत 'कफिणाम्युदय' नामक महाकाव्य में शब्दालङ्कारों पर मर्मस्पर्शी प्रकाश ढाला गया है । इसके २० सर्गों में छीलावती (दक्षिण) के राजा कफिण और श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित का युद्ध वर्णित है । कथानक घौढ़-आख्यानों से उद्धृत है ।

महाकाव्यों के ऐत्र में शिवस्वामी के बाद चेमेंट्र (एकादश शताब्दी) कृत 'दशावतारचरित' महाकाव्य का नाम उल्लेखनीय है । यह स्थयं को 'व्यास-दास' लिखते हैं । इसके कारण कदाचित् दो हैं— प्रथम तो इन्होंने भगवान् व्यास की भाँति बहुत रचनाएँ हैं और दूसरे इनकी कृतियों की विशेषता यह रही है कि उनमें नीति एवं शिक्षापरक लोकव्यवहारोपयगी विचारों की ही 'अधिकता है । यह भी

काशमीरी थे। इन्हीं के समकालीन और प्रकृतेशीय महाकवि मंसुक की 'श्रीकंठचरित' २५ सर्गों की हृति है। इस महाकाव्य की विद्वेषता यह है कि इसके वर्णन यद्ये ही सजीप पूर्ण रोचक हैं। सुन्दर पद-विन्यास और भावों की कोमलता देखते ही धनती हैं।

मंसुक के याद महाकवि श्रीहर्ष (द्वादश शताब्दी) हृत 'नैषधीय चरित' का उल्लेखनीय स्थान है। इसकी शब्द-रचना, भाव-विन्यास, कल्पना-चातुर्य और प्रकृति-पर्यवेषण काव्य-जगत् की उपादेय विद्वेषताएँ हैं। इस महाकाव्य के २२ सर्गों में नल-दमयन्ती की कथा घटित है। प्रणय-व्यापार का ऐसा सरस और हृदयप्राणी चित्रण योद्ये ही काव्यों में अभियर्थजित हुआ है। श्रीहर्ष की कविता पर मोहित दोनोंवाले काव्य-रसिकों का क्यन है कि नैषध-काव्य के समष्ट माघ और भारवि तक की प्रतिभा निस्तेज हो जाती है—‘उदिते नैषधे काल्ये क माघः क्वच भारविः?’ यह महाकाव्य ‘वृहस्त्रयी’ की पूर्ति करता है।

महाकाव्यों का अभ्युत्थान-युग महाकवि कालिदास से प्रारम्भ होकर श्रीहर्ष में पर्यवसित हो जाता है। श्रीहर्ष के याद भी अनेक महाकाव्यों का प्रणयन हुआ; किंतु, उनमें आत्मगृह का अमाव है। जैन कवि एरिथंद्र (द्वादश शतक) हृत 'धर्मदर्माभ्युदय', कविराज (द्वादश शतक) का 'राघवपाण्डवीय', धेंकटनाथ (त्रयोदश शतक) का 'यादवाभ्युदय', वस्तुपाल (त्रयोदश शतक) का 'नरनारायणानंद', वालचंद्र सूरि (त्रयोदश शतक) हृत 'वसंतविलास' और देव विमलगणि (सप्तदश शतक) हृत 'हीर-सौभाग्य' महाकाव्य की परंपरा के अस्तोन्मुख चिह्न हैं।

इस प्रकार विदित होता है कि संस्कृत-साहित्य महाकाव्यों के द्वेष में कितना संपर्क और उसकी परिधि कितनी व्यापक रही है। संसार की किसी भी शिष्ट और संपर्क भाषा के साहित्य से उसकी तुलना की जा सकती है।

—००५००—

संस्कृत के नाटक

संस्कृत-साहित्य में नाटक-प्रन्थों की यहुलता को देखते हुए अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय मनोविदों ने वदी सन्मयता एवं अधिक प्रयास के साथ इस क्षेत्र में कार्य किया है। संस्कृत-नाटकों के संघन्ध में इष्टना निर्विवाद कहा जा सकता है कि प्राचीनता और संपदावा की इष्टि से विश्व की किसी भी समृद्ध भाषा के नाटक-साहित्य से संस्कृत के नाटकों का कम महात्मा नहीं है। संस्कृत-नाटकों में जीवन के जिन दशमुखी व्यापारों पूर्व क्रियाकलापों का चित्रण देखने को मिलता है उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। साहित्य-निर्माण के साथ-साथ मन की जिन सूचमानुभूतियों को भारतीय नाटककारों ने स्पर्श किया है, संस्कृत-नाटकों की वह निजी 'टेक्निक' है।

नानाभावोपसंपद्मं नानायम्पान्तरामस्मृ ।

ऐषपृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्नया कृतम् ॥

‘नाट्यशास्त्र’ के प्रवेशा भाषायं भरत का पहला है कि सार्योऽसिक्ष
मनोरंजन पूर्वं नानाविध भाषनाभ्यो या घोतन नाटक में सो होता ही
है, साथ ही उसमें अपने युग के ऐतिहासिक ज्ञान का भी समापेश
रहता है। यही कारण है कि :

नाट्यं भित्तरुपेचं नन्तरं पदुधाप्येकं समारापनम् ।

महाकवि वालिदास ने भी नाटक को उस गुरुत्व संगम वी भाँति
माना है, जिसमें विना जात-पांत और भेद-भाव के मानवमात्र को एक
जैमा अवगाहन सुन प्राप्त होता है।

मंग्रेति संस्कृत-साहित्य पर प्रकाश ढालने वाले इतिहास-प्रन्थों
का प्राप्तः भभाव ही समझना चाहिए। इस दिशा में भंगेभी भयया
हिन्दी में जो कुछ भी लिखा गया है वह पूर्ण सन्तोषप्रदायक नहीं है;
फिर भी जो कुछ प्रयाम हुआ है वह स्तुत्य है। इस सन्ध्यन्ध में मपसे
अधिक विचारणीय यात यह है कि संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर
आंग्ल-विद्वानों ने कहीं-कहीं इतनी घमपूर्ण यात्रे लिया दी है जिन पर
किसी भी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता। इधर भारतीय
इतिहासकारों अथवा समालोचकों ने आंग्ल-विद्वानों की उन भूलों पर
सो अवश्य प्रकाश ढाला है; किन्तु उन स्थलों पर अपनी जो धारणाएँ
उन्होंने प्रकट की हैं वे भी प्रच्छपानपूर्ण पूर्वं अतिरजित-सी हो गई हैं।

इसलिए संस्कृत-साहित्य में नाटकों की प्रामाणिक जन्म-तिथि
सोज निकालने की धर्षेश्वा और घटात इस भन्तव्य को घोप देने की
धर्षेश्वा कि विदेशों का नाटक-साहित्य भारतीय नाटकों का अनुकरण है,
कहीं अधिक है कि उसके उपलब्ध स्वरूप से ही लाभान्वित हुआ जाए।

उत्पत्ति-युग

आचार्य भरत की उपलब्ध कृति को सम्मुख रख कर उन्हें ही भारतीय नाट्यशास्त्र का आदि प्रणेता माना जाना चाहिए। नाटकोत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत का कहना है कि सृष्टिकर्ता स्वयं ब्रह्मा ने देवों के आग्रह पर भू-लोक के मनोविनोदार्थ पंचम वेद के रूप में नाट्य-वेद की सृष्टि की। इस पंचम वेद के लिए ब्रह्मा को चारों देवों का सत्त्व निकालना पड़ा। ऋग्वेद से उन्होंने संवाद, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का दोहन कर नाटक रूपी नवनीत को निकाल कर देवों को भेट किया। देव-श्रेष्ठ इन्द्र ने देखा कि देवलोक में इस कला में कोई कुशल नहीं है। अतः उन्होंने यह कार्य मुनिजनों को सौंपा। महर्षि भरत ने अपने सौ पुत्रों को नाट्यकला की शिक्षा दी। स्त्री-पात्रों के लिए अप्सराओं को आमन्त्रित किया गया। कुशल शिल्पी विश्वकर्मा से नाट्यशाला का निर्माण करवाया गया। बड़ी धूमधाम के साथ ‘त्रिपुरदाह’ और ‘समुद्रमन्थन’ नाटक अभिनीत किए गए।

नाट्यवेद के निर्माण में आचार्य भरत ने ब्रह्मा द्वारा लिए गए ऋग्वेदीय-संवादों का उल्लेख किया है। ऐसे सूक्तों का सोम-विक्रम के अवसर पर अथवा महाघ्रत स्तोम के अवसर पर उपयोग किया जाता था। यम-न्यमी, उर्वशी-पुरुरवा और सरमा-पणि आदि संवाद-सूक्त इसी कोटि के हैं। बहुत संभव है कि यही सूक्त कालान्तर में नाटकों के रूप में परिणत हो गए हों। वैदिक कर्मकाण्ड में वर्णित अनुष्ठानों से विदित होता है कि धार्मिक कृतयों के अवसर पर मूक आंगिक अभिनय होते थे। सामवेद तो संगीतपरक है ही। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वेदों में नाटक के तत्त्व विद्यमान थे। नाटक-साहित्य की उत्पत्ति संस्कृत के नाटक

वैदिक काल में धर्मश्य स्वीकार्य है, किन्तु उसका परियोग्द्वित एवं विकसित स्वरूप यहुत घाद का लघित होता है।

आगे चल कर रामायण (६०० ई० प०) महाभारत (५०० ई० प०) और हरिचंश पुराण (५०० ई० प० लगभग) में नाटक की स्थापकता स्पष्टतर लघित होती दिखाई देती है। महर्षि वाश्मीकि ने तो यहाँ तक उल्लेख किया है कि जिस जनपद में राजा नहीं वहाँ नट-नर्तक प्रसंग नहीं दिराहूं देते। रामायण में रंगमंच और नाटक के प्रदर्शन का भी कठिपय स्थलों में उल्लेप हुआ है। महाभारत के बन पर्व में रंगशाला का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। महाभारतकार ने नट, नर्तक और गायक की विविध ध्येयियाँ गिनाई हैं। इसी प्रकार हरिचंशपुराण में भी रामायण की कथा पर आधारित एक नाटक खेले जाने का वर्णन हुआ है।

सुप्रसिद्ध वैयाकरण महर्षि पाणिनि (५०० ई० पूर्व) ने तो नर्यों की शिक्षा के लिए रचे गए सूत्र-ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पतञ्जलि (२०० वि० प०) ने 'कंसवध' और 'बलिधन्ध' नामक दो नाटकों के अभिनीत होने के प्रमाण उपस्थित किए हैं। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम पूर्व द्वितीय शतक में नाटक मनोरंजन का स्थायी महारथ प्राप्त कर चुके थे। छोटा नागपुर की पहाड़ियों में जिस नाट्यशाला का हाल में ही पता चला है वह ६० प० द्वितीय शताब्दी की प्रमाणित हो चुकी है।

अभ्युत्थान-युग

संस्कृत-साहित्य में नाटकों का अभ्युत्थान-युग भास से आरम्भ होता है। भास सम्बन्धी विवाद अथ अन्तिम रूप से हल हो चुका है और इतिहासकारों की अन्तिम राय इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि भास

का स्थिति-नाटक हूँ० पू० चौथी या पाँचवीं शताब्दी है । भास के नाटकों में अनूठी कहापनाशक्ति एवं रचना-रोचकता सर्वत्र विद्यमान है । उनमें निरर्थक वागिवस्तार का अभाव और मर्मस्पर्शी उद्घावनाओं का समावेश है । भास कृत १३ नाटकों का क्रम इस प्रकार है : दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोक्त, उरुभङ्ग, मध्यम व्यायोग, पञ्चरात्र, अभिषेक नाटक, बालचरित, अविमारक, प्रतिमा नाटक, प्रतिज्ञायौगंधरायण, स्वमवासवदत्त और चारुदत्त । हन्तके अतिरिक्त 'वीणा वासवदत्त' और 'यज्ञफलम्' हन दो नाटक कृतियों को भी भास के नाम के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, वस्तुतः जो भास के बहुत बाद में रखी गई हैं ।

नाटककार के रूप में भास के बाद महाकवि कालिदास का स्थान आता है । विश्व के इतिहास में हलचल मचा देनेवाली महाकवि कालिदास की कृतियों का अपना विशिष्ट स्थान है । विश्व के साहित्याकाश में कालिदास की भारती आज भी उर्वर मस्तिष्क भारतीयों का व्यक्तिव देवीप्यमान कर रही है । नाटक के द्वेत्र में कालिदास ने 'भालविकाम्भिमित्र', 'विक्रमोवशीय' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' हन तीन कृतियों का प्रणयन किया है । 'अभिज्ञान शाकुन्तल' कालिदास का ही नहीं अपितु संपूर्ण संस्कृत-साहित्य का उदीयमान रहा है । ग्रेम और सौन्दर्य का जैसा सरस, हृदयग्राही एवं मर्मान्तक चित्रण 'शाकुन्तल' की पंक्तियों में चित्रित किया गया है उसकी तुलना नहीं की जा सकती । जर्मन के महाकवि गेटे की प्रशंसा का यह संस्कृत रूप—

'स्वर्लोकभूलोकयो—

रैश्वर्यं यदि वांछसि प्रियसखे, शाकुन्तलं सेव्यताम् ।'

कि स्वर्ग और पृथ्वी के ऐश्वर्य का एक साथ उपभोग करना है तो संस्कृत के नाटक

शाकुन्तल का अनुशीलन करो, वहुत ही उपयुक्त है। १०० प० प्रथम शतक कालिदास का स्थितिकाल निश्चित हुआ है।

तीसरे नाटककार शूद्रक हैं। कुछ इतिहासकारों ने इनको महाकवि कलिदास का पूर्ववर्तीं सिद्ध किया है और कुछ इन्हें ईस्त्री की पाँचवर्षी शताब्दी में निर्धारित करते हैं। इन्होंने 'पश्चप्राभृतक' नामक एक भाण रचना के अविरिक्त 'मृद्धकटिक' नाटक की रचना की है। 'मृद्धकटिक' की अपनी विशेषता यह है कि उसमें तत्कालीन समाज का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। शौद्ध विद्वान् अश्वघोष (ईसा की प्रथम शताब्दी) का व्यक्तित्व जहाँ एक महाकाव्यकार के रूप में चित्रित है वहाँ नाटक के लेखन में भी उनका 'शारिपुत्र प्रकरण' उल्लेखनीय है। सन्नाट् हर्षवर्घन (सप्तम शताब्दी) श्री और सरस्वती के समान रूप से प्रिय थे। इनकी नाटक कृतियाँ 'मियदर्शिका', 'रक्षावली' और 'नागानन्द' प्रथम कोटि की कृतियाँ हैं।

संस्कृत-साहित्य की अमर विभूतियों में भवभूति (सप्तम शताब्दी) की असामान्य प्रतिभा से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। भवभूति का देव नाटक-रचना तक ही सीमित रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य को वे एक स्थायी वस्तु दे गए हैं। भवभूति ने तीन नाटकों की रचना की है—'महावीर-चरित', 'मालती-माधव' और 'उत्तर-रामचरित'। अन्तिम कृति इनकी सर्वोक्तुष्ट है। 'उत्तर-रामचरित' में करुण रस की ऐसी शैवलिनी प्रवाहित हुई है जिसके कण-कण में ग्राणों को स्पर्श करने वाला एक विचित्र अनुभूति है।

भवभूति के पूर्ववर्ती नाटककार विशाखदत्त (पष्ठ शताब्दी) कृत 'मुद्राराशस' अपना पृथक् स्थान रखता है। इस घटनाप्रधान नाटक में राजनीति और कूटनीति की कृटिल घालों का जिस निपुणता से

चिन्मण किया गया है उससे नाटककार की उलझी हुई छुदि का स्पष्ट पता लगता है। इनके नाम से एक 'देवीचन्द्र गुप्त' नाटक कृति का भी उल्लेख होता है जो संप्रति अनुपलब्ध है।

'वेणी-संहार' के रचयिता भट्टनारायण (अष्टम शताब्दी) एक नाटककार के रूप में विद्वत्समाज के सुपरिचित व्यक्ति हैं। इसी प्रकार 'अनर्धराघव' नाटक के प्रणेता मुरारी (अष्टम शताब्दी उत्तरार्ध) की विद्वत्ता भी उल्लेखनीय है। रामकथा की जो प्राक्षलता 'उत्तर-राम-चरित' में प्रदर्शित हुई है उसकी अपेक्षा 'अनर्धराघव' का कथानक कीका प्रतीत होता है। शक्तिभद्र (नवम शताब्दी) कृत 'आश्र्वय चूढामणि' में 'अनर्धराघव' की अपेक्षा रामकथा को सुन्दर रूप से सँजोया गया है। शक्तिभद्र के ही समकालीन दामोदर मिश्र के 'हनुमज्ञाटक' की वृहत्काया में कोई उल्लेखनीय विशेषता प्रतीत नहीं होती।

कविराज राजशेखर (नवम शताब्दी उत्तर०) का परिचय जहाँ पक काच्चशास्त्री, कोशकार और महाकाव्यकार के रूप में उपलब्ध होता है वहाँ नाटक के लेन्ड्र में भी उनकी विशेष ख्याति है। राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की है—'कर्पूरमंजरी,' 'विद्वशालभंजिका,' 'वाल-रामायण' और 'वाल-भारत' (प्रचण्ड-ताण्डव)। इन कृतियों का भाषा-पाठ्य, छन्द-कौशल और शब्द-विन्यास अवलोकनीय है। इन्ही के समकालीन एवं सहयोगी नाटककार क्षेमीश्वर विरचित नाटकद्रव्य—'नैपधानंद' और 'चण्डकौशिक'—में वह आकर्षण कहाँ जो राजशेखर की कृतियों में लिखित होता है।

हास-युग

राजशेखर के बाद संस्कृत-साहित्य में नाटक-ग्रन्थों का लेन्ड्र कुछ प्रभावविहीन लिखित होता है। दिल्लीग (दशम शतक) की 'कुन्दमाला' के अनन्तर कृष्णमिश्र (एकादश शताब्दी) का 'प्रबोध-संस्कृत के नाटक

‘चन्द्रोदय’ भाषा, भाष और शैली की हस्ति से समादरणीय नाटक कृति है। तदनन्तर रामचन्द्र (द्वादश शतक) कृत ‘नलविलास,’ ‘सत्यहरिचन्द्र’ और ‘कौमुदी मित्रानन्द’ का नाम उल्लेखनीय है। ‘प्रसन्न-राघव’ नाटक के रचिता जगदेव (द्वादश शतक) की सुन्दर पदशब्दया और ललित पद्धतिन्यास भवभूति की याद दिलाते हैं।

धारहर्वी शताब्दी के अमर नाटककार महामात्य वरसराज ही ऐसे नाटककार हुए हैं जिन्होंने भास की भाँति अनेक नाटक लिखे। उन्होंने ‘किरातार्जुनीय’ ध्यायोग, ‘कर्पूर-चरित’ भाण, ‘हास्य-चूहामणि’ प्रहसन, ‘रुक्मिणीहरण’ ईहास्त्रा, ‘त्रिपुरवाह’ छिम और ‘समुद्रमन्थन’ समवकार नामक छः रूपकों की रचना की। तेरहर्वी शताब्दी में जयसिंह सूरि कृत ‘हमीर-मद-मर्दन’, कविवर्मा कृत ‘प्रद्युम्नामयुदय’ और यशपाल कृत ‘मोहपराजय’ का नाम उल्लेखनीय है। चौदहर्वी शताब्दी में वेंकटनाथ कृत ‘संकल्पसूर्योदय’ एवं घामन भट्ट बाण का ‘पार्वती-परिणय’ ये दो कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। सोलहर्वी शताब्दी में विचित्र कर्णपूर का ‘चैतन्य चन्द्रोदय’, महादेव का ‘अनुकूल दर्पण’ और जगदीश कृत ‘हास्यार्णव’ नाटकों की गणना की जा सकती है।

इस प्रकार संस्कृत के नाटक-साहित्य का आधोपांत्र अनुशीलन करने के उपरान्त प्रतीत होता है कि उसका बृहद् भांडागार अमूल्य निधियों से भरपूर है। ईस्वी पूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी से लेकर सोलहर्वी शताब्दी तक संस्कृत नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा के ये बीस शतक इस सत्य के धोतक हैं कि भारत का अतीत व्यक्तिगत कितना प्रभावमय और प्रतिभासम्पन्न रहा है। संस्कृत का एक-एक नाटक-रक्त भारतीय साहित्य की अमर घरोहर है। कुछ संस्कृत नाटक तो इतने प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए कि विश्व की समस्त समुद्भव भाषाओं में उनका

अनुवाद तक हो जुका है और किसी-किसी भाषा में उनके दो-दो, तीन-तीन संस्करण निकल जुके हैं। जन-सामान्य की अन्तर्वृत्तियों को स्पर्श करने में संस्कृत के नाटककारों की अपनी मौलिक विशेषता रही है। यही कारण है कि संस्कृत में जहाँ बहुत सस्ती नाटक कृतियाँ देखने को मिलती हैं वहाँ साथ ही उद्धि को मन्थित कर देने वाली पुरं मस्तिष्क को गूढ़ ग्रन्थियों में जकड़ देने वाली कृतियों की भी कमी नहीं है।

—००५००—

संस्कृत के गीतिकाव्य

संस्कृत-वाद्यय में गीतों की परम्परा ऋग्वेद में सुरक्षित उपासंघंधी गीतों से उदृष्ट की जा सकती है। एकान्त भावधारा में तन्मय होकर हमारे महाप्राण महर्षिवरों ने इन गीतों का उद्गायन आरिमक सुखो-पलविध के लिए किया था। समस्त सामन्यान जीवन की तन्मयता से आन्यायित है। हृदय को निरादित कर देने वाले ये सुकोमल सप्तक संगीतजिज्ञासुओं के लिए अनन्त पाठ्य हैं। लौकिक जीवन में इन गीतों का समारम्भ 'सुभाषित-संग्रहण' की सरस-शब्दावलियों से होता है और महर्षि पाणिनि (५०० ई० पू०) के नाम से पाई जाने वाली सुक्कक रचनायें गीतिकाव्य की दिशा में सर्वप्रथम हमें आकृष्ट करती

हैं। जीवन की एकदेशीय तन्मयता इन गीतों की प्रमुख विशेषता है। आश्रय होता है कि पाणिनि जैसे खूसट वैयाकरण ने किस भावधारा में प्रवाहित होकर ऐसे वचनामृतों को जन्म दिया होगा।

गीति-काव्य के प्रणेताओं में सहर्षि पाणिनि के उपरान्त महाकवि कालिदास (प्रथम शतक ३००-४००) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महाकवि की दो कृतियाँ—‘ऋतुसंहार’ और ‘भेघदूत’ गीति-उपवन के दो पुण्य-द्वय हैं जिनकी भीनी-भीनी महक से काष्याकाश का चतुर्दिक् सुवासित है। ‘ऋतुसंहार’ पह्ले ऋतों का संघात है, जिसमें क्रमशः श्रीम, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त का मर्मस्पर्शी सौन्दर्य तिरोभूत है। प्रकृति के वास्तु सौन्दर्य के साथ मानवीय प्रणय का ऐसा कान्त संयोग कम काव्य में उचित होगा। इसमें यौवन-जीवन का ऐसा उद्घाम प्रवाह प्रवाहित हुआ है जिसमें कामातुर युवक पूर्व ग्रेम-विद्धि तरुणियाँ अवगाहित हुए बिना नहीं रहतीं। इसका कारण यह है कि महाकवि ने अपने तारण्य के छोरों में इस काव्य की रचना की थी। एक दिन, जब कि कवि की जीवन-घणियों में वसन्तोत्तम की भूमि मच्ची होगी, अन्तर में एक अनजानी सी सिहरन पैदा हुई होगी, जब कि कवि ने नववधू के केशपाश में गुँथा अशोकपुण्य देखा होगा, जब उसको आम्रमंजरी तीर के समान प्राणवेदक प्रतीत हुई होगी और वावरी कोयल वन्दीजन के रूप में इस उत्तरव का सन्देश हाट, बाट, पनघट सभी जगह पहुँचा देती रही होगी, जिसको सुनकर सहस्र कोकिलकंठी सुन्दरियों की स्वरमाधुरी गुंजरित हुए बिना न रही होगी, प्रणय के ऐसे मर्मान्तक छोरों में कवि का युवक-हृदय आन्दोलित हुआ होगा और तब उसने दुःखदायी श्रीम को लक्ष्य करके कहा होगा—

ब्रजतु तव निदावः कामिनीभिः समेतो ।

निशि सुललितगीते हर्म्यग्रष्टे सुखेन ॥

प्रणय की पृकान्त आराधना, जो कि गीति-काव्य की आत्मा का निजस्व है, 'मेघदूत' की पंक्ति-पंक्ति में आध्यायित है। विरही यज्ञ की मनोव्यथा से उद्भूत पुक मर्मस्पर्शी कंपन हस काव्य में समाहित है। यज्ञ की बन्धी आत्मा 'मेघदूत' के गीतों में फूट पड़ी है। मन्दाक्षान्ता छन्द में मारुर्य की ऐसी रस-शैवलिनी प्रवाहित हुई है जिसके प्रत्येक कल-कल में अनिर्वचनीय स्वर-संधान हृदय को उद्वेलित पवन मन को बोद्धल्यमान कर देते हैं। विवासित विरही-जीवन की प्रणय-पिपासा, जिसका सन्देशवाहक मेघ है, प्राणों को आकुल कर देने वाली पिपासा है। मेघ को सम्बोधित करते हुए यज्ञ अपनी साध्वी पक्षी की जिस विरह-विधुर दशा का शब्दचित्र अंकित करता है, वह देखने योग्य है। यज्ञ कहता है—‘भव्या मेघ, विरह-व्यथित मेरी प्रियतमा के पास पहुँच कर तुम देखोगे कि मलिनवस्त्रावृत, वीणा को गोद में लिए वह कुछ ऐसे गीत गाने की उत्कण्ठा में होगी जिसमें केवल मेरे नामाङ्करों की आवृत्ति तुम सुनोगे। उस समय आँखों से भीनी वीणा को बड़े कष्ट से अपसारित कर वह हतनी विह्वल ही जायगी की अपनी मूर्ढना तक भूल चैठेगी।’

आत्मर अवस्था में गाये हुए निर्वासित यज्ञ के वे विरह-गीत आह-जनित पीढ़ा के आन्तरिक उद्घास है। उन गीतों में स्पन्दन है, क्रन्दन है और है वास्तविक दोपत्य-जीवन का चित्रांकन, जिनमें अन्तःसौन्दर्य का पूर्ण रूपांकन हुआ है। 'मेघदूत' विश्व-साहित्य में विप्रलंभ शक्तार का, विरही मानव के विद्रघ हृदय का अतुलनीय गीति-काव्य है।

'मेघदूत' के बाद हाल कवि (इसा की प्रथम शताब्दी) कृत 'गाया-सप्तशती' में गीतिकाव्य की सरसता सुरित हुई है। सात सौ आर्या छन्दों का यह सुभाषित-संग्रह शक्तार रस की चुनी हुई उक्तियों

का संग्रह है। इन गाथाओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये लोक-जीवन को लघ्य कर लिखी गई है। इनमें ग्राम्य-जीवन का सजीव सौन्दर्य व्यञ्जित हुआ है। निसर्ग सुन्दर ग्राम्य-सुन्दरियों की रासकीड़ायें एवं उनके भोले भाव बड़ी स्वाभाविकता से व्यञ्जित किये गये हैं।

गीतिकाव्य के छंत्र में अमरुक (सम्भवतः सप्तम शतक) का 'अमरुक शतक' विशेषतः उत्त्लेखनीय है। अमरुक का व्यक्तित्व एवं उसका स्थितिकाल पैतिहासिक इष्टि से भले ही विवाद का विषय हो, किन्तु 'अमरुक शतक' अवश्य एक युगान्तकारी रचना है, इसकी पारदर्शिता में सन्देह करने का कोई कारण हमारे पास नहीं। इस काव्य में गीति-काष्योपयोगी उन सभी विशेषताओं का सञ्चिवेश है, जिनमें हृदय की नैसर्गिक भावविहूलता एवं अन्तःकरण की दोदूल्यमान आत्मरता के सजीव दर्शन होते हैं। परिमित शब्दावली में सरस भावों का आरोह-आवरोह बड़ी निपुणता से अभिव्यञ्जित हुआ है।

तदनन्तर गीतिकाव्य की धुँधली किरणें महर्षि भर्तृहरि (लगभग सप्तम शतक) कृत शतकत्रय : 'नीतिशतक', 'शंगारशतक' और 'वैराग्यशतक' के धाद गोवर्धनाचार्य (द्वादश शतक) कृत 'आर्यासिसुशती' में स्पष्टतर होती हुई जयदेव (द्वादश शतक के उत्तरार्ध) कृत 'गीत-गोविन्द' में पहुँच कर पूर्णालोक की प्राप्त हुई। 'गीत-गोविन्द' गीतों का वह निकुञ्ज है, जिसकी सघन छाया में राधा-कृष्ण के प्रणय-परिहास, आशा-निराशायें एवं वियोग-मिलन की विविध क्रीड़ायें पोषित हुई हैं। कृष्ण के साथ ग्राम्य-गोपिकाओं का ऐसा एकान्त संयोग केवल इसी काव्य का विषय है। राधा-कृष्ण की प्रेम-परम्परा का ऐसा रसमदपूर्ण रूप किसी भी इतर काव्य में नहीं पाया जाता। 'गीत-गोविन्द' के सभी पद गेय हैं। इस गीत-ग्रन्थ की रचना संस्कृत के गीतिकाव्य

बद्धाल के उन उत्सवों को लघ्य कर की गई है, जिनमें गीतों का उपयोग नृथ्य पूर्व संगीत के लिए किया जाता था। इसके पश्च कथासूत्र में दैर्घ्ये होते हुए भी अपने-आप में स्वतन्त्र हैं।

छुछ समालोचकों ने जयदेव को घोर शृंगारी की संज्ञा देकर 'गीत-गोविन्द' को अश्लील गीतों का—राधा-कृष्ण के प्रति धृषित प्रेम का—संकलन माना है, किन्तु उन लोगों की स्थूल हाइ दास्पत्य-प्रणय की उस सूखमता पर नहीं जाती, हमारे प्राचीन भाचार्यों पूर्व महाकवियों ने जिसकी आधारभूमि भक्तिभेद में माधुर्य भाव की मानी है। 'गीत-गोविन्द' में सर्वों का आरोह-भवरोह, भावों की गहराई, आलाप का माधुर्य पूर्व आव्हाद की अतिशयता सर्वत्र विद्यमान है। लय पूर्व अनुप्रासों का प्रयोग विशेष रूप से सचेष्ट होकर किया गया है।

प्रणय को उक्त सौन्दर्य-भावना घाणा सौन्दर्य से कहीं ऊपर उठकर अन्तः सौन्दर्य की ओर उन्मुक्त है—स्थूल से सुखम की ओर। उसमें आत्मसमर्पण है और है प्राणों का दर्द समाहित। 'गीत-गोविन्द' में सुखन्दुःख, पूर्व संयोग-वियोग का अनैक्य नहीं है, अपितु गीतकार के लिए जितना प्रिय सुख होता है, उससे कहीं अधिक प्रिय दुःख। यही कारण है कि संयोग शङ्कार की अपेक्षा वियोग शङ्कार में प्राणों का अधिक स्पन्दन देखा गया है, क्योंकि सुख की अपेक्षा दुःख और संयोग की अपेक्षा वियोग प्राणों के अधिक निकट होता है।

जयदेव के घाट पण्डितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शताब्दी) कृत 'माभिनीविलास' का नाम गीति-काव्य के द्वेष में उल्लेखनीय है। यह काव्य चार विलासों : प्रास्ताविक-विलास, शङ्कार-विलास, करुणा-विलास पूर्व शान्त-विलास—में विभक्त हैं। प्रत्येक-विलास प्रांजल-पदलालित्य में, भाव-सौबह्य में तथा शैली की श्रेष्ठता में, अनुपम है। इसके सभी

पद्म मुख कहे हैं। 'भासिनी-विलास' के अतिरिक्त पंचलहरियाँ : गंगा-लहरी, सुधालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी तथा लघमीलहरी सरस-स्रोत की तरंगायित लहरें हैं। माधुर्य रस का जैसा अजन्म स्रोत इन पंचलहरियों में फूट पड़ा है वह अन्यत्र अनुलनीय है। फिर भी गीतारमक शैली में 'भासिनी-विलास' ही प्रमुख स्थान रखता है।

पण्डितराज की सबसे बड़ी विशेषता देखने को यह मिलती है कि उनके पद चिन्नवत् आँखों के समुख नाचते हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट कर देना बांच्छनीय है। किसी सुंदरी के सस्मित मुखमण्डल का शब्दचिन्न देखने योग्य हैं :

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम् ।

आलोक्य धावस्युभयत्र मुख्या मरन्दलुधालिकिशोरमाला ॥

अर्थात् 'मरन्द' के लोभी अमरकमल और किसी तरुणी की सस्मित मुखाकृति दोनों को एक समान जानकर यह निश्चित ही नहीं कर पा रहे हैं कि कौन कमल है और कौन मुख ? इस अम में पढ़े वे कभी कमल की ओर और कमल से मुख की ओर चक्कर काट रहे हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गीति-काव्य का जैसा सुन्दर और पूर्णतः पेशलरूप संस्कृत-साहित्य में अभिव्यंजित हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं। यद्यपि कम ही कवि इस विषय पर लिखे हैं, किन्तु उनकी निपुणता में सन्देह करने की गुंजायश नहीं। क्या छन्दबन्ध, क्या संगीत-माधुर्य, क्या अलंकारों का सुचारू प्रयोग और क्या भावों की तरलता, सभी में एक गति है और है प्राणों को स्पर्श कर देने वाला लय-संन्तरण। केवल आवश्यकता जिज्ञासु धनने की है।

संस्कृत के कथाकाव्य

संस्कृत-साहित्य में कथा-काव्यों का घदा महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व-भ्यापक सा की इसि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि संसार के साहित्य को इन भारतीय भाष्याओं ने बहुत प्रभावित किया। इन कथाओं के लोकप्रिय होने का कारण यह है कि हास्य और कुतृहल से संयुक्त इनके विनोदारमक उपदेश घड़ी ही सरस, सरल और समार्कर्षक शैली में लिखे गए हैं। संस्कृत भाषा की इन औपदेशिक जंतु-कथाओं और लोक-कथाओं का अपना विशिष्ट स्थान है।

संस्कृत-साहित्य में ये कथाएँ दो प्रकार से लिखी गई हैं। पहली प्रकार की कथाएँ वे हैं जो नीति-प्रधान हैं। इनमें पंचतंत्र और हितोपदेश की कथाओं का निर्देश किया जा सकता है। दूसरी प्रकार की कथाएँ लोक-कथाओं के नाम से अभिहित की जाती हैं। लोक-कथाओं में 'वृहत्कथा' का उल्लेख प्रमुख है।

ये मनोरंजक कथाएँ लोक-जीवन को लच्छ करके ही लिखी गई हैं। इनमें मोक्षातिरिक्त त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम का ही प्रतिपादन है। पशु-पक्षी और धूर्त-लंपटों की इन कथाओं में रोचकता के साथ-साथ नीतिप्रक विचारों का भी सुषुप्त समावेश दर्शानीय है। शिशु-जीवन की कुतूहलमयी प्रकृतियों को स्पर्श करने और उनकी जिज्ञासाओं को उत्तरोत्तर बलवत्तर बनाने की असाधारण चमता इन कथाओं में विद्यमान है। सरल और रोचक भाषा में लिखी होने के कारण संस्कृत के आरम्भिक विद्यार्थियों के लिए इन कथाओं का बड़ा महत्व है। वेदों से लेकर उपनिषद्, पुराण और बौद्ध-जातकों तक में इस प्रकार की आख्यायिकाओं का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है, फिर भी लौकिक साहित्य में 'महाभारत' (६०० ई० पू०) से इन कथाओं की परम्परा को उद्घाट किया जा सकता है। 'महाभारत' में वर्णित पुण्यात्मा विहीं और नीति-पद सियार की कथाएँ इसके उदाहरण हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश और वृहत्कथा में इसी प्रकार की कथाओं का समावेश है।

पंचतंत्र

'पंचतंत्र' आज मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। इसके चार विविध संस्करण उपलब्ध होते हैं। पहला पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में अनूदित (५३३ ई०) संस्करण, दूसरा गुणाव्य की 'वृहत्कथा' का,

जो सोमदेव (१००० ई०) कृत 'कथासरित्सागर' में सुरक्षित है, तीसरा 'तन्त्राल्यायिका' बाला संस्करण (३०० ई०) और चौथा दक्षिण भारतीय (६०० ई०) संस्करण । प्रो० हर्टल और डा० पूर्जर्नन ने इन्हीं उक्त संस्करणों के आधार पर 'पंचतंत्र' पर प्रामाणिक प्रकाश डाला है ।

विद्वानों की अन्तिम राय है कि 'पंचतंत्र' की रचना ईसा की तीसरी शताब्दी से पूर्व हो चुकी थी । इसकी लोकप्रियता और विश्व-भ्यापकता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि प्रचार की दृष्टि से 'धाइविल' के बाद 'पंचतंत्र' का ही स्थान है । आज तक इसके पचास से अधिक भारत की बाहरी भाषाओं में लगभग २५० संस्करण निकल चुके हैं और आज भी इस पर कार्य हो रहा है ।

'पंचतंत्र' की उपलब्ध प्रति में पाँच तंत्र (अध्याय) हैं—मित्रमेद, मित्रलाभ, संघि-विग्रह, लघ-प्रणाल और खपरीसितकारक । महिलारोप्य के राजा अनरशक्ति के तीन भूर्ख पुत्रों को नीतिशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए विष्णुशर्मा नामक ग्राहणने छः भास तक उन्हें 'पंचतंत्र' की शिक्षा दी थी ।

हितोपदेश

भौपदेशिक जन्म-कथाओं में 'पंचतंत्र' के बाद 'हितोपदेश' की गणना आती है । 'पंचतंत्रात्तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृप्य लिख्यते' वाक्य से स्पष्ट है कि 'हितोपदेश' का रचयिता 'पंचतंत्र' से ही प्रभावित हुआ था । यही कारण है कि 'हितोपदेश' की भृत कथाओं में २५ कथाएँ 'पंचतंत्र' से ही लीगई हैं । 'हितोपदेश' में—मित्रलाभ, सुहङ्गेद, विग्रह और सन्धि—ये चार परिच्छेद हैं ।

संस्कृत के भारतीय अध्ययन के लिए 'पंचतंत्र' की अपेक्षा 'हितोपदेश' का अधिक प्रचलन है । इसका कारण यह है कि

‘हितोपदेश’ में भाषा-शैली की सुगमता, सरलता और संरसता अधिक है। इसके लोक वडे उपदेशात्मक और नीतिपरक हैं। जहाँ पथ-भाग की अधिकता है, वहाँ कथा की रोचकता अवश्य कम हो गई है। ‘हितोपदेश’ का रचयिता नारायण बंगाल के राजा धवलचन्द्र का सभापिण्डि था। ‘हितोपदेश’ का रचनाकाल १४ वीं शताब्दी है।

बृहस्पति

संस्कृत के कथा-साहित्य में जिस प्रकार औपदेशिक जन्मु-कथाओं में ‘पंचतंत्र’ का प्रधान स्थान है उसी प्रकार मनोरंजनात्मक लोक-कथाओं में ‘बृहस्पति’ की प्रमुखता है। ‘पंचतंत्र’ और ‘बृहस्पति’ की कथाओं में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि ‘पंचतंत्र’ की कथाएँ जहाँ पशु-पक्षी-प्रधान हैं, ‘बृहस्पति’ के पात्र वहाँ मनुष्य-प्रधान हैं। इसीलिए ‘पंचतंत्र’ आदि की कथाएँ औपदेशिक जन्मु-कथाओं के रूप में प्रचलित हैं और ‘बृहस्पति’ की कथाएँ लोक-कथाओं के रूप में परिचित हैं।

‘बृहस्पति’ ‘पंचतंत्र’ से प्राचीन थी। मूल ‘बृहस्पति’ पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी और उसमें पृक लाख पद्य थे। ‘काव्यादर्श’ का रचयिता दण्डी (सप्तम ‘शताब्दी’) ‘बृहस्पति’ को गद्य-बद्ध होना लिखता है। मूल ‘बृहस्पति’ उपलब्ध नहीं है। इस कथा-ग्रंथ का रचयिता महाराज हाल का सभा-पंडित गुणाल्य था। गुणाल्य ने अपने समय की प्रचलित लोक-कथाओं को पृक्त्र कर इस बृहस्पति कथाग्रन्थ का अनुयन किया था। उसका रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी था।

पश्चिमीय ‘पण्डितोंने ‘महाभारत’ को ‘एपिक विदिन एपिक’ (महाकाल्य के भीतर महाकाल्य) कहकर अभिहित किया है। ‘महाभारत’ की भाँति ही ‘बृहस्पति’ भी अनेक काल्यों-महाकाल्यों की जन्मदान्त्री है। ‘महाभारत’ के उपाख्यानों पर रचे गए अनेक काल्य,

महाकाव्य और नाटकों के द्वारा जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य की प्रशंसनीय अभिवृद्धि हुई है, ठीक उसी प्रकार 'बृहस्पति' के कथानकों के आधार पर भी संस्कृत-साहित्य में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। भास, श्रीहर्ष, शूद्रक, दण्डी और दाण प्रसृति नाटककारों एवं महाकाव्यकारों ने 'बृहस्पति' के कथा-सूत्रों पर बृहस्पति ग्रन्थों की रचना की है। 'बृहस्पति' के नीचे छिले तीन संस्कृत रूपान्तर आज उपलब्ध होते हैं :

१. बृहस्पति-श्लोक-संग्रह—'बृहस्पति' का यह प्राचीनतम रूपान्तर है। इसके रचयिता बुद्ध स्वामी हैं, जो कि नेपाल के रहनेवाले थे। इनका स्थितिकाल आठवीं-नवीं शताब्दी के बीच है। इस संग्रह के २८ सर्गों में केवल ४, ५२४ श्लोक ही उपलब्ध हैं।

२. बृहस्पति-मंजरी—इसके रचयिता स्मैंद्र कश्मीर के राजा अनन्त (१०२९-१०६४ ई०) के समा-पण्डित थे। इस संग्रह में ७,५०० श्लोक हैं। इसकी मापा और कथानक दोनों में प्रसावोत्पादकता की कमी है।

३. कथासरित्सागर—तीसरा अनूदित रूप है। इसके कर्ता सोमदेव, स्मैंद्र के ही समकालीन और समदेशीय थे। इसकी रचना लगभग १०६७ ई० में हुई थी। इस रूपान्तर में २४,००० श्लोक हैं। प्राचीनता और बृहस्पति की इष्टि से विश्व भर का कोई भी कथा-संग्रह 'कथा-सरित्सागर' की समकक्षता नहीं रखता है।

इसके पश्चात् संस्कृत-साहित्य में कथा-काव्यों की पत्रपरा शिखिल दिखाई देती है। 'बृहस्पति-मंजरी' और 'कथासरित्सागर' के अनुकरण पर रचे गए, शिवदास (१२०० ई०) और जंभलदत्त (१३०० ई०) कृत 'वैताल-पञ्चविंशतिका' (वैताल-पञ्चवीसी) की २५ कथाओं के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। ये कहानियाँ बही रोचक, ज्यावहारिक और

कुरूद्वालपूर्ण शैली में लिखी गई है। वौद्ध और जैन विद्वानों ने भी कथाओं के वैत्र में व्याकाम किया है। किसी अज्ञातनामा वौद्ध कथाकार का भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म-सम्बन्धी कथाओं पर लिखा हुआ 'अवदान-शतक' सबसे प्राचीन संग्रह है। आर्यशूर (चौथी शताब्दी)-कृत 'ज्ञातकमाला' में जातकों की पचासद्वय कथाएँ वर्णित हैं। हसी प्रकार जैनाचार्य हेमचन्द्र (एकादश शताब्दी)-कृत 'परिशिष्टपर्वन्' का नाम भी उल्लेखनीय है।

कुछ अज्ञातनामा कथाकारों के, ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच लिखे हुए, कथा-संग्रह मिलते हैं। इनमें 'सिंहासन-द्वात्रिशिका' (सिंहासन-वर्तीसी) और 'शुक-सप्तशती' के अनेकविधि संस्करण उपलब्ध होते हैं। 'सिंहासन-द्वात्रिशिका' में धारा-नरेश भोज (१०१८-६३ ई०) का उल्लेख मिलता है। 'शुक-सप्तशती' १४ वीं शताब्दी में फारसी भाषा में अनूदित हो चुकी थी। १५ वीं शताब्दी में सुप्रसिद्ध मैथिल-कोकिल विधापति-कृत 'पुरुष-परीक्षा' और १६ वीं शताब्दी में वस्त्रालसेन-कृत 'भोज-प्रबन्ध' की कथाओं में संस्कृत-साहित्य का यह रुचिकर अध्याय समाप्त-सा हो जाता है।

इन भारतीय कथाओं का उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर इनके महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। संसार के पुक्कोर से लेकर दूसरे छोर तक समान रूप में इनका आदर हुआ है। विश्व-साहित्य में एक युगान्तर उपस्थित करनेवाली इन भारतीय कथाओं की सुरुचिपूर्ण आडम्बर-रहित सीधे-सादे ढंग की वर्णन-शैली ने ही इन्हें विश्व-व्यापक सम्मान प्रदान किया है। भारतीय मनीषियों की यह देन उनकी असामान्य प्रतिभा को युग-युगों तक अमर बनाए रखेगी।

संस्कृत के गद्यकाव्य

विश्व की किसी भी जाति के साहित्यिक अभ्युदय में गद्य का महत्वपूर्ण योग रहा है। संसार की प्राचीनतम तीन मूल भाषायें : ग्रीक, लेटिन और संस्कृत गद्य के सहयोग से ही पनपी और विकसित हुई हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि आज की प्रबृद्धिशाली एवं सन्प्रस भाषाओं के गद्य की समकाच्चता में संस्कृत का गद्य-साहित्य किसी भी इटि से न्यून नहीं है। संस्कृत-चार्चाय में गद्य-ग्रन्थों की प्रणयन-परम्परा बहुत प्राचीन है। कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी (सं० ए० २५००) आदि मंत्र-संहितायें गद्य-प्रधान हैं। मंत्र-संहिताओं की व्याख्या करने वाले समस्त वाहण-ग्रन्थों (२५००-१४०० वि० प०) की रचना

गद्य में ही हुई है। उपनिषदों (५०० हृ० प०) में भी गद्य-भाग की कमी नहीं।

यास्क (७०० हृ० प०) का 'निरुक्त' भी गद्य-प्रधान है। भाष्यकार पतंजलि (२०० हृ० प०) ने 'महाभाष्य' की रचना जहाँ गद्य में की है वहाँ अपनी पूर्ववर्ती वासवदत्ता, सुभनोत्तरा और भैमरथी नामक तीन आख्यायिकाओं का भी निर्देश (महाभाष्य ४३।८७) किया है। इसके अतिरिक्त रुद्रदामन् (१५० हृ०) का गिरनार पर्वत वाला शिला-लेख और हरिपेण (३५० हृ०) कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति गद्य में ही उल्कीर्णित है।

दर्शन-ग्रंथों का गद्य

दर्शन-शास्त्र में शास्त्रीय गद्य की अवतारणा करने वाले तीन दार्शनिकों—शबर स्वामी (४०० हृ०), शंकराचार्य (७०० हृ०) और जयन्तभट्ट (९०० हृ०) का नाम उल्लेखनीय है। प्रौढ़ मीमांसक शबर स्वामी का 'कर्ममीमांसा-भाष्य', भाष्यकार शंकर कृत 'ब्रह्मसूत्र' 'रीता' तथा 'उपनिषदों' का भाष्य और न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध पंडित जयन्तभट्ट कृत 'न्याय-मंजरी' गद्य का परिष्कृत एवं सुसंस्कृत रूप उपस्थित करते हैं।

दर्शन-शास्त्र के अति सूचम पुर्वं रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले उक्त तीनों भाष्यकारों का गद्य असाधारण एवं पारिभाषिक शैली में लिखा गया था। उसमें हुरुहता और पाण्डित्य की अधिकता थी, जिसका प्रयोग किए यिन्ता दार्शनिक जैसे कठिन मतवादों की मीमांसा करना सम्भव नहीं था। अतः भाष्य-शैली का यह दार्शनिक गद्य आगे व्यापक न हो सका। लौकिक साहित्य में इस प्रकार के संस्कृत के गद्यकाव्य

प्रवृद्धिशील, लोकप्रिय और अनुकरणीय गद्य का प्रादुर्भाव दण्डी, सुवंतु और याणमंट की कृतियों से उत्पन्न होता है।

संस्कृत के गद्य-निर्माता

संस्कृत के गद्य-निर्माताओं में दण्डी का स्थान प्रमुख है। दण्डी के जन्म काल के सम्बन्ध में विविध विद्वानों की अलग-भलग धारणा है। ३० वानेंट, पीटर्सन, याकोवी तथा ३० वेलवेलकर प्रमुति इतिहासकारों एवं समालोचकों ने पाँचवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक दण्डी का काल विभिन्न तिथियों में निर्धारित किया है। इतिहासकारों की प्रामाणिक एवं अन्तिम राय इस सम्बन्ध में यह है कि दण्डी विदर्भदेशीय दाचिणात्य थे और उनका स्थितिकाल षष्ठी शताब्दी था।

दण्डी के स्थितिकाल की ही भौति उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी अनेक मत रहे हैं। राजशेखर (नवम शताब्दी) द्वारा निर्दिष्ट—‘त्रयो दण्डि-प्रबन्धात्मा त्रिपु लोकेषु विष्वताः’ श्लोक के अनुसार दण्डी की तीन रचनाओं का उल्लेख पाया जाता है; किन्तु कवियों का नाम-निर्देश अनेक मत से किया गया है। ‘कान्यादर्श’, ‘दशकुमार चरित’ और ‘अवन्ति-सुन्दरीकथा’ ये तीन कृतियाँ अन्तिम रूप से दण्डी कृत मानी गयी हैं। पहिला ग्रन्थ बलंकार-शास्त्र पर लिखा गया है और वाद की दोनों कृतियाँ गद्य-काव्य हैं। इन दोनों रचनाओं को देखने से पता चलता है कि दण्डी एक सिद्धहस्त गद्य-लेखक थे। दण्डी के गद्य की विशेषता यह है कि वह शिष्ट, संयत और सजीव है। वह सुधन्धु और याण के गद्य की अपेक्षा ‘पंचतन्त्र’ तथा ‘कधासरित्सागर’ के गद्य से अधिक प्रभावित सिद्ध होता है। विशेष रूप से ‘दशकुमार-चरित’ में दण्डी की प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है।

सुवन्धु (६०० ई०) के नाम से 'वासवदत्ता' ही प्रकमाप्र ऐसी रचना उपलब्ध होती है जिसने उनकी कीर्ति को अमर यना दिया । गद्य के ज्ञेत्र में इस कृति का अपना एक विशिष्ट स्थान है । सुवन्धु की गद्य-शैली का अध्ययन करते समय उसमें केवल एक दोष यह दिखाई देता है कि उन्होंने नये-नये रंगों के मोह में अपनी कृति को इतना बोझिल यना दिया है कि रंगों की इस अतिशय सज्जा में उनकी वास्तविकता ही ढरक गई है । अलंकार-कौशल के प्रदर्शन में वे इतने रमगये कि लगभग १२५ पंक्तियों में कहीं-कहीं उनका एक ही वाक्य समाप्त हुआ है । 'प्रत्यक्षरश्लेपमयप्रवन्धविन्यासवैदृग्ध्यनिधिः' वाली अपनी गर्वकृति का अवश्य उन्होंने सम्यक् निर्वाह किया है ।

सुवन्धु के बाद गद्य-ग्रन्थों के प्रणयन में वाणभट्ट (७०० ई०) का स्थान आता है । संस्कृत-साहित्य में कालिदास, भवभूति और माघ की भाँति वाण की भारती का भी यहें आदर के साथ यशोगान किया जाता है । वाण की उपलब्ध कृतियों में 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' का उल्लेख किया गया है । 'हर्षचरित' में आठ उछास हैं । काव्य-सौन्दर्य की इष्टि से 'हर्षचरित' की श्रेष्ठता सर्वविदित है, साथ ही संस्कृत-साहित्य में प्रेतिहासिक-इष्टि से काव्य लिखने का यह पहिला प्रयास है । 'कादम्बरी' की महनीयता केवल गद्य के ही ज्ञेत्र में नहीं, अपितु समस्त संस्कृत-साहित्य के ज्ञेत्र में अनुलनीय है । भाषा, भाव और शैली का आत्म-विमोर कर देने वाला स्वरूप 'कादम्बरी' में ही मिल सकता है । इसमें सन्देह नहीं कि शृङ्गार-रस का ऐसा रसपेशल एवं समाकर्पक चित्रण केवल कादम्बरीकार ही कर सका है ।

गद्य-साहित्य के अभ्युत्थान की ये दो शताविद्याँ वहे महत्व की हैं । इन दो शतकों में संस्कृत-साहित्य के एक बहुत यहें अभाव की पूति संस्कृत के गद्यकाव्य

बौद्ध न्याय का उद्भव और विकास

बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पीछे हम एक लम्बी ऐतिहासिक परम्परा का अनुवर्तन पाते हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उसके पूर्ववर्ती उपनिषद् पवं गीता अपने-अपने पदचिह्न छोड़ गये थे, तथापि ई० प० छठी शताब्दी के अन्त में एक महान् सामाजिक क्रान्ति को जन्म लेते हम पाते हैं, जिसका सफल नेतृत्व तथागत बुद्ध ने किया। महामनस्वी बुद्धदेव का अनुत्त धर्मित्व भारतीय इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों में आळिखित है। बौद्ध-युग भारत के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक अभ्युदय का अभूतपूर्व युग रहा है।

बौद्ध न्याय का उद्भव और विकास

१६१

जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों का आविर्भाव वेदों के विस्तृद्ध हुआ। महावीर स्वामी और बुद्धदेव के पूर्व सम्पूर्ण धार्मिक व्यवस्था पुरोहितों के हाथ में थी; किन्तु उसके बाद धार्मिक नेतृत्व एवं धर्म-प्रचार का कार्य उक्त दोनों द्वित्रियवंशीय महापुरुषों के हाथ में आया। वस्तुतः वामन और परशुराम के अतिरिक्त जितने सी अवतार आज तक हुए, सब द्वित्रियकुलोत्पन्न थे। धार्मिक प्रतिस्पर्धा के कारण इस युग में व्राह्मण-धर्म और जैन-बौद्ध धर्मों में काफी होश रही। वैदिक काल से जिस धार्मिक नेता का कार्य व्राह्मण करते था रहे थे, इस युग में वह द्वित्रियों के अधीनस्थ हुआ। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुयायी पुरोहितों और उपनिषद् एवं गीता धर्म के अनुयायी जैन-बौद्धाचार्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और ऊहापोह का सुपरिणाम यह हुआ कि भारत का सामाजिक जीवन उन्नतावस्था को प्राप्त हुआ।

बौद्धधर्म का सामाजिक पक्ष जितना ही समन्वयवादी है, उसका द्वार्शनिक पक्ष उतना ही सूखम एवं तर्कप्रधान है। न्यायदर्शन के सम्पूर्ण इतिहास को डाक्टर विद्याभूषण ने तीन विभिन्न युगों में विभाजित किया है। ६५० ई० पू० से १०० ई० तक प्राचीन न्याय, १०० ई० से १२०० ई० तक मध्ययुगीन न्याय और १२००वीं शताब्दी से नव्य न्याय। प्राचीन न्याय के प्रवर्तक अस्तपाद महर्षि गौतम, मध्ययुगीन न्याय के निर्माता आचार्य नागार्जुन और नव्य न्याय के उन्नावक गंगेश उपाध्याय हुए हैं। गौतम के 'न्यायसूत्र' पर पहला भाष्य चार्तस्थायन (३०० ई०) ने लिखा। इस परम्परा का प्रवर्तनं क्रमशः उद्घोतकर (५५० ई०), चाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) और उदयन (९८४ ई०) ने किया। अस्तपाद गौतम से लेकर उदयन तक की न्याय परम्परा उन आचेषों का समाधान है, जिन्हें बौद्धाचार्यों ने उस पर किया था। इस

खण्डन-मण्डन की परम्परा में जिन धौदाचार्यों ने भाग लिया उनमें नागार्जुन (१७५ ई०), वसुथन्तु (४०० ई०), दिङ्गाग (४२५ ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) प्रमुख हैं । इस आलोचना-प्रयालोचना की दृष्टि से कनिष्ठ से लेकर इर्ष्या तक धौद्वदर्शन का 'शास्त्रीय युग' और गुप्तकाल से लेकर पालयुग तक 'नैयायिक युग' रहा है ।

तथागत का लोकहितवादी उदार मार्ग समाज रूप से सब के लिए प्रशस्त था । उनका उद्देश्य सामाजिक कल्याण की भावनाओं से अनुप्राणित था । उनके बहुत पहले से समाज में दो परस्पर धिरोधी दल अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते था रहे थे । ढामटर भगवतशरण उपाध्याय ने इस पूर्ववर्ती छाचार्य-परम्परा का उत्तेज इस प्रकार किया है—‘व्रात्याणों के यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रान्ति कर व्यक्तियों ने उपनिषद् विद्या की प्रतिष्ठा की । व्रात्याणों ने अपने दर्शनों की नींव ढाली । इस संवर्ष का काल-प्रसार बहुत लम्बा रहा, जो अन्ततः, द्वितीय शती ई० पू० में व्रात्याणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ । इसमें एक और तो विशिष्ट, परशुराम, दुरकावयेय, कार्यायन, रात्तस, पतञ्जलि और पुष्यमित्र शुंग की परम्परा रही और दूसरी ओर विश्वमित्र देवापि, अश्वपति, कैकेय, प्रवहण जैवालि, अजातशत्रु, काशेय, जनक विदेह, पार्श्व महावीर, बुद्ध और वृहद्रथ की ।’

तथागत ने जिस महान् धर्मको जन्म दिया, उसके मूलमें सामाजिक समझौते की भावना विद्यमान थी । दलवन्दी फी विचारधाराओं का यावज्जीवन उन्होंने घटिकार किया । यही कारण था कि ज्ञानोपलब्धि के बाद सारनाथ में उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षुओं के लिए जो सबसे पहला प्रवचन (५२७ ई० पू०) किया उसमें उन्होंने यही कहा कि ‘वहुजन-हित के लिए और वहुजन-सुख के लिए विचरण करो ।’ किन्तु धौद्व न्याय का उद्घव और विकास

बौद्ध-निर्वाण (३८३ ई० प०) के उगमग दो सौ वर्ष के ही मीतर बौद्धधर्म अष्टादश उप सम्प्रदायों में विभाजित हो गया । इस सम्प्रदाय-विभाजन का सुपरिणाम आरम्भ में तो सन्तोषजनक रहा; किन्तु आगे चलकर भारत से बौद्धधर्म की समाप्ति के कारण भी ये ही सम्प्रदाय हुए ।

ई० प० पाँचवीं शताब्दी से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक के तेरह शतक बौद्धधर्म और उससे भी आगे बढ़कर भारतीय इतिहास के उज्ज्वल शतक है । यह युग बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक विकास का युग था । बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक विकास का ऐतिहासिक अध्ययन करते समय विभिन्न युगों में आयोजित उसके बृहत् सांस्कृतिक अधिवेशनों का उल्लेख कर देना आवश्यक है । ये सांस्कृतिक अधिवेशन बौद्ध-साहित्य में 'बौद्ध-संगीति' के नाम से प्रसिद्ध हैं । बौद्धसंगीति का पहला अधिवेशन महाकथ्यप के राजगृह में आयोजित किया गया था, दूसरा अधिवेशन वैशाली में, तीसरा पाटलिपुत्र में और छौथा अधिवेशन कश्मीर में सम्पन्न हुआ । इन संगीतियों में देश के दिगंग विद्वानों को आमन्त्रित कर तत्कालीन शास्त्रप्रेसी नरेशों ने बौद्धधर्म की सम्प्रदाय-संघन्धी अस्युन्नति और उसके पारस्परिक विवादों के समाधानार्थ योजनाएँ स्थिर कीं । इन्हीं अधिवेशनों में बौद्धभिषुजों की विभिन्न मिशनरियों भी कायम करके उनको सुदूर विदेशों में प्रचारार्थ भेजा गया ।

वैशाली के सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की बौद्ध-संगीति में भारतीय बौद्धसंघ थेरवाद (स्थविरवाद), सच्चवित्यवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंधिक (महासांधिक) इन तीन सम्प्रदायों में विभाजित हुआ । महासांधिकों ने ही आगे चलकर महायान सम्प्रदाय को जन्म दिया । बौद्धधर्म के साम्प्रदायिक विकास की दो प्रमुख धाराएँ हैं : हीनयान और महायान । हीनयान सम्प्रदाय का आविर्माण ५०० ई० प० तथा उसकी अन्तिम सीमा २०० ई० है । आगे चलकर इस सम्प्रदाय का-

विकास स्थविरवाद और वैभाषिक दो शाखाओं में विभाजित हुआ। महायान सम्प्रदाय की सीमा २००-८००ई० तक है। इसकी सैद्धान्तिक परम्परा भी माध्यमिक और योगाचार, इन दो शाखाओं में विभाजित हुई।

स्थविरवादी सम्प्रदाय हीनयान शाखा का और बौद्धधर्म का सधसे प्राचीन सम्प्रदाय है। स्वयमेव तथागत इस सम्प्रदाय के प्रवचनकार थे। इस सम्प्रदाय का सम्पूर्ण साहित्य पालि भाषा में है। आचार्य कुमारलात (२००ई०), बुद्धघोष, बुद्धदन्त और धर्मपाल (५वीं शताब्दी) ने इस सम्प्रदाय की परम्परा को आगे बढ़ाया।

आर्य कात्यायनीपुत्र विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में जो 'विभाषा' नामक टीका लिखी गयी थी उसी के आधार पर एक दूसरे सम्प्रदाय का नामकरण हुआ, जिसे वैभाषिक सम्प्रदाय कहा जाता है। आर्य कात्यायनीपुत्र तथागत के पट्ट-शिष्यों में से थे। चौथी शताब्दी में विद्यमान मनोरथ और संघभद्र इस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य हुए। इस सम्प्रदाय का सारा साहित्य अपने मूल रूप संस्कृत में न होकर चीनी एवं तिब्बती अनुवादों के रूप में मिलता है।

महायान सम्प्रदाय की ऐतिहासिक परम्परा यथापि आचार्य नागार्जुन (२००ई०) से भी प्राचीन है; किन्तु इन्हीं आचार्यपाद-कृत 'प्रज्ञापारमितासूत्र' से ही माध्यमिक सम्प्रदाय का उज्ज्व भाना जाता है। नागार्जुन अपने समय के अद्भुत पण्डित थे। सुप्रसिद्ध रूसी दार्शनिक ग्रो० शेरवास्की ने आचार्य नागार्जुन की गणना संसार के प्रमुख तार्किकों में की है। स्थविर बुद्धपालित, भावविवेक और चन्द्रकीर्ति प्रभृति गुप्त-कालीन आचार्यों ने नागार्जुन की परम्परा का समर्थ अनुवर्तन किया।

बौद्ध न्याय का उज्ज्व और विकास

बौद्ध दर्शन के सर्वाधिक विवेचन एवं सर्वध्रेष्य योगाचार सम्प्रदाय का आधिर्भाव गुप्त-काल से हुआ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य मैत्रेय हैं और सहोदर भाई असंग तथा घसुवन्तु ने मैत्रेय के सिद्धांतों का विकास अपने युग-विधायक ग्रन्थों में किया। तदनन्तर इस परम्परा के आचार्यों में स्थिरमति, दिहनाग, चन्द्रगोमिन्, शंकरस्वामी और धर्मपालन का नाम प्रमुख है। इन चारों सम्प्रदायों का सैद्धांतिक दृष्टिकोण सचेत में इस प्रकार समझा जा सकता है :

सौभ्रांतिक	वाद्यार्थानुमेयवादी	संसार सत्य, निर्वाण असत्य
वैभाषिक	प्रत्यक्षवादी	संसार सत्य, निर्वाण सत्य
माध्यमिक	शून्यवादी	संसार असत्य, निर्वाण असत्य
योगाचार	विज्ञानवादी	संसार असत्य, निर्वाण सत्य

बौद्ध-न्याय की शून्यवादी परम्परा अति सूचम, तर्कपूर्ण और मौलिक है, जिसके प्रमुख आचार्य नागार्जुन हैं। 'शून्य' नागार्जुन के दार्शनिक दृष्टिकोण का मौलिक आधार है। उनके अनुसार सत्य के दो पक्ष हैं : संवृत और परमार्थ। संवृत सत्य प्रत्यक्ष सत्य है, किन्तु जो चास्तविक सत्य न होकर सत्य का मिथ्याभास है। सौभ्रांतिक और वैभाषिक सवृत सत्य से आगे न बढ़ सके। परमार्थ सत्य परोक्ष सत्य है और यही सत्य का सनातन रूप है। अस्ति और नास्ति दोनों की पकड़ से दूर परमार्थ सत्य ही आचार्य नागार्जुन का 'शून्य' है जो कि त्रुद्धिगम्य है। आचार्य नागार्जुन ने एक बहुत बड़ा कार्य यह किया कि उन्होंने उपनिषद्, गीता के सिद्धान्तों को अपने शून्यवाद के माध्यम से बौद्ध-न्याय के संचय में ढाल दिया जिसका पूर्ण विकास हम आगे चलकर शांकर-चर्चन में पाते हैं।

बौद्ध धर्म की साम्प्रदायिक परम्परा यहाँ तक अपनी उज्ज्ञावस्था में रही; किन्तु आगे चलकर उसकी दशा उत्तरोक्तर विकृत होती गयी।

भारतीय पट्ट दर्शनों के विकास में लगभग छठी शताब्दी से यारहवीं शताब्दी तक का समय जहाँ पुक्क और दार्शनिक चिन्तन का समय रहा है वहाँ दूसरी ओर वौद्ध न्याय को हम उसकी उचावस्था से पतन की ओर उन्मुख होते देखते हैं। महायान सम्प्रदाय ने अपनी ओर से समाज को ग्राहणरब के विरोध में खद्दा करने के लिए कुछ ऐसे अवानिक्त साधन अपनाये जिनका कुपरिणाम यह हुआ कि समाज वौद्ध धर्म से विमुख होने लगा। वौद्धों का मन्त्रयान और वज्रयान महासुखवाद के प्रतीक थे। यह महासुखवाद, पुरोहितवाद, हिन्दुत्व और स्वयं वौद्ध धर्म के लिए पुक्क महान् खतरा था। पाँचवीं शताब्दी से लेकर यारहवीं शताब्दी तक से हस समय को विद्वानों ने उत्तर भारत के आध्यात्मिक पतन का समय कहा है। पुक्क तीसरे सहजयान सम्प्रदाय का उद्देश्य अब केवल ऐन्द्रिय सुख में ही रह गया और उसकी समूर्ण अच्छाइयाँ अब व्यभिचार में घटल गयी थीं।

मिष्ठ-मिष्ठाणी, आवक-आवकी और कापालिक-कापालिकी के खुले-भाम व्यभिचार ने समाज को वौद्ध धर्म से विमुख होने के लिए विवश कर दिया। मण-मैथुन की एकदम हृष्ट हो गयी। सहजिया और वज्रयानियों ने शून्यता और करुणा को प्रज्ञा और उपाय की संज्ञा देकर दोनों के बीच नर-नारी के सम्बन्ध को कायम किया। उपाय का प्रतीक साधक स्वयं होगया और प्रज्ञाका प्रतीक साधिका बन गयी।

फिर भी यह उस पवित्र धर्म का नगण्य पक्ष है। वौद्ध-धर्म का यह विकृत पक्ष अपने ही विनाश का कारण हुआ और समाज उससे सर्वथा अकूला रहा। वौद्ध-धर्म की चास्तविकता तो उसके उच्चादर्शों में सन्तुष्टि है, जिनके कारण भारत-भूमि गौरवान्वित हुई और जिनका प्रभाव भाज ढाई हजार वर्ष बाद भी हस धरती पर ज्यों का स्यों अकूलण है।

—०००००—

बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

भगवान् बुद्ध द्वारा समादिष्ट बौद्ध-धर्म के चतुर्सुखी विकास और स्थापक प्रचार-प्रसार के लिए गुप्त साम्राज्य को स्वर्णिम युग कहा गया है। गुप्त-साम्राज्य की सीमा इतिहासकारों ने श्रीगुप्त (२७५ ई०) से लेकर विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य (६०० ई०) तक निश्चित की है। भारतीय साहित्य की गौरवाभिवृद्धि के लिए बौद्ध-धर्म का अम्युदय अपनी एक उज्ज्वल ऐतिहासिक परम्परा रखता है, जिसका सम्पूर्ण श्रेय गुप्त-युग को है।

गुप्त-युग में जहाँ एक ओर हरिपेण, चौरसेन, वरसभट्ठि, वासुल, कालिदास, मातृगुप्त, मर्त्यमेठ, शूद्रक, विशाखदृच्छ, सुवन्धु, भामह और

अमरसिंह जैसे ग्रन्थकार, महाकाव्यकार, नाटककार, काव्यशास्त्री और कोशकार प्रभृति सुप्रसिद्ध विद्वानों के सहयोग से संस्कृत-साहित्य की चरमोज्ञति हुई, आचार्य विन्द्यवासी, ईश्वरकृष्ण, दिघ्नाग, उद्योतकर, प्रशस्तपाद और शब्दरस्वामी जैसे सांख्यकार, नैयायिक, वैशेषिक और भीमांसाकारों के उद्घट व्यक्तित्व ने भारतीय दर्शनशास्त्र के हेत्र में अद्भुत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और जिस युग में आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर जैसे विश्वविद्यात ज्योतिषशास्त्री तथा आचार्य वास्त्वायन जैसे कामशास्त्री हुए, वहाँ दूसरी ओर हिन्दू धर्म के मूलस्रोत पुराणों का संस्करण एवं हिन्दू-धर्म के प्राणसर्वस्व याज्ञवल्यस्मृति, पराशारस्मृति, नारदस्मृति, वृहस्पतिस्मृति और कात्यायनस्मृति जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थ तथा उन पर बृहद् भाष्यों का निर्माण भी इसी वैभवशाली गुप्त-युग में हुआ ।

धार्मिक साहित्य के अभ्युदय के लिए एकमात्र युग यही रहा है । ग्राहण-साहित्य के अतिरिक्त जैन धर्म के आधारभूत आगम-ग्रन्थ इसी युग में सर्व प्रथम लिपिबद्ध हुए और जैन-न्याय क्रमबद्ध रूप में संकलित किया गया । आचार्य सिद्धसेन, दिवाकर, जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि, सामन्तभद्र, देवनन्दि जैसे सुविख्यात जैनाचार्यों के उद्घव का यही युग था ।

इसी कारण गुप्त-साम्राज्य भारतीय इतिहास के लिए उदारान स्वरूप समझा जाता है । उदारमना गुप्त-नरेशों की सदृश्यत्वस्था, न्यायपरायणता, प्रजाप्रेम और विद्या-व्यसन अपनी उज्ज्वल ऐतिहासिक परम्परा रखते हैं । गुप्त-सम्राट् औद्ध-धर्मानुयायी थे । उन्होंने इस धर्म को इसलिए अपनाया था कि उसमें ‘वहुजनहिताय, वहुजनसुखाय’ की उदार भावना विद्यमान थी । उनके राजधर्म का उद्देश्य प्राणिमात्र औद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

यो वैद्याग-समाज था। यौद्ध-धर्म ने प्रचार-प्रसार के लिए अपने चिद्वानों द्वारा उन्होंने यात्री देशों में भेजा। इन यौद्ध प्रचारकों ने जीत, जागन, गुर्विदान, जाग, सूक्ष्माया तथा यानों तकि महार विदेशों में यौद्धधर्म पूर्व यौद्ध-साहित्य का प्रचार किया। इस भावित्व पूर्णा और महापना के पारण याहरी विद्वान् भी भारत आए। भगवान्नाथ में ही धर्मी था। एक यृद्दि गत-प्रमाण यौद्ध-धर्म का धनुषर्थ हो गया। गुप्ताटीन भारतीय विद्वान् प्रचारकों में बुद्धार्थी, युद्धमद, युद्धदम, पर्मरण, गुणवर्मन्, गुगमट, शोभिपर्म, संघगाढ़, परमार्थ, उपशूल्य, योगित्वि और युद्धर्त्ता प्रनुति पर्मटकों द्वा जाग रखेतीय है। उमारजीय (चौथी शताब्दी) और परमार्थ (दूरी शताब्दी) जैसे विद्वानों ने यात्रीयग घोन में रहकर यौद्ध-साहित्य के प्रमुख भाषाओं की अनेक कृतियों का धनुगाढ़ छोना भागा जैसे किया, जिनमें अधिकांश ऐदी इतिहास आज भी यहाँ सुरक्षित हैं जो अपने मूलग्रन्थ संकृत में रहा मिलती है।

यौद्ध-साहित्य की नदान् इतिहासों द्वे भाग गुप्त-मान्द्राय भी धमर है। गुप्तकाल के इन दीड़ाचार्यों ने भारतीय माहित्य को गौरवान्वित तो किया ही, माथ ही छोन, जागन और तिरथग प्रभृति देशों की माहित्यिक-मस्त्रिक में भी उनका अम महयोग नहीं रहा है। गुप्तयुग माहित्य-निर्माण का महान् संदर्भित-शाल रहा है। इस युग में वाल्मीकि-धर्म और यौद्ध-धर्म की घोर प्रतिस्पर्धा के पारण जिन कातिकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन उभयन्वयीय भाषाओं द्वारा संबल हुआ, वैसा इतिहास में अन्यत्र नहीं दिखाई है। वाल्मीकि-भाषाओं ने यौदों के वैद-निन्दक तकों का झोरदार विरोध किया और इसी प्रकार यौदाषायों ने अपने सिद्धान्तों के भण्डनार्थ प्रभावशाली तर्क उपस्थित किए। इस

उभयविध धार्मिक होइ पुर्वं तर्क-चित्तर्क का सुपरिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन दोनों की घरमोक्षति हुई और ऐसी विचारपूर्ण कृतियों की उज्जावना हुई जिनके कारण भारतीय साहित्य का प्रांगण प्रकाशमान हो उठा ।

बौद्ध-साहित्य का अनुशीलन करते हुए विदित होता है कि सैद्धांतिक दृष्टि से उसमें मौलिक अन्तर है । हीनयान और महायान उसके दो प्रधान सैद्धांतिक संप्रदाय हैं । ऐतिहासिक अनुसंधानों के आधार पर हीनयान का उद्भव ५०० वि० पूर्व और महायान का जन्म २०० वि० में हुआ । हीनयान दो उप-संप्रदायों में विभाजित है—स्थविरवाद और वैभाषिक । इसी प्रकार महायान भी माध्यमिक और योगाचार हन दो उप-संप्रदायों में विभक्त है । हन चारों संप्रदायों की सैद्धान्तिक परम्परा को प्रतिष्ठित करने में गुप्तकालीन बौद्धाचार्यों का उल्लेखनीय योग रहा है ।

स्थविरवाद संप्रदाय

वैशाली की सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की चौथी बौद्ध-संगीति ऐतिहासिक दृष्टि से अपना विशिष्ट महात्म रखती है । यह संगीति सम्ब्राद् कनिष्ठ के राज्यकाल में ३२६ वि० पू० हुई थी । इसी संगीति के बाद भारतीय बौद्ध-संघ थेरवाद (स्थविरवाद), सद्व्यात्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक) हन तीन शाखाओं में विभाजित हुआ । हन महासंघिकों ने ही कालान्तर में महायान संप्रदाय की प्रतिष्ठा की । स्थविरवाद संप्रदाय बौद्ध-धर्म का सबसे प्राचीन संप्रदाय है । इस संप्रदाय के प्रवचनकार स्वयं भगवान् बुद्ध थे । इस संप्रदाय का संपूर्ण साहित्य पालि-भाषा में है, जिसकी रचना गुप्त-काल के पूर्व हो चुकी थी । स्थविरवाद-संप्रदाय के पालि-ग्रन्थों के बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

ग्रामाणिक टीकाकार गुप्त-युग में ही हुए। ये टीका-ग्रन्थ धार्मिक इष्टि से जितने उपयोगी हैं, साहित्यिक इष्टि से उनका मूल्य कहीं अधिक समझा जाता है। पालि भाषा की सर्वांग समृद्धि के लिए इन ग्रन्थों का बहुत महत्व है।

स्थविरवादी विचारधारा भी मौलिक रूप से दो फूलों में विभाजित है : सौन्दर्यात्मिक और वैभायिक। इन दोनों के दार्शनिक सिद्धान्त 'सर्वास्तिवादी' हैं। सौन्दर्यात्मिक संप्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य कुमारलाल ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए। इस संप्रदाय का कोई प्रतिनिधि ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

स्थविरवाद संप्रदाय के आचार्य बुद्धघोष, आचार्य बुद्धदत्त और आचार्य धर्मपाल गुप्त-काल के सुप्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। इस आचार्य-त्रयी की टीका-कृतियाँ अपना मौलिक जैसा महत्व रखती हैं। बुद्धघोष का स्थान धौद्ध-साहित्य के शीर्षस्थानीय ग्रन्थनिर्माता आचार्यों की कोटि में आता है। पालि और संस्कृत दोनों भाषाओं पर इनका असाधारण अधिकार था। धर्म, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र और इतिहास सभी विषयों के ये प्रकांड पंडित थे। ये मगधदेशीय आक्षण ये और इनके गुरु का नाम रैघत था। भगवान् बुद्ध जैसे वर्चस्वी व्यक्तिर और असामान्य प्रसिद्धासंपन्न होने के कारण उनका यह नाम पड़ा। इनका इतिहास-सम्मत स्थितिकाल पांचवीं शताब्दी का आरम्भ है।

आचार्य बुद्धघोष घडे जिज्ञासु थे। भारत में अप्राप्य होने के कारण ये सिंहली भाषा में लिखी गई 'अठुकथाओं' के अध्ययन के लिए लंका गए। इनके पांडित्य एवं प्रतिभा को देख कर वहाँ के तत्कालीन राजा महानाम ने तथा वहाँ के सुप्रसिद्ध अनुराधापुर महाविहार के विद्वान् भिक्षुओं ने इनका यथोचित सम्मान ही नहीं किया, हन्हें 'अठुकथाओं'

का पालि भाषा में अनुवाद करने की सहर्ष स्वीकृति भी दे दी । चीन और तिब्बत के इतिहासकारों ने इनके नाम से अनेक कृतियों का उल्लेख किया है, जिनमें लगभग ११ ग्रन्थों का ग्रामाणिक निर्माता इन्हें ही माना जाता है । इनके ग्रन्थों के नाम हैं : १. विशुद्धिमण्ड (अट्टकथा की दो कथाओं का अनुवाद), २. सामंतपासादिका, ३. कंखा-वितरणी, ४. सुमंगल विलासिनी, ५. परमसूक्तनी, ६. सारथ्य पकासिनी, ७. मनोरथ पूरणी, ८. परमरथ कथा, ९. खुदकपाठ, १०. सुस्तिनिपात और ११. अपादान ।

आचार्य बुद्धदत्त स्थविरवाद संप्रदाय के दूसरे टीकाकार उरियापुर निवासी थे । बुद्धबोध की भाँति ये भी पालि ग्रंथों के अध्ययनार्थ लंका गए । ये कुमारगुप्त प्रथम के समकालीन पांचर्वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए । लंका से वापिस आते हुए मार्ग में बुद्धबोध से इनका पहिला परिचय हुआ और तदुपरांत यावज्जीवन दोनों विद्वानों का विवार विमर्श होता रहा । आपकी रचनायें इस प्रकार हैं : १. अभिधर्मावतार, २. रूपारूप विभाग, ३. विनयविनिश्चय, ४. उत्तर विनिश्चय और ५. मधुररथ विलासिनी ।

आचार्य धर्मपाल इस संप्रदाय के अंतिम टीकाकार हुए । ये रौची निवासी थे । इनका स्थितिकाल बुद्धदत्त के कुछ बाद में है । आचार्य धर्मपाल के व्याख्या-ग्रन्थों की शैली और पारिभाषिक शब्दों की प्रतिपत्ति का ढंग विद्वत्तापूर्ण है । इनके ग्रन्थ हैं : १. परमरथ दीपिनी, २. विमानवत्थु-टीका, ३. पैतववत्थु-टीका, ४. थेरीगाथा-टीका, ५. थेरगाथा-टीका, ६. इतिबुत्तक, ७. उदान-टीका और ८. चरियापिटक-टीका ।

वैभाषिक सम्प्रदाय

हीनयान शाखा का वैभाषिक संप्रदाय सर्वास्तिवादी संप्रदाय है ।

बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

सम्राट् अशोक के संरक्षण में और आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में पांच सौ भिन्नओं की बौद्धसङ्गीति ने आर्य कार्यालयनीपुत्र विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक टोका लिखी थी, जिसका नाम 'विभापा' रखा गया। इसी टीका के आधार पर इस संप्रदाय का नाम 'वैभापिक' पड़ा। कनिपक इस सम्प्रदाय का प्रबल प्रचारक था। आर्य कार्यालयनी-पुत्र स्वयं शुद्ध भगवान् के शिष्य माने जाते हैं। वैभापिक अभिधर्म की प्रायः सारी ग्रन्थ-संपत्ति अपने मूल रूप संरक्षित में न होकर चीनी अनुवाद के रूप में उपलब्ध होती है। इन्हीं अनूदित ग्रन्थों के आधार पर इस संप्रदाय के केवल दो आचार्यों का पता लगता है, जिनका आविर्भाव गुप्त-साम्राज्य में हुआ। पहिले आचार्य का नाम मनोरथ था। इनकी जीवन-सम्बन्धी जानकारी और कृतित्व-विषयक निराकरण प्रामाणिक रूप से अभी तक उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में इतिहासकार केवल इतना पता भर लगा सके हैं कि आचार्य वसुवंधु के मित्र होने के कारण ये ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

संघभद्र इस संप्रदाय के दूसरे आचार्य अयोध्या-निवासी थे। ये भी आचार्य मनोरथ के समकालीन थे। महायान के योगाचार संप्रदायवादी धुरंधर आचार्य वसुवंधु के घोर प्रतिस्पर्धी होने के कारण आचार्य संघभद्र का व्यक्तित्व बौद्ध-दर्शन के लेन्ड्र में सर्वत्र प्रतिष्ठित है। वसुवंधु कृत 'अभिधर्मकोश' का खंडन करने के लिए बारह वर्ष के घोर परिश्रम के बाद इन्होंने 'कोशकरका' नामक एक अद्भुत ग्रन्थ का निर्माण किया था, जिसको इन्होंने मृत्युकाल के कुछ समय पूर्व रूणावस्था में वसुवंधु के पास भेज दिया था। वसुवंधु ने उक्त ग्रन्थ का नाम बदल कर 'न्यायानुसार शास्त्र' करवा दिया, जिस नाम से आज

भी वह प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त संघभद्र ने 'समय-प्रदीपिका' नामक एक दूसरी कृति का भी निर्माण किया।

माध्यमिक संप्रदाय

हीनयान-शाखा के उक्त दोनों संग्रहायों की भाँति माध्यमिक संप्रदाय का आविर्भाव भी यथापि गुप्त-काल से पूर्व ही हो चुका था, तथापि उसके सर्वमान्य सिद्धान्तों एवं महती विशेषताओं का प्रतिपादन इसी काल में हुआ। माध्यमिक संप्रदाय का 'शून्यवादी' मत बौद्ध-दर्शन का सर्वाधिक सूचम और सर्कंपूर्ण मत है। इस संप्रदाय की स्थापना यथापि नागार्जुन के पहिले ही हो गई थी; किन्तु इन आचार्यपाद ने इस मत के मूल ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' पर 'माध्यमिक-कारिका' की 'रचना कर शून्यवाद के सिद्धान्तों को अजेय बना दिया। आचार्य स्थविर बुद्धपालित, आचार्य भावविवेक और आचार्य चन्द्रकीति गुप्त-काल के ऐसे प्रकाठ विद्वान् हुए, जिन्होंने अच्छुत व्याख्या-ग्रन्थों तथा भाष्य-ग्रन्थों का निर्माण कर माध्यमिक मत को विस्थायी बना दिया।

आचार्य नागार्जुन कृत 'माध्यमिककारिका-व्याख्या' का जो तिब्बती भाषा का अनूदित संस्करण उपलब्ध होता है, उसके अंतिम भाग में माध्यमिक दर्शन के जिस शीर्षस्थ आचार्य-अष्टक का उल्लेख किया गया है, उनमें स्थविर बुद्धपालित का भी एक नाम है। इन आचार्यपाद ने एक नये दार्शनिक मत का भी प्रवर्तन किया, जिसका नाम 'प्रासंगिक मत' है। तिब्बती अनुवाद के रूप में इनके एक 'बृत्ति' ग्रन्थ का अन्वेषण मैक्स वालेजर नामक एक जर्मन विद्वान् ने किया। इसको उन्होंने 'विभ्लोधिका बुद्धिका' नामक ग्रन्थ-माला की १६ वीं संख्या में प्रकाशित भी किया है।

बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

१७५

मात्यमिक संप्रदाय के दूसरे गुप्त-वार्षीय आचार्य भावधियेक दुष्प ! इन्होंने भी धीर्घभ्याय के देश में पक जपे दार्शनिक मत वो चला दिया । इनके मत का नाम 'रथार्थ मग' है, जिसके कारण इनके पर्वत संग्रहित मिली । इनकी दृतिर्यादि देशल मिष्टानीय और चीजों अनुयादों के स्वर में उपलब्ध होती है । इनके उपलब्ध प्रन्त हैं : १ मात्यमिकारिकाभ्याष्या, २ गात्यमद्वद्यकारिका, ३ मात्यमापं संग्रह और ४ दृश्यरथ ।

इस संप्रदाय के निर्माणकों में आचार्य चन्द्रघीर्ति का नाम विदेश-स्वर से उद्देश्यनीय है । शीर्वरथ्यार्थी आचार्यों में आपर्या भी राजना है । इनके गुरुद्वय का नाम ऋमलयुद्धि और धर्मपाठ था । ये दारिणात्म थे और इनका जन्मफल धृती धारार्थी है । नारदन्दा महाविहार में भी कुछ दिनों तक आप आचार्य पद पर संमानित रहे । यही योगाचारसंप्रदाय के प्रबाट विद्वान् और सुप्रसिद्ध ऐपाशण आचार्य चन्द्रगोमिन् के माथ आपका गहरा आचार्य भी दुश्मा था । आचार्य पुदपालित द्वारा उद्धारित 'प्रामंगिक मत' के भाव निष्पात विद्वान् थे । इनकी ये तीन दृतिर्यादि भी तक उपलब्ध दुई हैं : १ मात्यमिकारिका, २ प्रसापदा और ३ चमुःशतकटीका ।

योगाचार सम्प्रदाय

योगाचार सम्प्रदाय का जन्मदाता गुप्त-साम्राज्य है । यह सर्वथा स्वतंत्र संप्रदाय का और ऐसे संप्रदाय का, जिसने धीर्घ दर्शन के साहित्य को अप्रसर होने के लिए नया मोड़ दिया, गुप्त-साम्राज्य में निर्माण दुश्मा, जिसके महाप्राण निर्माणाखों का नाम भारतीय दृष्टिहास के स्वर्णिम शृष्टों पर लिया गया । गुप्त-युग की भाँति योगाचार संप्रदाय का नाम भी अमर है ।

आधुनिक स्तोर्जों के प्रामाणिक निर्देश हैं कि आचार्य मैत्रेय योगाचार संप्रदाय के संस्थापक थे। योगाभ्यास द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का साधन होने के कारण इस संप्रदाय का 'योगाचार' ऐसा नामकरण हुआ। इसका दूसरा दार्शनिक सिद्धान्त 'विज्ञानवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य मैत्रेय का इतिहास-संमत स्थितिकाल गुप्तकाल का आरंभिक भाग है। तिब्बतीय इतिहासकार बुस्तोन ने मैत्रेय के पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है : १ सूत्रालङ्कार, २ महायान उत्तरतंत्र, ३ मध्यान्त विभाग, ४ धर्मधर्मता विभाग और ५ अभिसमयालङ्कारकारिका।

आचार्य मैत्रेय के बाद योगाचार संप्रदाय के उद्भव विद्वानों में आर्य असङ्ग का नाम बौद्ध-दर्शन के इतिहास में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। कुछ दिन पूर्व इन्हें ही इस संप्रदाय का संस्थापक माना जाता था। इनका जन्म गांधारदेश के पुरुषपुर अर्थात् पेशावर में हुआ। ये कौशिक गोत्रीय व्राह्मण थे। इनके दो छोटे भाइयों के नाम क्रमशः वसुवंधु और वसुवंधु-विरिचिवरस था। सन्नाट् समुद्रगुप्त के समय चौथी शताब्दी में इनका स्थितिकाल था। आचार्य मैत्रेय इनके गुरु थे। वसुवंधु को योगाचार संप्रदाय में इन्होंने ही दीक्षित किया। आर्य असंग की दार्शनिक पहुंच वही प्रचण्ड और उनके सिद्धान्त वहे ठोस एवं मौलिक थे। इनकी प्रायः सभी उपलब्ध कृतियाँ मूल संस्कृत में न होकर चीनी अनुवाद के रूप में मिली हैं। इनके उपलब्ध ग्रन्थ हैं : १ महायान संपरिग्रह, २ प्रकरण आर्यवाचा, ३ महायानाभिधर्म-संगीतिशास्त्र और ४ योगाचार भूमिशास्त्र।

उपरि निर्दिष्ट आर्य असंग के कनिष्ठ आता आचार्य वसुवन्धु को इतिहासकारों ने योगाचार संप्रदाय के अन्तर्गत ही माना है। जीवन के आरंभ से मृत्यु के दस वर्ष पूर्व वसुवन्धु हीनयान के वैभाषिक संप्रदाय बौद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

के आचार्य रहे हैं; किन्तु जीवन के अन्तिम दस वर्ष आर्य असंग द्वारा योगाचार सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण उनकी गणना इसी सम्प्रदाय में की गई।

आचार्य वसुबन्धु की जीवन सम्बन्धी जानकारी के लिये हमारे पास पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। सातवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध चीनी पर्यटक द्वय हेनसाँग और इस्सिंग के अमण-वृत्तान्तों में इन आचार्यपाद की पर्याप्त चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से इनके दो जीवनी-ग्रन्थ भी लिखे गये। वसुबन्धु का पहिला जीवनीकार कुमारजीव था। इन्होंने ४०१—४०९ ई० के बीच इनका जीवन चरित्र लिखा। दूसरे जीवनीकार परमार्थ ने ४९५—५६० ई० के बीच अपनी पुस्तक लिखी। कुमारजीव की पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। परमार्थ की चीनी भाषा में अनूदित पुस्तक आज भी विद्यमान है। जापानी विद्वान् सकाकसु ने अंग्रेजी में उसका अधिकल अनुवाद किया है।

इस जीवनी-ग्रन्थ से विदित होता है कि आचार्य वसुबन्धु युवावस्था में अपनी जन्मभूमि छोड़कर अयोध्या गए और वहाँ उन्होंने स्थविर बुद्धमित्र से हीनयान सम्प्रदाय की दीक्षा प्राप्त की। इतिहास-कारों और पुरातत्व-वेत्ताओं की अन्तिम राय है कि वसुबन्धु का स्थितिकाल सम्माट् समुद्रगुप्त के राज्यकाल में अर्थात् चौथी शताब्दी में था। इनके जीवनकाल की सीमा २८०-३६० ई० के बीच है। ८० वर्ष तक ये जीवित रहे।

आचार्य वसुबन्धु का व्यक्तिगत और उनकी विद्वत्ता के परिचायक सूत्र उनकी समस्त कृतियों में विद्यमान हैं। इतिहास इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी अद्भुत तर्कनाशकि और वाग्मिता के समुख व्यष्ट-घड़े विद्वान् निरुत्तर हो गए। आचार्य विन्द्यवासी और आचार्य सद्भमद्र से इनका गहरा शास्त्रार्थ हुआ था। इनके वर्चस्वी व्यक्तित्व एवं गम्भीर

ज्ञान का सुकावला करने वाला विद्वान् इनके समय में नहीं हुआ। औद्ध-दर्शन के तो ये जैसे विश्वकोश थे। इन्होंने हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों पर प्रामाणिक कृतियाँ लिखीं। इनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं :

हीनयान सम्प्रदाय : १ परमार्थ सप्तति, २ तर्कशास्त्र, ३ वादविधि, ४ गाथा संग्रह और ५ अभिधर्मकोश।

महायान सम्प्रदाय : १ सद्बुद्ध युण्डरीक-टीका, २ महापरिनिर्वाण सूत्र-टीका, ३ वज्रचेदिका प्रज्ञापारमिता टीका और ४ विशतिका।

इसके अतिरिक्त इतिहासकार बुस्तोन ने इनके छह अन्य ग्रन्थों का भी वक्षेष्य किया है : १ पञ्चस्कन्ध प्रकरण, २ व्याख्या युक्ति, ३ कर्मसिद्धि प्रकरण, ४ महायान सूत्रालङ्घार टीका, ५ प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र-टीका और ६ मध्यान्तविभाग-भाष्य।

योगाचार सम्प्रदाय के गुप्तकालीन आचार्य स्थिरमति, वसुषन्तु के शिष्यों में थे। इनका स्थितिकाल चौथी शताब्दी का अन्तिम भाग है। इन्होंने प्रायः अपनी सभी कृतियाँ अपने गुरुपाद के ग्रन्थों पर टीका रूप में लिखी हैं। वसुषन्तु के ग्रन्थों का गूढ़ आशय जानने के लिए इनकी टीकायें बड़ी उपयोगी हैं। इनके टीका-ग्रन्थ हैं : १ काश्यप परिचर्त-टीका, २ सूत्रालङ्घारवृत्ति-भाष्य, ३ त्रिशिका-भाष्य, ४ पञ्चस्कन्ध प्रकरण-चैभाष्य, ५ अभिधर्मकोश भाष्य-वृत्ति, ६ मूलमाध्यम कारिका-वृत्ति और ७ मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य-टीका।

आचार्य स्थिरमति के बाद इस चैत्र में एक महान् विभूति का समागम हुआ, जिन्होंने अपने प्रकाण्ड प्राणिदर्य की सुहर लगाकर योगाचार सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को अमर बना दिया। इनका नाम औद्ध-साहित्य का वैभवशाली युग : गुप्त-साम्राज्य

था दिद्वनाग । आचार्य दिद्वनाग साक्षण थे और कौरी थे निषट मिहृषक प्राम में पौर्णी दग्धात्मी के आगम में दृग्दोने जग्न पाल किया । पार्श्वीपुर्वीप-जग्नायदग्धी आचार्य जग्नादग्ध भगवं गुह थे । याद में भाष पसुयन्तु के निष्प दुष् ।

आचार्य दिद्वनाग घड़ुग गार्विच थे । इसी बाल भाग ग्रन्थ में 'तर्फुद्रष' उपमान में प्रवर्णित हुए । गुरुदात्र की पार्विता प्रविरार्थी में धाक्का-नारिकों के भाष तिर्त्ती शुभ्रेष दृग्दोने ती, गम्भवनः दरानी क्लीयी दृमो वीडालार्य ने भही । महर्ति गीतम और आचार्य विद्वनाग के स्राव निटान्तो हो जगाइ फैशने ही एवना आचार्य विद्वनाग में ही थी । क्षाचार्य दिद्वनाग ग्रापवार्णिन वीद्व न्याय के पिता फहे पाते हैं । भारतीय दर्शनशास्त्र वे इतिहास में दृष्टे एक जबे दुग का प्रवत्तक दहा गया है । वीद्व न्याय के थे एहिं प्ययायाकर की थे । इनकी विद्वत्ता का अनुगान दृग्दोने से उगाया जा सकता है कि इनके 'प्रमाण-मसुध्य' पर आज तक अधिकारी विद्वान्तो द्वारा दस प्रामाणिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं । इनके इन्द्रों के नाम दृम प्रशार हैं : १. प्रमाण-मसुध्य, २. प्रमाण-मसुधग-जृति, ३. न्याय-प्रयेता, ४. देवुष्ठक निर्णय, ५. प्रमाण-शास्त्र न्याय-प्रयेता, ६. भाष्यमध्यन परीक्षा, ७. भालन्यन परीक्षा-नृति, ८. विकाण-परीक्षा और ९. मर्मप्रदीप वृत्ति ।

आचार्य दिद्वनाग के याद इस साम्राज्यिक परम्परा में सुप्रसिद्ध पैषाकरण आचार्य चन्द्रोमित्र दुष् । ये पसुयन्तु के प्रदीप्त्य और सिवरमति के निष्प थे । इनका प्यजित्र व्याकरण के ऐत्र में अधिक है । इनकी प्रतिभा का अनुगान दृसी से उगाया जा सकता है कि इन्होने पाणिनि-प्याकरण के असिद्ध प्रयोगों को धृपते सूत्रों द्वारा मिट करके रख दिया । दिग्ग भारत से पतञ्जलि कृत 'महाभाष्य' का

पुनरुद्धारक भी इन्हें ही माना जाता है। नालंदा के आचार्य चन्द्रकीर्ति से इनका एक ऐतिहासिक शास्त्रार्थ हुआ था। इनका आविर्भाव काल पौर्ववी शताब्दी का मध्यभाग है। इन्होंने काव्य सथा नाटक भी लिखे। हनके ग्रन्थ हैं : १ शिष्य लेख धर्मकाव्य, २ आर्य साधन शतक, ३ आर्य तारान्तर बलि विधि, ४ लोकानन्द (नाटक) और ५ चान्द्र-स्याकरण ।

आचार्य दिव्यनाग के ही एक दार्शिणास्य शिष्य शंकर स्वामी कृत 'न्याय-प्रवेश तर्कशास्त्र' नामक एक योगाचार संप्रदाय विषयक-ग्रन्थ का इतिहासकारों ने चीनी भाषा में पता लगाया; किन्तु इस सम्बन्ध में अभी अनेक मत हैं ।

कांची-निवासी आचार्य धर्मपाल योगाचार संप्रदाय के अंतिम शुष्कालीन आचार्य हैं। अपनी विद्वत्ता और प्रसिद्धि के कारण ये नालंदा महाविहार के आचार्य भी रहे। इनका स्थिसिकाल छठी शताब्दी का मध्यभाग है। इनके ग्रन्थ हैं : १ आलंबन प्रत्ययस्यानशास्त्र-स्यास्त्रा, २ विज्ञसिमात्रता सिद्धि-स्याख्या और ३ शतशास्त्र वैपुल्य-स्यास्त्रा ।

इस प्रकार विदित होता है कि गुप्त-साम्राज्य की छत्रछाया में बौद्ध-धर्म खूब पनपा और फूला-फला। बौद्ध धर्म की अभिवृद्धि के कारण संस्कृत-साहित्य की अनेक धूँधली दिशायें भी प्रकाशमान हो उठीं। आज बौद्ध-धर्म अपनी जन्मभूमि से विलुप्तप्राय सा हो गया; किन्तु बौद्धाचार्यों की अमर कृतियों में उसका अतीत वैभव युग-युगान्तर तक असुण बना रहेगा ।

परम सौमान्य की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार बौद्धधर्म के उद्धारार्थ संचेष्ट है ।

—००६००—

मातृगुस और भर्तृमेण्ठ

संस्कृत-साहित्य के निर्माताओं में पेसे भाग्यशाली कम हुए हैं, जिन पर श्री और सरस्वती की समान इष्टि रही हो, यदिक अनुशुलिष्यां पूर्व व्याघ्रारिक जीवन के अनुभव तो पहीं सिद्ध बरते रहे कि ज्ञानसेवी, लक्ष्मी का विभासभाजन नहीं हो सका है। किन्तु मातृगुस और हर्षयर्थन ने अपने क्रियात्मक जीवन से यह दिखा दिया कि श्री और सरस्वती का पुक साथ किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है।

काश्मीर के नरपति पद पर प्रतिष्ठित होकर मातृगुस ने अपने श्री-यश को फैलाया और विद्वान्मी पूर्व स्थान विद्यानुरागी होकर अपने ज्ञान-यश का धर्जन भी किया। इन दोनों में ये पंचित पहले थे और संपत्ति-

शाली धाद में हुए। काश्मीर के प्राचीन गौरव के ज्ञानग्रंथ कल्हण कृत 'राजतरङ्गिणी' से विदित होता है कि मातृगुप्त का आरंभिक जीवन बहुत ही साधारण था, जैसा कि किसी भी सरस्वती पुत्र का हो सकता है; किन्तु अपनी अद्भुत काव्यप्रतिभा के कारण उज्जैन के अधीश्वर हर्ष विक्रमादित्य से उन्होंने पर्याप्त यश एवं अर्थलाभ करके अपनी स्थिति को उन्नत किया। विक्रमादित्य के अनुग्रह पर काश्मीर के राजा हिरण्य का निःसन्तान अन्त हो जाने के कारण यह राजगद्दी उन्हें उपलब्ध हुई।

राजतरङ्गिणीकार के मुख से इस प्रसंग का विवरण यों आरम्भ होता है कि काश्मीर के राजा हिरण्य के ३० वर्ष २ मास राज्य करने के उपरांत उसका निःसंतान ही देहान्त हो गया। ठीक उन्हीं दिनों विक्रमादित्य चक्रवर्ती, जिसका दूसरा नाम हर्ष भी था, राज्य करता था। जिसने शक्तों का उच्छ्रेद कर पृथिवी को पापमुक्त किया था। वह राजा दिग्न्त में प्रसिद्ध था। उसके पास मातृगुप्त महाकवि रहता था। मातृगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ आने से पूर्व बहुतेरी राज्यसभाओं से अपनी योग्यता के कारण सम्मान प्राप्त कर चुका था। विक्रमादित्य जैसे गुणज्ञ एवं विद्वत्सेवी राजा के यहाँ रहने में उसे परम सन्तोष था (राजतरङ्गिणी ३।१२५, १२८, १२९, १३०, १३१)।

निरालस्य होकर वडे निर्लिपि भाव से ६ ऋतु अर्थात् पृष्ठ वर्ष तक महाकवि मातृगुप्त ने विक्रमादित्य की सेवा की (३।१६०) और राजा ने अपने प्रति उसका इस प्रकार का आदर-भाव देखकर उसके प्रत्युपकार के लिये चिन्ता की (३।१६६)।

इस गुणग्राही, ईमानदार, सेवा-परायण कवीन्द्र के असामान्य गुणों पर सुरुध होकर विक्रमादित्य ने काश्मीर के तत्कालीन मन्त्रिमंडल को एक भाज्ञापत्र लिखकर मातृगुप्त के हाथ वहाँ पहुंचाया और उस मातृगुप्त और भर्तृमेण्ठ

आशापत्र में हिरण्य की उत्तराधिकार-रहित राजगद्दी पर मातृगुप्त को अधिष्ठित करने के लिए लिखा (३।१८९) । सम्राट् के इस आशापत्र को पाकर मन्त्रिमंडल ने मातृगुप्त को अभियक्ष किया (३।२३७) ।

राज्याभियक्ष हो जाने के अनन्तर कृतज्ञता-ज्ञापन के लिये मातृगुप्त ने विश्वमादिस्य को कुछ भेंट और एक श्लोक रचकर भेजा । श्लोक का आशय या कि हे राजन् आप परोक्षरूप में ही, किसी प्रकार की गर्वयुक्त वाणी का प्रयोग किए विना ही एवं दान की इच्छा को प्रब्लट किये विना ही दे दिया करते हैं । शब्द रहित भेष के द्वारा की गई शृष्टि के समान आपकी प्रसन्नता फलोपलदिघ के बाद ही जानी जा सकती है (३।२५२) ।

भर्तुमेण्ठ का समागम

मातृगुप्त के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि वह कवि-सुलभ भावनाओं को लेकर जन्मा था । इतनी बड़ी संपत्ति का स्वामित्व उसको, उसकी पाण्डित्यप्रतिभा के ही कारण उपलब्ध हुआ था । स्वर्य विद्वान् होने से बढ़कर वह विद्वत्सेषी एवं काष्यरसिक भी था । ‘राजतरंगिणी’ में कहा गया है कि भर्तुमेण्ठ नामक एक महाकवि स्वनिमित्त ‘हयप्रीचवध’ अपनी नवीनतम महाकाव्य कृति को मातृगुप्त के संसुख पदने की अभिलापा से काश्मीर आया । भर्तुमेण्ठ ने अपनी कृति को अन्त-तक पढ़ दिया, किन्तु राजा से उसके सम्बन्ध में जब महाकवि ने एक शब्द भी नहीं सुना तो उसकी गुणग्राहिता एवं काष्यरसिकता पर अविश्वास होने लगा ।

भर्तुमेण्ठ जब अपनी पुस्तक को बेटन में समेटने लगा तो, राजा ने टपकता हुआ काष्यामृत पृथिवी पर न गिरने पावे, पेसी अभिलापा से उस पुस्तक के नीचे एक सुघर्णपात्र रख दिया । राजा

द्वारा किए गये इस सम्मान से सन्तुष्ट हो महाकवि को अपनी रचना के उपलब्ध में उपलब्ध बहुमूल्य पारितोषिक व्यर्थ सा लगाने लगा (२२६०-२६१) ।

भर्तृमेण्ठ का वास्तविक नाम अविदित है । 'मेण्ठ' शब्द महावत का पर्यायवाची है । सुभाषित ग्रन्थों में 'हस्तिपक' नाम से जो रचनायें मिलती हैं, वे भी भर्तृमेण्ठ की ही कही जाती हैं । धनपाल ने इनको मेठराज कहकर स्मरण किया है । उनकी कविता में हाथियों के प्रति विशेष प्रेम का परिचय मिलता है ।

राजतरङ्गिणी के कथनानुसार मातृगुप्त ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काश्मीर पर शासन किया । यही समय भर्तृमेण्ठ का भी है । 'शकारि' सम्राट् विक्रमादित्य का समय भी इतिहास-सम्मत यही है ।

भर्तृमेण्ठ की एकमात्र महाकाव्य कृति 'हयग्रीववध' सम्प्रति उपलब्ध नहीं है । सूक्ष्म-संग्रहों एवं सुभाषित-ग्रन्थों में उसके श्लोक विस्तरे हुए मिलते हैं । राजशेखर ने अपने 'वालरामायण' ग्रन्थ में भर्तृमेण्ठ के सम्बन्ध में कहा है कि पुराकाल में उत्पन्न वालमीकि कवि ही अवान्तर जन्म में भर्तृमेण्ठ, भर्तृमेण्ठ से भवभूति और भवभूति से राजशेखर हुए ।

मातृगुप्त और भर्तृमेण्ठ का सम्बन्ध बहुत समय तक बना रहा । मातृगुप्त स्वयं कविता करते और भर्तृमेण्ठ से कवितायें सुनते थे । भर्तृमेण्ठ की ही भाँति मातृगुप्त के कवियश को सुरक्षित रखने वाला उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध न होकर उद्धरण रूप में स्फुट-कवितायें विभिन्न संग्रहों एवं ग्रन्थों में मिलती हैं ।ऐसी भी श्रुति-परम्परा है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर पुक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी थी । इस विषय के उनके रचे हुए कुछ उपलब्ध श्लोकों को देखकर सहज ही उनके उर्वर मस्तिष्क का परिचय मिलता है ।

३० भाक्तदामी जैसे विद्वानों ने यही सक सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि कालिदास और मारुगुप्त अभिन्न थे। किन्तु मारुगुप्त के सम्बन्ध में उनके स्वतन्त्र ध्यक्षित्व के परिचायक सूत्र इस प्रचुरता से उपलब्ध हैं कि इस प्रकार फी वातों पर विश्वास करने की आवश्यकता ही नहीं होती है।

राजतरङ्गिणीकार का कथन है कि अपने कृपातु स्वामी विक्रमादित्य का देहान्त सुनकर मारुगुप्त ने भी राज्य रथाग फर वैराग्य धारण किया (३२९०)। इनकी प्रशंसा में लिखा हुआ है कि 'परस्पर यथोचित स्वाभिमान रखने वाले तथा उदारदृष्टि विक्रमादित्य, मारुगुप्त और प्रवरसेन इन तीनों राजाओं की कथा ग्रिपथगा गगा के समान परम पवित्र है' (३३२३)।



संस्कृत-साहित्य में 'बृहत्त्रयी' का मूल्यांकन

संस्कृत-साहित्य अपनी महनीय विशेषताओं के कारण विश्व की किसी भी समुद्रतट पर्वत समृद्ध भाषा के साहित्य से किसी भी प्रकार पीछे नहीं है। उसका बृहद् भांडागार उन अमूल्य रक्षों से भरपूर है, सहस्रों वर्षों से जिनकी अमृणन तेजस्विता हमारे विचारजगत् को अनुप्राणित करती आ रही है। संस्कृत भाषा की अपनी एक मौलिक विशेषता यह है कि उसके यशस्वी प्रणेताओं ने जीवन के प्रति जिन उद्देश्यों की प्रतिष्ठा की है वे बहुत उदार हैं और उनमें मानवीय जगत् को समाहित कर देने की व्यापकता विद्यमान है। यही कारण है कि संस्कृत के साहित्यकारों ने अपनी भावी पीढ़ियों को जो कुछ भी दिया वह देश और काल की सीमाओं में न बँधकर आज भी हमारे लिये नया है।

संस्कृत-साहित्य में बृहत्त्रयी का मूल्यांकन

मंगूहा का पह-एक प्रभारत भरना धर्मा-भरण मूल्य रखता है। यह निर्विद्याद माय है कि संग्रहत-साहित्य में ऐसी शृंति मर्ही तिथिको संत्या-पूर्वि के लिए भर्ती किया गया हो। इसलिए ब्रिस 'गृह्यव्रद्धी' की घटां घटां हो रही है उसके गृह्य विदेशग का यह अभिप्राय कदाचित मर्ही कि उसने एक और दूसरी शृंति है ही। नदी धर्मया उसके अतिरिक्त दोष मंगूहा-साहित्य किसी प्रशार मूल्य है। जिन विद्वान् समाजोचकों में इस 'गृह्यव्रद्धी' के पहिले 'शुद्धत' दाढ़ी की दोजना ही है उससे उनका प्रपोन्त उन प्रथों की महानता को उद्घाटित करने भर का था।

मंगूहा-साहित्य में 'शुद्धव्रद्धी' से जिन तीन प्रथों को इसरण किया जाता है, वे हैं : क्षिरातार्जुनीय, निशुपाटवध और नैपर्यपरित। क्षिरातार्जुनीय भारवि की रचना है। निशुपाटवध का दूसरा नाम नायकाव्य भी है लो कि उसके प्रगता माय कवि के ही नाम से अभिदित देखा है और तीसरा शृंति नैपर्यपरित धीरपं इन हैं।

बलंकारपाञ्चियों की विधान-परम्परा के अनुसार 'क्षिरातार्जुनीय' को महाकाव्य कहा गया है। इसलिए उसके प्रगता स्वमायतः महाकवि हुए। महाकाव्यों के निर्माताओं में काछिदास और कम्पघोष के शाद भारवि का नाम लिया जाता है। इतिहासकारों ने भारवि का स्थितिकाल छठी शताब्दी ईस्यी के लासपास निर्धारित किया है। भारवि ने अपनी एक्सात्र शृंति 'क्षिरातार्जुनीय' को जन्म देकर अपनी लेहनों को विश्राम दे दिया। ये चाहते तो और भी ग्रन्थ लिरा सहते थे पर्योक्ति उनमें ऐसी प्रतिभा थी; किन्तु उन्होंने आवश्यक नहीं ममझा। उनके (भारवि के) महा अच्छिव के ग्रति अधिक परिचय प्राप्त करने की जो जिज्ञासा आज द्वोरी है उसका महत्व फिर कैसे रहता !

किरातार्जुनीय

भारवि ने 'किरातार्जुनीय' की अवतारणा कर ही विश्रांति का अवलंबन किया। 'किरातार्जुनीय' में १८ सर्ग हैं। उसका कथानक 'महाभारत' से लिया गया है। कथानक को उधार लेकर भी भारवि की असामान्य प्रतिभा ने जैसे महाभारतकार की ब्रुटियों का परिमार्जन कर उसको नये सिरे से चमका दिया है। काव्य-रसिकों के लिये 'किरातार्जुनीय' में जहाँ एक ओर तन्मय एवं संमोहित कर देने वाली कमनीय उद्भावनायें विद्यमान हैं वहाँ दूसरी ओर विद्वज्जनों के लिए 'गागर में सागर' की भाँति अगाध ज्ञानगाभीर्य की धारें भी समाविष्ट हैं।

भारवि की अद्भुत वर्णनपटुता में बीर रस सो जैसे साकार होकर अठखेलियाँ करता प्रतीत होता है। बीर रस अपनी स्वभावसिद्ध तेजस्वी हुँकारों की जगह अठखेलियाँ करता हसीलिए प्रतीत होता है कि श्रगार रस के साहचर्य को वह छोड़ न सका। तात्पर्य यह है कि बीर रस की प्रधानता में भी शृङ्गारादि अन्य रसों का भी शोभनीय निर्वाह 'किरातार्जुनीय' में किया गया है।

अलङ्कार-योजना और छन्दवन्ध की दृष्टि से 'किरातार्जुनीय' एक सुन्दर कृति है। चरित्र-चित्रण भी वही प्रभावपूर्ण शैली में किया गया है। उपमा अलङ्कारों की योजना में जिस प्रकार कालिदास का कोई सानी नहीं, अर्थसौषुप्ति में उसी प्रकार भारवि अद्वितीय है। अल्प शब्दावली में विपुल भावों को समाविष्ट कर देना सो जैसे भारवि का जन्मसिद्ध अधिकार है।

शिशुपालवध

'वृहस्पत्री' की दूसरी कृति 'शिशुपालवध' है। यह भी महाकाव्य कृति है। महाकवि भारवि को भाँति महाकवि माघ की गोरख-गाथा संस्कृत-साहित्य में वृहस्पत्री का मूल्यांकन

का जाग्यव्यमान प्रतीक 'निशुपाट्टप' संकृत-साहित्य का एक अनमोल रथ है। इतिहासकारों ने द्वयों द्वानर्धांग करने के पश्चात् माघ का स्थिति-न्याय सप्तम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निश्चित किया है।

'किरातार्जुनीय' वो भाँति 'निशुपाट्टप' का एधामक भी 'महाभारत' से उदृष्ट है। भारवि यी कवित्य-शक्ति ने माघ के व्यक्तिगत को बहुत प्रभावित किया है। गुणग्राही माघ ने अपने पूर्खदर्ती महाकाम्यकार भारवि से प्राप्त मेरणा को अपनी श्रुति में रखटस्प से दर्शित किया है। भारवि मे छिप गए यर्णवों यो अपनी भाषा में उन्होंने अपस्थ ढाला है, किन्तु इस इष्टि में मही कि ये उनके स्वातु-भूतिजन्य नहीं हैं।

'निशुपाट्टवध' में २० सर्ग हैं। इस महाकाम्य की पंछियों में माघ की भारती का एक व्यापक प्रभाव सर्वत्र विद्यमान है। माघ कवि-सुलभ कर्मनीयताओं से तो सम्पर्श थे ही, साथ ही उनमें सर्वप्राप्त-हैदरान्य भी भरा हुआ था। माघ की सर्वतोमुखी प्रतिभा को पदचानने के लिए 'निशुपाट्टवध' के तीमरे सर्ग में देखर मध्यम सर्ग नक का अनुशीलन करना ही पर्याप्त होगा। माघ का यर्णव-सौन्दर्य और भाव-माधुर्य यदा ही प्रभावोत्पादक है।

'निशुपाट्टवध' में येद, दर्शन, व्याकरण और नाट्यशास्त्र का वैभिन्न घड़े पाण्डित्यपूर्ण दंग से निर्यादित किया गया है। माघ की उद्भव विद्वाना को लघ्य कर आलोचकों का कहना है कि 'निशुपाट्टवध' के नवम सर्ग पर्यन्त ही संकृत का सर्वपूर्ण शब्द-मंदार खाली हो जाता है—'नवसर्गं गते माघे नवशब्दे न विद्यते।' माघ का यह अपरिमित ज्ञान उनके कविजीवन की एक उद्द्यासन पर अधिष्ठित कर देता है।

माघ के आलोचकों का कहना है कि उनके काण्ड्य में कालिदास जैसी उपमायें, भारवि जैसा अर्धगौरव और दण्डी जैसा पद्धालित्य

पुज्जीभूत हो गया है। उनकी अनुपम व्यंजना-शक्ति और उनका सुषुप्त भाव-संवरण बहु ही सटीक उत्तरा है। पद शब्द को ऐसी तद्द करके योजित किया है कि एक शब्द भी स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। माघ सचमुच एक प्रतिभासम्पन्न महाकाव्यकार थे।

नैषधीय चरित

श्रीहर्ष कृत 'नैषधीय चरित' को मिलाकर 'बृहत्त्रयी' की गणना पूरी हो जाती है। 'नैषधीय चरित' के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष का स्थिति-काल बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थिर किया गया है।

अब यह भी स्पष्टतर हो गया कि श्रीहर्ष उन सम्राट्-हर्षवर्धन से सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे जिन्होंने रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका की रचना की थी। श्रीहर्ष ने लगभग नौ ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु 'नैषधीय चरित' ही उनकी एकमात्र ऐसी कृति है जिसको लिखने में स्वयं उन्होंने बही उत्सुकता का अनुभव किया। यही कारण है कि यह महाकाव्य-कृति आज भी अपने रचनाकार को अमर बनाये है।

'नैषधीय चरित' में २२ सर्ग हैं। इसका कथानक पौराणिक है। नलदमयन्ती का प्रणय-व्यापार इसका कथानक है, जिसको इतने सुन्दर ढंग से संजोया गया है कि पाठक एक बार उसमें खो-सा जाता है। शङ्खाररस के विप्रलम्भ और संभोग दोनों पक्षों का पारदर्शी चित्रण किया गया है। सुन्दर पदशब्द, समाकर्पक भावाभिव्यञ्जन और सुषुप्त शैली के चित्रण में श्रीहर्ष की कविता काव्य-रसिकों के लिए एक अपूर्व विनोद की बस्तु बन गई है। श्रीहर्ष के तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्मुख भारवि और माघ का पाण्डित्य तक धूमिल पड़ जाता है :

‘उदिते नैषधे काव्ये फ़ माघः फ़ च भारविः’

संस्कृत भाषा पर श्रीहर्ष का असाधारण अधिकार था। उनकी संस्कृत-साहित्य में बृहत्त्रयी का मूल्यांकन

१६१

कविता में जहाँ सरस, सरल और समाकर्पक कर देने वाले कमनीय विचारों की पोजना है वहाँ दर्शन की अति सुर्गम ग्रन्थियों में उलझा देने वाले स्थलों की भी कमी नहाँ है। नैपथ का सम्पूर्ण सब्रहर्वाँ सर्ग इसका उदाहरण है। ‘खण्डनव्यग्रज्ञास्थ’ जैसे ग्रन्थ को लिखने वाले श्रीहर्ष की दार्शनिक बुद्धि, काव्य की कोमलताओं में कैसे लग गई यह एक आश्रय की वारत है। अद्वैतवेदान्त के द्वेष में उनका उच्च दर्शनग्रंथ अपना सानी नहीं रखता है।

‘महाभारत’ में वर्णित नलोपाख्यान के निर्जीव कथामक को श्रीहर्ष की निपुण लेखनी ने चमका दिया है। भाव, भाषण और शैली की हाइ से ‘नैपधीय चरित’ की श्रेष्ठता लोकविदित है। श्रीहर्ष में महाकाव्यों को लिखने की परम्परा समाप्त हो जाती है। ‘नैपधीय चरित’ संस्कृत साहित्य का अन्तिम महाकाव्य है।

इस प्रकार ‘बृहस्पत्यी’ की विदेषताओं पर एक सरसरी हाइ ढालने के उपरान्त प्रतीत होगा कि संस्कृत के साहित्यकारों ने अपने दिव्यालोक से धरती को घोतिर कर दिया। ‘बृहस्पत्यी’ में तीन युगों के तीन महाकाव्यकारों का असामान्य स्यक्षित्र समन्वित है।

अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी

अलङ्कारशास्त्र की व्यापकता केवल अलङ्कारों तक ही सीमित नहीं हो जाती, अपितु लक्षणग्रन्थों में वर्णित कान्य, गुण, दोष, रस, शक्ति, अलङ्कार आदि सभी विषयों का समावेश समान रूप से उसमें हो जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इस शास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' की संज्ञा से ही अभिहित किया था। आगे चलकर 'साहित्यविद्या' और 'क्रियाकल्प' जैसे नाम भी यद्याकदा इस स्थान पर उपयोग में लाए गये; किन्तु कालान्तर में ये नाम प्रसिद्धि न पा सके और 'अलङ्कारशास्त्र' के ही नाम से इस शास्त्र ने स्थायित्व प्राप्त किया। आचार्य राजशेखर ने 'अलङ्कारशास्त्र' को वेदांग मानकर उसे चारों विद्याओं—तत्क, त्रयी, अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी

वार्ता और दण्डनीति—का समन्वय चलाया। इन्हीं आचार्य के मतानुसार इस शास्त्र की उत्पत्ति नटराज शङ्कर से हुई। उदनन्तर गृहा जी ने शङ्कर से शिष्या ली और उन्होंने भागे चलकर भरत, नन्दिकिशोर, धिपण, उपमन्तु नामक घार आचार्यों को इस शास्त्र में दीक्षित किया। उक्त सिद्धान्त की सत्यता कहाँ तक संभव है, कहा नहीं जा सकता।

परम्परा

'काव्यादर्श' की दीकाओं से ज्ञात होता है कि काश्यप, वरहुचि, अहूदत्त और नन्दिस्वामी प्रमृति आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्र पर यथेष्ट प्रकाश ढाला था; किन्तु उक्त आचार्यों की अभी तक कोई ठोस रचनायें उपलब्ध न होने से यह जिज्ञासा का ही विषय बना हुआ है। महर्षि पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में कृशाश्व और शिलालि के नटसूत्रों का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक उक्त शास्त्र की ख्याति यत्र-तत्र व्याप्त हो चुकी थी। पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य यास्क ने भी 'निरुक्त' में उपमा अलङ्कार का उल्लेख किया है। यास्क का समय ई० पूर्व सातवीं शती है। इनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गार्य ने 'अथात उपमा यद्-अरद्-चत्-सहशाम्' कहकर उपमा अलङ्कार की चर्चा की है।

किन्तु आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से ही 'अलङ्कारशास्त्र' का पूर्णरूपेण उदय मानना चाहिये, यथापि इस ग्रन्थ में भी सुवर्णनाम और कुचमार आदि अनेक अलङ्कारशास्त्रियों के नाम आये हैं, जिनका समर्धन वास्त्यायन 'कामसूत्र' भी करता है। आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र सभी लिखित कलाओं-अलङ्कार, 'संगीत, छन्द-का संवित

कोष है। यह ग्रन्थ समय-समय पर लिखा गया दीर्घकालीन साहित्य-साधना का फल है।

आचार्य भरत के अनन्तर अलङ्कारशास्त्र की कई शताविंदियाँ अंधकारपूर्ण हैं। यदि आचार्य भामह इस दिशा में सचेष्ट न होते तो हो सकता था कि काव्यशास्त्र की परम्परा समूल ही सदा के लिए मिट जाती; किन्तु भामह ने काव्यशास्त्र की शताविंदियों से सोई चेतना को प्रबुद्ध कर उसको नई दिशा में प्रेरित करने की शक्ति प्रदान की। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' की रचना कर उन्होंने अलङ्कारशास्त्र की विद्युत्तम परम्परा को ही ग्रथित नहीं किया, अपितु भरत के मतानुसार नाव्यशास्त्र की चहारदीवारी से विरी हुई अलङ्कार-शास्त्र की बन्दी आत्मा को मुक्त कर उसको स्वतंत्र रूप से प्रशस्त होने का सुयोग भी दिया।

आचार्य भामह

आचार्य भामह का व्यक्तिरूप और विशेष रूप से उनका स्थितिकाल आज भी विद्वानों की गवेषणा का विषय बना हुआ है। कुछ आन्तरिक और शेष वाय्य प्रमाणों के आधार पर इतना तो निश्चय हो छो चुंका है कि इनका जन्म कवि-प्रसविनी काश्मीर भूमि में ही हुआ। आचार्य उद्धट ने भामह के 'काव्यालङ्कार' पर 'भामह-विवरण' नामक विस्तृत व्याख्या की है तथा अपने 'काव्यालङ्कार-सार-संग्रह' में अनेक स्थलों पर भामह की परिभाषायें उपों-की-ध्यों उद्दृष्ट की हैं। आचार्य दण्डी ने भी इसी प्रकार 'काव्यालङ्कार' के अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनके आधार पर तरुण चाचस्पति, हरिनाथ, चादि, जंघाल प्रमृति आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि भामह, दण्डी के पूर्ववर्ती थे। अतः ₹० ६०० के पूर्वार्द्ध भाग में भामह का स्थितिकाल निर्धारित किया अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी

जाय तो अयुक्त न होगा। वहुत समय तक तो आचार्य भामह का नाम उद्धरण रूप से ही इतर ग्रन्थों में पाया जाता था; किन्तु जब से हनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' का पता चला तभी से शास्त्रकारों में हनकी स्वतंत्र स्थाति प्रतिष्ठित हुई। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर छह परिच्छेद हैं तथा लगभग ४०० श्लोकों में ग्रंथ की समाप्ति की गयी है। प्रथम परिच्छेद में काव्योपजीवी-उपकरण, काव्य का लक्षण तथा उसके भेदोपभेदों की चर्चा की गयी है। दूसरे, तीसरे परिच्छेद में अलङ्कार निरूपित हैं। अलङ्कारों की कुल संख्या ६८ है। चौथे परिच्छेद में आचार्य भरत द्वारा निर्दिष्ट दस दोषों का वर्णन है। पूर्ण पंचम परिच्छेद में न्याय-विरोधी दोषों की विस्तृत भीमांसा है और अन्तिम छठे परिच्छेद में शब्दों के समुचित प्रयोग का निरूपण है।

ग्रन्थ यथापि अपने आकार-प्रकार में लघुकाय है, किन्तु उसमें 'अलङ्कारशास्त्र' के समस्त महनीय तत्वों का उल्लेख सूत्ररूप से हुआ है। ग्रन्थ की उपयोगिता इसी में आंकी जा सकती है कि भामह के परवर्ती प्रधानाचार्यों में उद्घट, आनन्दवधीन, अभिनवगुप्त तथा ममट जैसे प्रत्याक्ष विद्वानों ने अपने-अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर 'काव्यालङ्कार' के प्रमाण देकर अपने-अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की है।

आचार्य भामह ने इस ग्रन्थ में कठिपय ऐसी विशेषताओं का समावेश किया है जो पूर्ववर्ती काव्यकारों के ग्रंथों में नहीं पाई जाती और परवर्ती आचार्य भी प्रायः उस दिशा में मौन ही दिखाई पड़े। शब्द और अर्थ में काव्य की चेतना को प्रतिपादित करना भामह की ही विचरण प्रतिभा का फल है। भरत प्रतिपादित दशविध गुणों को गुणव्य—मोज, माधुर्य और प्रसाद—के अन्तर्गत ही समाविष्ट करना तथा घकोक्ति अलङ्कार को अलङ्कार-परम्परा का खोत समझना भामह की तत्त्वग्राहिणी द्वाद्वि की ही देन है।

आचार्य दण्डी

आचार्य दण्डी के सम्बन्ध में जो कलिपत्र किंवदन्तियाँ वहुत समय से अली आ रही थीं, हाल ही में उपलब्ध 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' के द्वारा उन सब का अन्त हो गया और प्रामाणिक सत्यों के आधार पर पता लगा है कि दण्डी के पितामह का नाम भारति तथा पिता का नाम वीरदत्त था। इनकी माता का नाम गौरी था और दक्षिण देशस्थ कांचीनगर इनकी जन्मभूमि थी। 'काव्यादर्श' के प्रसिद्ध श्रीकाकार तरुण चाचस्पति ने भी इनका जन्म कांचीनगर घटाया है तथा 'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' के इस दूसरे चाक्य का भी समर्थन किया है कि कांची-स्थित पञ्चवनरेश के आश्रय में, रह कर ही इन्होंने अपने आचार्यत्व और कवित्व की व्याप्ति दिग्-दिगन्तर में व्याप्त की थी।

'अवन्ति-सुन्दरी-कथा' के द्वारा आचार्य दण्डी का स्थितिकाल भी स्पष्ट हो गया है। दण्डी के पितामह भारति के समय के सम्बन्ध में अनेक क्षिण्डा-लेखों और ऐतिहासिक प्रभाणों से सिद्ध हो चुका है कि वे सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान थे। अतः यह निर्विवाद स्थिर किया जा सकता है कि दण्डी सप्तम शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा अष्टम शताब्दी के प्रथम चरण में हुए। कांचीनरेश पञ्चव, जिनके आश्रय से दण्डी ने काव्य रचना की, समय भी सातवीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।

'काव्यादर्श' अपने समय की पण्डित-मण्डली का अत्यधिक प्रिय ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थ की समाप्ति के बाल चार परिच्छेदों में की गई है और उसमें कुल मिला कर ६६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण और उसके भेदोपभेदों की शास्त्रीय मीमांसा की गई है तथा रीतियों—चैदर्भी और गौड़ी—पर विस्तार के साथ विवेचन कर अन्त

में दशविंध गुणों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरा सम्पूर्ण परिच्छेद अर्थालङ्घारों के निरूपण में ही समाप्त किया गया है। कुल मिलाकर प्रधान अलङ्घारों की संख्या ३५ है। उपमा अलङ्घार पर ऐसी सारगमिति एवं शास्त्रीय व्याख्या इतर ग्रन्थों में कम मिलेगी। तीसरे परिच्छेद में शब्दालङ्घार और उनमें भी विशेषतः यमक अलङ्घार का निरूपण किया गया है। अन्तिम परिच्छेद दशविंध दोषों के निरूपण में समाप्त किया गया है। अलङ्घार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक के रूप में आचार्य दण्डी का शीर्ष स्थान है।

आचार्य ममट ने अपने अन्य 'काण्ड्यप्रकाश' में अपने पूर्ववर्तीं प्रायः सभी आचार्यों के भर्तों का खण्डन किया है; किन्तु आचार्य दण्डी के सिद्धान्तों का सम्मान कर प्रमाणस्वरूप उनका अनेक स्थानों में उल्लेख किया है। 'काण्ड्यावर्ष' पर कुल मिलाकर छह टीकायें लिखी गई हैं, जिनमें तीन टीकायें—प्रथम तरुण शाचस्पति की, द्वितीय अज्ञातनामा किसी विद्वान् की 'हृदयङ्गमा टीका' तथा तृतीय पण्डित नृसिंहदेवशास्त्री की 'कुसुम-प्रतिभा' टीका—अधिक लोकप्रिय हुईं।

आचार्य ममट

'राजानक' उपाधिधारी आचार्य ममट की जन्मभूमि भी काश्मीर ही है। यह उपाधि काश्मीरी विद्वानों के लिए अत्यन्त सम्मान-सूचक है। 'महाभाष्य-प्रदीप' के रचयिता कैथ्यट हनके बड़े भाई और 'प्रकृ प्रातिशास्त्र' के भाष्यकार उच्चट हनके छोटे भाई थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि हनके पिता का नाम कैथ्यट था, किन्तु वेदभाष्यकार कैथ्यट ने अपने पिता का नाम बज्रट यताया है। ममट शैव-मतावलम्बी थे।

आचार्य ममट के स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ आन्तरिक और

शेष वाह्य प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि ये ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में घर्त्वमान थे। आचार्य हेमचन्द्र का 'स्थितिकाल ई० सन् १०८८ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में स्थान-स्थान पर 'काव्य-प्रकाश' के उद्धरण दिये हैं। आचार्य माणिक्यचन्द्र ने 'काव्य-प्रकाश' पर अपनी प्रसिद्ध 'सङ्केत' टीका लिखी है। उक्त टीकाकार का समय ई० सन् ११६० है। आचार्य रुद्यक 'की 'सङ्केत' टीका इससे भी प्राचीन है। ममट ने राजा भोज की 'प्रशंसा' में कई पद लिखे हैं। भोज के पण्डितों के यहाँ कुछ ऐसी प्राप्त सामग्री के आधार पर भी उक्त तथ्य का समर्थन हो जाता है। भोज का समय ई० सन् १०५५ है। अतः आचार्य ममट का स्थितिकाल आचार्य हेमचन्द्र (सन् १०८८) से पूर्व और भोज (१०५५) के बाद होना चाहिए।

आचार्य ममट के 'काव्य-प्रकाश' के प्रधान तीन अंश हैं। १४२ कारिकार्य, अनेक छृत्तियाँ तथा ६०३ उदाहरण १० उज्ज्वासों में वर्णित कर हस विशालकाय ग्रन्थ की समाप्ति की गई है। प्रथम उज्ज्वास में काव्य-सम्बन्धी विवेचन के अनन्तर काव्य के तीन भेद वर्णित हैं। द्वितीय में अर्थयोधिनी तीन शक्तियों की मीमांसा की गई है। सम्पूर्ण तृतीय उज्ज्वास इन शक्तियों के विवेचन में ही समाप्त हुआ है। चतुर्थ उज्ज्वास में ध्वनिभेदों का निरूपण तथा रस के आधारभूत 'विभावादियों' का शास्त्रीय ढङ्ग से विवेचन किया गया है। पञ्चम में घ्यञ्जना की विवेचना के अनन्तर महिम भट्ट का खण्डन है। पछ में चित्र-काव्य का वर्णन है। सप्तम में काव्यदोषों की चालिका है। अष्टम में गुण और रीति की व्याख्या के साथ-साथ अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का खण्डन वर्णित है। नवम में वक्त्रोक्ति के आठ प्रधान भेदों का विवेचन है और दशम उज्ज्वास में ६२ अलङ्कारों की साङ्गेपाङ्ग व्याख्या वर्णित है।

अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्यत्रयी

हम सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि 'काव्यप्रकाश' के परिषद् अलंकार तक ही आचार्य ममट की रचना है; ग्रन्थ के दोष भाग की समाप्ति किसी द्वितेर कारमीरी विद्वान् अलक या अहंट द्वारा हुई।

अविदित नहीं कि 'काव्य-प्रकाश' देशीप्यमान दिनमणि की भाँति वह प्रकाशपुंज है, जिसकी तेजस्विता में साहित्य-गगन के सभी उहुराण निस्तेज नजर आते हैं। 'काव्य-प्रकाश' की शैली सुन्नातमक शैली है। काव्य के गम्भीर एवं मार्भिक विषयों का ऐसा अभूतपूर्व विचेचन कम ग्रन्थों में पाया जाता है। उहुष्टुत विद्वानों की अनेकानेक टीकाओं के फलस्वरूप भी ग्रन्थ की हुर्गमता ज्यों-की-स्यों घनी हुई है, जिसको कविराज विश्वनाथ और स्वयंक जैसे विद्वान् भी बोधगम्य न यना सके।

इस पक ही ग्रन्थ में मरत मुनि, भामह, दण्डी, महिम मट, रुद्रट, वामन, आनन्दवद्देन, अभिनव गुप्त, भोजराज, प्रमृति सभी पूर्ववर्ती दिग्गज विद्वानों के अरोप पाण्डित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है। ध्यंजना, रस और विशेषतः ध्वनि के प्रतिपादन में तो अलंकारशास्त्र के आचार्यों का यह ग्रन्थ गंभीर विचारणा का विषय है। ममट ने ध्वनि को ही उत्तम संज्ञा दी है।

'काव्य-प्रकाश' पर जितनी टीकायें हुई हैं, काव्य-सेत्र के अन्तर्गत आने वाले किसी भी छष्णग्रन्थ पर इतनी टीकायें नहीं हुईं। प्रसिद्ध टीकाकारों में माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, सरस्वतीसीर्प, जपन्त, गोविन्द ठाकुर, वामनाचार्य प्रमृति के नाम उल्लेखनीय हैं।



संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार भवभूति

भवभूति संस्कृत-साहित्य के महान् निर्माताओं में से एक है। श्रायः प्रस्येक भाषा के दो-चार ऐसे प्रतिभाशाली मनस्वी होते हैं, जिनके बल, व्यक्तित्व और चुदि पर उस भाषा का संपूर्ण अस्तित्व निर्भर करता है। भवभूति उन्हीं दो-चार यशस्वी प्रणेताओं की कोटि में आते हैं। संस्कृत-साहित्य के साथ भवभूति का नाम अमर है।

संस्कृत के ग्रन्थकारों में एक प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने अपनी अधिवनसंबंधी जानकारी के लिए इतिहासकारों को भटकाया ही नहीं, अपितु अपनी महत्तम कृतियों को किसी महापुरुष या देवताविशेष के नाम लिखकर अपने व्यक्तित्व को सर्वथा विलुप्त भी कर दिया।

संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार भवभूति

२०१

भवभूति ने अपने ध्यक्तिरूप के संघंध में इतनी उपेक्षाघृति सो नहीं अपनाई, किन्तु उनके भास्मविषयक कथन का अन्तःसाद्य ही उनके जीवन-परिचय के लिए यथेष्ट नहीं है। विना घटिःसाद्य के आधार पर उनका परिचयात्मक विवरण नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन-परिचय

भवभूति ने अपनी कृतियों में अपना जो परिचय दिया है उसके अनुसार उनकी जन्मस्थली विद्यमदेशस्थ पश्चिम नामक नगरी ठहरती है। वे विशुद्ध वैदिक वंश-परंपरा के ग्राहण थे। उनका पांचवाँ पूर्वज महाकवि नामक व्यक्ति याज्ञिक विद्वान् था। उनके पितामह का नाम गोपाल भट्ट, पिता का नाम नीलकंठ भट्ट, माता का नाम जातुरुणी, शुरु का नाम ज्ञाननिधि और उनका पितृ-प्रदत्त नाम धीकंठ भट्ट था। भवभूति नाम से इन्होंने अपने को क्यों अभिहित किया अथवा इस नाम से ये लोक-प्रसिद्ध क्यों हुए, इस रहस्य का विश्वसनीय हबाला अभी तक किसी इतिहासकार ने नहीं दिया है।

भवभूति की जन्मतिथि के विषय में भनेक मत हैं। संस्कृत-साहित्य के आधुनिकतम इतिहासकार उनका स्थितिकाल सातवीं शताब्दी ईस्वी के आसपास मानते हैं। भवभूति की लिखी हुई सीन कृति उपलब्ध होती है—महाधीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। ये तीनों नाटक-कृतियाँ हैं। उनके इन नाटकों में कहीं-कहीं खेद, उपनिषद्, सांख्य और योगविषयक प्रसङ्ग भी आए हैं, किन्तु उनका अभिप्रेत विषय नाटक लिखना था, दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं। वे तो एक विशुद्ध नाटककार थे। अपने विषय को उन्होंने भली रूपति निभाया।

संस्कृत-साहित्य में नाटक-अन्य प्रचुर संख्या में लिखे गए। संस्कृत

के नाटकों का वैभवशाली युग भास से प्रारम्भ होता है, जिनका स्थिति-काल लगभग है० पू० चौथी शताब्दी है। इस समय से लेकर सोलहवीं शताब्दी हृस्वी तक के निरन्तर वीस शतकों में संस्कृत के असंख्य नाटकों का निर्माण हुआ। भवभूति का युग संस्कृत-नाटकों का मध्य युग था। यह युग वहा वैभवशाली युग रहा है। ईसा की पहली शताब्दी में वर्तमान बौद्ध विद्वान् अश्वघोष कृत 'शारिपुत्र प्रकरण' तक नाटकों का पहिला युग कहा जा सकता है। दूसरा युग ईसा की छठी शताब्दी अर्थात् विशाखदत्त से आरंभ होकर ईसा की नवम शताब्दी अर्थात् राजशेखर तक चलता है और उसके घाँट ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक तीसरा युग। विशाखदत्त, हर्षवर्धन, भवभूति, भट्ट नारायण, मुरारि और राजशेखर मध्ययुग के प्रमुख नाटककारों की श्रेणी में आते हैं।

असामान्य व्यक्तित्व

मध्ययुग के इन नाटककारों में भवभूति का व्यक्तित्व सर्वथा वेजोद्ध और उनकी प्रतिभा असामान्यरूप से अपना उज्ज्वल यश लिए अलग खड़ी है। भवभूति की दो आरम्भिक कृतियाँ—महावीरचरित और मालतीमाधव—सामान्य कृतियाँ हैं। उनमें नाट्य-साहित्य के प्रायः सभी प्रधान गुण विद्यमान हैं; किन्तु परम्परा-निर्वाह के हृष्टिकोण से। 'उत्तररामचरित' में भवभूति की भावधारा शरद के निरञ्चनभ की भाँति विमोहक और स्वच्छ-शैवलिनी के संगीतमय कल-कल की भाँति मधुर है। नाट्यकार की जीवन-साधना के संकलिपत मनोरथ उसमें साकार जैसे प्रतीत होते हैं। संस्कृत-साहित्य के नाटक-निर्माताओं में कालिदास और भवभूति का नाम घड़े आदरभाव से स्मरण किया जाता है। क्रमशः दोनों यशस्वी कलाकारों की कृतियाँ: अभिज्ञान संस्कृत-साहित्य के महान् नाटककार भवभूति

शाकुन्तल और उत्तररामचरित—उनके घुसुपी व्यक्तित्व के प्रमाण ही नहीं, अपितु वे सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य की अमर यादगार हैं। यही कारण है कि उनकी गणना विष्णु-साहित्य की श्रेष्ठतम् कृतियों में की जाती है।

भवमूर्ति ने जिस समय 'उत्तररामचरित' की रचना की, पूर्ण-प्रौद्योग उनको धेरे थैठा था। जीवन-सागर की अतल गहराइयों का सार लेकर उनका प्रौढ़ कथित-हृदय एक पेसे मात्यम की योज में था जिसके द्वारा वह अपनी संवेदनशील अनुभूतियों को कमबद्ध रूप दे सके। पेसे ही समय आदि कवि वाश्मीकि की करुणा-प्लावित वाणी सुनाई दी और फलस्वरूप उन्होंने राम के जीवन का सर्वोत्कृष्ट उत्तर भाग अपने कृतित्व का विषय बनाकर 'उत्तररामचरित' जैसी दिव्य कृति को जन्म दिया।

राम के जीवन का उत्तर भाग सीता के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंश होने के कारण ही इसना लोकप्रिय हुआ है। भवमूर्ति ने एक निराधित और निवासित नारी सीता की व्यथा का इस हृदय-विगड़ित ढंग से वर्णन किया है कि उत्तररामकथा तथ से जन-जन के जीवन की अतिप्रिय कथा यत गई। सचमुच ही भवमूर्ति ने 'उत्तररामचरित' की रचना कर संस्कृत-साहित्य को यीरवान्वित किया है।

—०००—

उनका महसू नकारात्मक ही है। नाटककार के ही रूप में विशेषतः भवभूति की अगाध ज्ञानगरिमा का पता लगता है।

‘महावीरचरित’ भवभूति का प्रथम नाटक है। सात अंकों में इसकी समाप्ति की गई है। इस नाटक में कवि ने रामचरित का पूर्वार्ध भाग नाटकीय रूप में घुंकित किया है। नाटक की रचना की रोचकता के विषय में भाण्डारकर महोदय का मत है कि नाटक अल्प और अरोचक हो गया है। उसका कारण यह है कि न तो इस नाटक में भाषा तथा भाव की ओर ध्यान दिया गया है और न मानव-हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थलों को स्पर्श करने की दिशा में कवि सचेष्ट हैं। सम्बाद, घटनाओं तथा चरित्रचित्रण की ओर स्तुत्य प्रयत्न नहीं किया गया है। नाटकीय नियमों पर यदि इष्टि ढाली जाय तो यहाँ तक अम होने लगता है कि नाटककार उनसे भी पूर्ण परिचित न था।

‘मालतीमाधव’ कवि की दूसरी रचना है। इसमें दस अंक हैं। मालती और माधव के प्रेम सम्बन्ध को लेकर कवित-कथानक के रूप में इस नाटक की सृष्टि की गई है। इस नाटक में तथा भास के ‘अविमारक’ नाटक के घटनाक्रमों में कहूँ स्थानों पर साम्य दिखाई पड़ता है। ‘मालतीमाधव’ की थाघवाली घटना अविमारक की हाथीवाली घटना से अचरणः मिलती है। अविमारक में वर्णित विद्याधर के द्वारा अविमारक की रक्षा, ‘मालतीमाधव’ में वियोगिनी द्वारा की गई माधव की रक्षावाली घटना में निकट साम्य है। इस नाटक के विषय में एक धार विशेष ध्यान देने योग्य है। जहाँ ‘महावीरचरित’ में कवि की प्रतिभा कुण्ठित दिखाई देती है, वहाँ इस नाटक में आकर कवि के उदार भाव एक निश्चित दिशा की ओर उन्मुख होते दिखाई देते हैं। भाषा और भावों का जैसा ज्ञान-संस्कृत ‘महावीरचरित’ में दिखाई देता है, ‘मालती-

माधव में आकर हम, कवि को एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर होते देखते हैं। यहाँ पात्रों का विकास समादरणीय हो गया है। प्रकृति-चित्रण में तो कवि की भावुकता निखरन्सी उठी है।

इस नाटक का शब्द-विन्यास, भावाभिव्यञ्जन तथा अवसरोचित भाषापाठव नाटककार की अपनी विशेषतायें हैं। 'अं व्रह्माणभियं देवी वाग्वश्येवाजुवर्तते' वाली शब्दोंकि उनके व्यक्तिगत के अनुरूप उत्तरती है। अनुचरी की भाँति भाषा का उनके इंगितों पर नाचना नाटककार के शब्दबोध का प्रमाण है। एक और 'कूजस्कलान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्वुभाः' वाली ओंजगुणविशिष्ट विलष्ट पदावली से पाठक के कर्णपुट गैंजने लगते हैं तो दूसरी ओर :

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे ध्यथा ॥

जैसी सरल, सुगम और समासरहित शब्दावली पाठक को आकृष्ट कर देती है। कठोर से कठोरतम और कोमल से कोमलतम शब्दावली में भवभूति के पांदित्य और प्रतिभा का अपूर्व सामंजस्य हुआ है।

दूसरी विशेषता नाटककार की भावग्राहिणी बुद्धि का अनायास विषय-प्रवेश है। किसी भी भावविशेष अथवा अवस्थाविशेष का चित्रण नपे-नुले शब्दों में चित्रित करने में नाटककार असाधारण पड़ रहे हैं। मनोदशाओं का क्रमशः उत्तार-चढ़ाव प्रस्तुत करने में, भवभूति की लेखनी ने कमाल किया है। दण्डकारण्य में राम-मिलन के समय सीता के मनोभावों को समसा किस प्रकार व्यक्त करती हैं, देखने योग्य है :

तटस्य नैराश्यादपि च कलुपं विप्रियवशाद्
वियोगे दोघेऽस्मिन् ऋटिति घटनारस्तम्भितमिव ।

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते

२०७

प्रसन्नं सौमन्याद्यितकरुणैर्गाढकरुणं,

द्रवीभूतं प्रेमणा तथ द्वयमस्मिन् द्वन् द्व ।

‘हे पुत्री, इस समय तुम्हारा अन्तःकरण युनर्मिलन की आशा से विषय, अकारण परित्याग से कल्पित, दीर्घकालीन वियोग के बाद एक भेट हो जाने से प्रसन्न, प्रिय राम के करुण विलापों के कारण कारणिक और प्रेम के कारण द्रवित सा हो रहा है ।’

भवभूति जैसा प्रकृतिनिरीचण बहुत कम कवि कर सके हैं। इसका कारण है कि भवभूति प्रकृति के सच्चे उपासक रहे हैं। उन्होंने प्रकृति का निरीचण अपनी आँखों से किया है। विद्यर्भ प्रदेश की, जहाँ कि भवभूति की जन्मभूमि है, प्रकृति का सत्य स्वरूप उनके नाटकों में यत्र-तत्र आया है। प्रकृति का यह रूप उन्होंने आल्मवन-विभाव के रूप में ग्रहण किया है। भवभूति ने प्रकृति का प्रचण्ड एवं धोर स्वरूप ही विशेषतः अपना वर्ण-विषय बनाया है। जहाँ उन्होंने नारीस्वरूप को लिया है वहाँ भी उनकी दृष्टि बाध्य रमणीयता की अपेक्षा अन्तःसौन्दर्य पर ही अधिक गई है। नारी का आदर्श प्रेम ही नाटक में अपनाया गया है। स्वर्गीय द्विजेन्द्रराय ने उत्तररामचरित की इस प्रेमप्रणाली को लघ्य करके कहा है कि ‘उत्तररामचरित विच्छास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग कीड़ा में, भाषा के गांभीर्य में और हृदय के माहात्म्य में अत्यन्त ध्रेष्ठ बन पढ़ा है।’ प्रकृति की उक्त रूपयोजना का गंभीर एवं भीम वर्णन भवभूति ने स्थान-स्थान पर किया है। प्रकृति के भीम विश्वग्राही चित्रण की कैसी मर्म व्याख्या इस श्लोक में हुई है :

निष्कृजस्तिभिताः क्वचिरक्वचिदपि प्रोच्चण्डसरवस्त्वनाः ।

X X X

तृप्यन्दिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्वः पीयते ॥

‘कहीं एकदम सज्जाटा छाया हुआ है तो कहीं कोई स्थान वन्य

पश्चात्यों के भयानक गर्जन से परिपूर्ण हो रहा है। क्षु क्षु कहीं प्यास से विह्वल गिरगिट अजगर के शरीर का पसीना पी रहे हैं।'

इतना ही नहीं, यहाँ तक कि 'यत्र मुमा अपि मृगा अपि वनध्वचो मे' कहकर पशु-पश्ची, मृग आदि से भी अपना स्नेहवन्धन जोड़ लिया है। यही कारण है कि उनकी वनदेवी वासन्ती और तमसा जैसी अशरीरिणी भी मूर्तिमती होकर उनके नाटक में अभिनय करती दिखाई पड़ती हैं।

'काश्यं भवभूतिरेव तनुते'—उत्तररामचरित में करुणरस की जितनी व्यञ्जना है, उतनी इतर काव्यों में नहीं दिखाई पड़ती। सच तो यह है कि संस्कृत-साहित्य में भवभूति करुणरस के सर्वश्रेष्ठ कथि माने गये हैं। गोवर्द्धनाचार्य के अनुसार भवभूति की करुण चाणी को सुनकर औरों की तो बात ही क्या, पश्यत तक रो पड़ते हैं। इसी करुणरस को भवभूति ने 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाव' कहकर सभी रसों का मूल स्रोत बताया है। यही कारण है कि करुणरस की अप्रधानता होते हुए भी उत्तररामचरित के नाटक होने में किसी ने सन्देह नहीं किया। भवभूति का करुणरस अन्तर्वेदना से उद्भूत है, उसमें मर्मस्पर्शी जलन और यन्त्रणाजनित प्रलाप है :

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गृहघनव्यथः ।

पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

सीता के साथ अनुभूत दण्डकारण्य तथा पञ्चवटी के सुखद अमण अकेले राम को अत्यधिक व्यथित कर रहे हैं : 'घनीभूतश्शोको विकल-यति मां मूर्च्छ्यति च'। 'दृढ़य के मर्म विस्फोटक फिर से कूट पड़ने के कारण मेरा यह दाहण शोक मुझे विकल कर रहा है। आह! मैं मूर्च्छित हुआ जा रहा हूँ।' उत्तररामचरित में भवभूति की कल्पा सीता के उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते

स्वयं में मात्रार हो गई है। विरद्ध-विशुद्धा सीता का यह स्वयं मात्राराही वरजा का चरम उद्घाटन है :

दग्धिपलः पुरुषाद्वयोऽसुन्दरं इधर्ती विशेष्यवशीक्षमागमम् ।

सुन्दरप गृहितरथा स्त्रीरिष्ठी विरहपधेति यनसेति जानवी ॥

'सीता' के सुन्दर वर्णोद्धरण विरद्ध-विनियोग से बीमि तथा शृणु हैं, वृष्य पर उक्ता विभाग रहा है। ऐसा नान्तम् होता है विरह-रथ की गृहित भावया पाणात् शरीरिष्ठी स्वयथा जानवी का स्वयं खाल दर यन में घटन रही है ।

इस रथ वीं ऐसी महान् व्यभावा संग्रहग-साहित्य में शोधते पर भी अटी रिक्तियाँ, एवं वाचिकाम के वास्तों में और वया भवमूति के वास्तवी विविच्छी वे वास्तों में। 'दायार्थीता' वीं अवतारणा पर एवं एवा इत्यपाटों पित्र तीव्रा गया है। भवमूति वीं वरजा को स्वयं का अर्थात् द्वितीय विवरण है कि 'यह व्यग्र, यह गृगत्यज्ञा, यह अद्वैतात्मका, यह मन्मेशी विरद्ध-विषया, वृष्य शान्त में शापद् ही। और वीरू इहि वरजा के इत्या दिग्मा परा हो।' यही शारन है कि :—'उत्तरे नदिमतिरे भवमूतिविभित्तिपर्गी'। उत्तरात्मकता में भवमूति पा वाप्त-पौरा वाम र्थीता ही दर्शन रहा है ।

—४३—

कलहण-कृत राजतरङ्गिणी

संस्कृत-चाहूमय में कश्मीर-भूमि का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ की प्रकृति में ऐसी विचित्र समोहकता है, जिसके प्रभाव से अनेक महाप्राण मनस्वियों द्वारा संस्कृत-साहित्य की अभिषृद्धि में महत्वपूर्ण उद्घावनाये हुई हैं।

काव्य, कला, नाटक और अलङ्कारशास्त्र के निर्माताओं के अतिरिक्त जलहण, बिलहण एवं रिलहण जैसे सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञों ने इसी भूमि में जन्म धारण किया है। अलङ्कारशास्त्र के द्वेत्रि में भामह, उद्घट, चामन, आनन्द-वर्धन, कुन्तक, महिम, अभिनव गुप्त, ममट और रुद्रट जैसे ख्यातनामा भाषायों ने हृषी भूमि को अलंकृत किया है। इतिहास के महापण्डित कलहण की स्थाप्ति तो विश्व-विश्रुत है।

कलहण-कृत राजतरङ्गिणी

२११

संस्कृत के साहित्याकाश में कलहण की भाँति विरले ही ऐसे दिनभरि उदित हुए हैं जिनके ओजस्वी प्रकाश से संसार का कोना-कोना प्रकाशमान हो गया है। एक धुरंधर इतिहासकार एवं अद्वितीय महाकाव्यकार के रूप में यशस्वी विद्वान् कलहण की भारती अपने क्षेत्र में सर्वथा अनुलूनीय है। इस महामनस्वी की प्रतिभा का मंथन करने के लिये विश्व के शोधकर्ताओं ने सदियों से अनुशीलन कार्य किया और आज जिस प्रतिष्ठित स्थान पर कलहण का व्यक्तित्व आसीन है उस सम्बन्ध में कुछ कहना शेष नहीं।

कश्मीर-स्थित परिहासपुर नामक स्थान में सन् ११०० ई० में महाकवि कलहण ने जन्म धारण किया। अष्टम तरङ्ग के उम्मेखानुसार कलहण राजा जयसिंह के राज्यकाल (११२९-५० ई०) में जर्तमान था। पिता पण्डित चम्पक महाराजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के महामात्य एवं चाचा कनक भी हर्ष के राज्याश्रित विद्वान् थे। उनके गुरु का नाम अलकदत्त था। कलहण यद्यपि शौव-मतानुयायी थे; फिर भी वौद्धधर्म से उनका अविरोध था और अहिसा-सिद्धान्त के प्रति उनकी विशेष आस्था थी। ये कट्टर भाग्यघाढ़ी थे एवं दैवीय विभानों को मान्य समझते थे।

कलहण की श्याति को दिग्दिगन्तर में विस्तारित करने वाली उनकी एकमात्र कृति 'राजतरङ्गिणी' है। संस्कृत-साहित्य में इस अमर रचना का उम्मेखनीय स्थान है। 'राजतरङ्गिणी' आठ तरङ्गों (भागों) में विभाजित है। कलहण ने अन्तिम तरङ्ग में दक्षिण की प्रवहमान गोदावरी नदी से तुलना करते हुए 'राजतरङ्गिणी' को 'राजाभौं की नदी' से अभिहित किया है।

इसमें कुल मिला कर ७८३६ श्लोक हैं। प्रथम चार तरङ्गों में पौराणिक काल से लेकर कक्षोंटक नागर्वंशीय राजाभौं तक का इतिहास

वर्णित है। पांचवीं तरफ़ में 'वर्मन्' नामाङ्कित राजाओं की चंशावली का चित्रण है। छठी तरफ़ में पशकर व्याधुण राजा से लेकर छिदा नामक किसी रामी तक का उल्लेख है। सातवीं तरफ़ में अनन्त, कलश और हर्ष जैसे स्थातिहास राजाओं का इतिहास वर्णित है और आठवीं तरफ़ में उच्चल, सुस्सल एवं विजयसिंह प्रभृति राजाओं की चंशावलि वर्णित है।

कालक्रम की दृष्टि से भारतीय तीन तरफ़ों की घटनायें अमाल्यक हैं। प्रथम प्रार्थितिहासिक वावन राजाओं के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि कलहण का पूर्वतिहासिक ज्ञान अपूर्व था। उत्त्यल वंश से पूर्व की सारी ऐतिहासिक सामग्री विद्वानों की दृष्टि में अप्रामाणिक ठहरती है; किन्तु तद्वुपरान्त जो ऐतिहासिक वृत्त दिये गये हैं वे विश्वासयोग्य हैं। वर्ष, मास और दिन क्रम से कलहण के इतिवृत्त उसकी अगाध विद्वत्ता के परिचायक हैं।

'राजतरङ्गिणी' में पौराणिक काल से लेकर १२वीं सदी तक लगभग ढेढ हजार वर्ष का शंखलावद्ध इतिहास तिथिक्रम से वर्णित है। मध्य-कालीन योरोपीय इतिहासकारों की भाँति कलहण की इतिहासकारिता संस्कृत-साहित्य के चेत्र में एक नवीनतम प्रयोग था। अनेकानेक अधिकारपत्रों, दानपत्रों, प्रशस्तियों, शिलालेखों और हस्तलिखित पोथियों के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती ग्यारह प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों का अनुशीलन करने के उपरान्त कलहण ने 'राजतरंगिणी' का निर्माण किया था। संस्कृत-इतिहास के चेत्र में तिथि-चेतन का क्रम यहीं से आरम्भ होता है। ढेढ हजार वर्ष का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास इतने सुविवेच्य ढंग से केवल 'राजतरंगिणी' में ही उपलब्ध होता है। इस ब्रह्मकाय ग्रन्थ की कुछ घटनायें यद्यपि अतिरंजित हैं, फिर भी इसके खोजपूर्ण वृत्त बड़े महावपूर्ण हैं।

अनूदित ग्रन्थों के रूप में

‘राजतरंगिणी’ की सर्वमान्यता इसी से विदित है कि अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने समय-समय पर इस ग्रंथरत्न पर अनुशीलन-परिशीलन कार्य किए। मुसलमान इतिहासकारों में इस ग्रंथ का अत्यधिक समादर हाइगर होता है। ‘भाईने अकबरी’ के सुप्रसिद्ध लेखक अबुलफजल ने अपने ग्रन्थ में ‘राजतरंगिणी’ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसकी उपादेयता को समझने के लिए अनेक विद्याव्यसनी मुसलमान वादशाहों ने समय-समय पर अपने विद्वान् इतिहासकारों द्वारा घड़े परिश्रम से फारसी-भाषा में इसका अनुवाद करवाया।

इस हाइ से जैनुल् आवदीन (१४२१-७२ ई०) द्वारा करवाया गया फारसी अनुवाद ‘बहिरुल् अस्मार’ (कथासागर) विशेष-रूपेण उद्देश्यनीय है, जिसका संशोधन एवं शोपकार्य विद्याप्रेमी सम्राट् अकबर के विद्वान् इतिहासकार अबुलकादिर-अब्दुल्लाहीनी ने १५९४ ई० में सफलतापूर्वक समाप्त किया।

इस अनुवाद को देख कर अकबर हतना प्रभावित हुआ था कि उसने विना व्यवधान के रातभर जागकर संपूर्ण ग्रन्थ को सुनाने का आदेश दिया। तदुपरान्त सन् १६१७ ई० में विद्वान् इतिहासज्ञ हैदर मलिक ने ‘राजतरंगिणी’ का संस्कृत किन्तु बड़ा हृदयग्राही एवं प्रभावपूर्ण कथानक लिखा। इसके अतिरिक्त इसका अंग्रेजी में प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित हुआ, जिसको देख कर अनेक विद्वानों ने अपनी आलोचना-प्रत्यालोचना द्वारा ‘राजतरंगिणी’ का महरव विश्व में फैलाया।

सुप्रसिद्ध पर्यटक डाक्टर बर्नियर कृत ‘पैराढाह्ज आफ इंडिया’ द्वारा विदित होता है कि उन्होंने भी हैदर मलिक कृत फारसी अनुवाद को १७ वीं शताब्दी के लगभग अंग्रेजी में अनूदित किया था; किन्तु यह अनुवाद अनुपलब्ध है। १८२३ ई० में श्री मूरक्काफ्ट ने कश्मीर से

‘राजतरंगिणी’ की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त की, जिसको उन्होंने शारदा लिपि से देवनागरी-लिपि में प्रतिलिपि कर ‘पश्चियाटिक सोसायटी आफ बंगाल’ से १८३५ ई० में प्रकाशित करवाया।

प्रो० बुहूलर ने भी कश्मीर में रह कर ‘राजतरंगिणी’ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त कर उन पर चपोतक अनुशीलन-कार्य किया और शारदा-लिपि वाली प्रति को ही प्राचीन एवं मौलिक सिद्ध किया।

प्रो० विलसन ने १८२६ ई० के लगभग ‘राजतरंगिणी’ पर एक विद्वत्तापूर्ण आलोचना लिखने के उपर्यात उसकी छः तरंगों का संक्षिप्त वृत्त भी लिखा। इसी प्रकार श्री द्वायर ने भी ‘राजतरंगिणी’ की प्रथम छः तरंगों का १८४१-५२ के बीच एक प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत किया, जो कि पेरिस की ‘पश्चियाटिक सोसायटी’ द्वारा फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ। ‘निर्णयसागर प्रेस’ बम्बई का विद्वद्वर्य श्री दुर्गाप्रसाद जी द्वारा संपादित संस्करण, बम्बई से ही प्रकाशित श्री स्टीन द्वारा संपादित ‘राजतरंगिणी’ का दूसरा संस्करण और ‘हंडियन प्रेस, प्रयाग’ से श्रीरणजीत सिंह सीताराम द्वारा अनूदित संस्करण विशेष-रूपेण उल्लेखनीय हैं। इन संस्करणों द्वारा ‘राजतरंगिणी’ के विद्यार्थियों का बढ़ा उपकार हो रहा है; फिर भी एक विशुद्ध और ब्रह्मत् हिन्दी रूपान्तर की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है।

इस प्रकार कलहण की अमर कृति ‘राजतरंगिणी’ संस्कृत-साहित्य के द्वेष में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। कश्मीर का संपूर्ण जनजीवन तो उसमें समन्वित है ही, साथ ही कश्मीर की अनुशीलनीय अकृति, वहाँ के पर्वत, नदी, नद, झरने, झील, नगर, महानगर, ग्राम, आमटिका, मठ-मन्दिर, वन-उपवन, फल-पुष्प आदि का बढ़ा काव्यमय कलहण कृत राजतरंगिणी

हृदयग्राही वर्णन भी हम प्रन्थ में घण्टित है। इतिहास की संकीर्ण पगड़ंडियों पर चलते हुए भी काव्यमय समतल भूमि का सा सुखानुभव पाठक की दर्शनेस्थुकता को उत्तरोत्तर तीव्रतर करता चला जाता है। इसमें इतिहास-लेखन और कवित्व-प्रदर्शन का अनुत्त सामंजस्य निहित है। दुष्कर कविन्कर्म और अगाधज्ञान से पूर्ण ऐतिहासिक-कर्म की एकानुभूति इस एक ही ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है। 'राजतरंगिणी' को यदि 'कर्मीर-कोश' कहा जाय तो असुक्षि न होगी।

कलहण ने स्वयं अपने इस कठिन कार्य का इस प्रकार उल्लेख किया है कि 'हो सकता है मेरी इस कृति में भारवि और माघ जैसी प्रभावोत्पादकता न भी आ सके, क्योंकि मुझे विशाल वैतरणी को पार जो करना है; फिर भी इस महत्वपूर्ण कार्य के निर्वाह में मैंने कुछ भी शोष न रखा।' और हम देखते हैं कि वस्तुतः एक निपुण नाविक की भाँति कलहण अपनी सुनिर्मित रचनातरी द्वारा एक दिन उस विशाल वैतरणी को पार करने में सफल भी हो जाते हैं। काव्यकला और इतिहास-कला का ऐसा सफल निर्वाह अन्यथ देखने को नहीं मिल सकता।

गंगावत्तरण और कूर्मावतार आदि पौराणिक उपाख्यानों के अतिरिक्त कर्मीर की रस्य-प्रकृति का हृदयग्राही वर्णन काव्यत्व की दृष्टि से कलहण को कविराज की क्षेत्रि में ला उपस्थित करते हैं। प्रकृति की नाना मनोरम परिस्थितियों का सफल चित्रण इस ग्रन्थ की भौगोलिक विशेषता है।

'राजतरंगिणी' सफल ऐतिहासिक रचना तो है ही, साथ ही उसमें भौगोलिक परिज्ञान, वनस्पति-विज्ञान एवं वास्तु-स्थापत्यकला का भी पर्याप्त परिशीलन दृष्टिगत होता है। उसके काव्योचित सौन्दर्य-

का तो निर्देश किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त महापण्डित कलहण ने स्वयं एक महामात्र का पुत्र होने के नाते पुर्व राजपरिवारों से सुपरिचित होने के नाते राजनीतिक जीवन के सूचमातिसूचम सूत्रों का परिशीलन तो किया ही है, साथ ही तत्सामयिक, साहित्यिक, आर्थिक, धार्मिक पुर्व सामाजिक जीवन पर भी उसने यथेष्ट प्रकाश ढाला है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी कलहण की विद्वत्ता का सहज ही अनुभान लगाया जा सकता है। उपदेशात्मक नीतिपरक स्थल भी प्रसादगुण की प्रांजलता के कारण मधुर पुर्व हृदयग्राही बन पड़े हैं। कलहण ने अपने पात्रों के मुख से प्रश्नोत्तर-शैली में जो उक्ति-प्रस्तुक्तियों की योजना घटित की है उससे प्रतीत होता है वे एक सिद्धहस्त नाटककार भी ये।

इस प्रकार 'राजतरंगिणी' के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इतिहास के चेत्र में कलहण का व्यक्तिरूप अनुलनीय है और साथ ही उसमें काव्योचित जिन उद्घावनाओं के दर्शन होते हैं, उससे कलहण कविराज जैसे प्रतिष्ठित स्थान पर अधिष्ठित किए जा सकते हैं। इन असामान्य प्रतिभाशाली विद्वान् की यह महान् कृति आरम्भ से आज तक अपनी उक्त विशेषताओं के कारण उत्तरोत्तर समादूरणीय होती चली आ रही है।

—○—○—○—○—

भारतीय वाद्यय का विदेशों में समादर

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने कोरी कद्पनाभों के आधार पर सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है कि भारतीय विद्वानों ने अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में समय-समय पर जो कुछ भी कहा है वह सम्पूर्ण पच्चपातमात्र है। अपना कहे जाने वाला उनका पूरा साहित्य विदेशी भारती और खासकर ग्रीस-संस्कृति से अनुप्राणित है। पाश्चात्य विद्वानों के उक्त विचार किसी प्रमाण-विशेष एवं तर्कसंगत युक्तियों पर आधारित नहीं हैं, अपितु व्यक्तिगत स्वार्थों के वशीभूत होकर उन्होंने ऐसा कहा है। किसी संस्कृति के प्रति ऐसी ही धारणाएँ प्रमाद की घोषक तो हैं ही, साथ ही किसी भी साहित्य के वास्तविक

इष्टिकोण से समझने और उसका मूल्य आंकने में भी उनकी तर्कनाशक्ति निष्प्रयोजन कागजों को रंग देनेमात्र तक ही सीमित रही है।

इसी प्रकार भारत में भी आदि से ही ऐसे लोगों की कमी नहीं रही, जिन्होंने पचपात के वशीभूत होकर अज्ञानतावश अपनी थोथर्ली धारणाएँ आलोचना जैसे दुस्तर कार्य से निर्मांक होकर अभिव्यक्त न की हों। उन लोगों की इष्टि में अमारतीय जो कुछ भी है उस सब का केवल एक ही मूल्य है—नाक-भौं सिकोड़कर उपेक्षाभाव से उसकी ओर पीठ फेर देना।

उक्त दोनों प्रकार के इष्टिकोण समालोचना जैसे तटस्थ और समद्विष्ट-सम्पन्न कार्य के लेत्र में सापेचय और सच्चाई से एकदम शून्य हैं। सत्य और मिथ्या के व्यवधान को मिटा देने वाली ऐसी धारणाएँ संस्कृति के आदान-प्रदान और साहित्य के विकास में भी बड़ी बाधक हैं।

विश्व के इतिहास में वेदों की तिथि सबसे प्राचीन है। संसार के जितने भी जातीय जीवन की परम्परागत प्रणाली को बताने वाले आदि ग्रन्थ हैं उनमें वेदों का ही शीर्ष स्थान है। इस्लाम-धर्म का आदि ग्रन्थ ‘कुरान’ मुहम्मद साहब के थाद में रचा गया, जिसको बने लगभग १३७० वर्ष हो गए हैं। इसाई धर्म के आदिग्रन्थ ‘याहूविल’ की रचना महापुरुष ईसा मसीह के पूर्व न हुई थी, जिसकी प्राचीनता में १३५० वर्ष व्यतीत हो गए। यहूदियों की धर्म-पुस्तक ‘तौरेत’ मूसा के थाद की रचना है, जिसको बने आज केवल ३५६५ वर्ष हुए हैं; किन्तु वेदों की निश्चित तिथि निर्धारित करने में देशी-विदेशी विद्वान् अभी तक पुक्कमत नहीं हो सके हैं। जर्मन विद्वान् महाशय मैक्समूलर ने वेदों के संबन्ध में अपनी अन्तिम सम्मति इस प्रकार व्यक्त की—‘वेदों का निर्माण आदिकाल में ही हो चुका था। इनसे पूर्व का कोई हस्तलिखित ग्रन्थ भारतीय वाङ्मय का विदेशों में समादर

सोजने पर भी संसार भर में नहीं मिलता है। वेदों में घण्टित तत्त्वज्ञान और धर्म की विशालता के सम्बन्ध में हम वर्षों के अध्ययन के बाद भी सुनिर्णीत विचारधारा स्थिर करने का साहस नहीं कर सकते। इसकी समानता में विश्व-साहित्य ने अभी तक कुछ नहीं दिया। प्रांसीसी विद्वान् दार्शनिक वाल्टेर ने वेदों के प्रति पश्चिम की कृतज्ञता प्रबल करते हुए कहा 'केवल इसी महत्त्वी देन के लिए पश्चिम पूर्व का अनन्तकाल तक शृणी रहेगा।' संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित वैज्ञानिक लुई जाकोलियो ने वेदों के सम्बन्ध में अपना अभिमत यों व्यक्त किया कि 'वेद अनादि ज्ञान के ग्रन्थ हैं। हृष्टरकृत ग्रंथों में आज वेद ही एक ऐसे हैं जो विज्ञान के अनुकूल उत्तरे हैं।'

सर्वाङ्गीणता की दृष्टि से कुरान, पाह्विल, तौरेत आदि सभी धर्म-ग्रन्थ एकाही हैं। वेदों में जहां तत्त्वज्ञान की विस्तृत भीमांसा की गई है वहां निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ध्याकरण, संगीत आदि विषयों पर भी पूर्ण प्रकाश ढाला गया है। वेदों की उक्त सर्वाङ्गीणता को लघुप करके महापण्डित मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'भारत से हम क्या शिष्या ले सकते हैं' में कहा कि 'शिष्या का कोई भी ज्ञेय ऐसा नहीं जिसने भारत के प्राचीन साहित्य से अनुप्रेरणा न प्राप्त की हो। हमें धर्म, तत्त्वज्ञान, ग्रष्मज्ञान और कानून आदि की शिष्या के लिए भारत ही जाना पड़ेगा। अमूल्य एवं अमान्य हस्तलिखित ग्रन्थों के कोष केवल भारत में ही प्राप्त हो सकते हैं।' महाशय जाकोलियो अपनी 'भारत की धाह्विल' नामक पुस्तक में लिखते हैं 'मैंने अनुसन्धान करके पता लगाया कि भारत ने ही समस्त संसार को ज्ञान का प्रकाश दिया है। यह भी सत्य है कि भारत ने ही पहले-पहल अपने धर्म, सदाचार, दर्शन तथा गायत्रें मिथ, यूनान, इटली और ईरान आदि अपने पढ़ोसी देशों को दी हैं। अतः भारत ही सम्प कहे जाने वाला समस्त संसार का आदिगुरु है।'

धर्म की प्राचीनता में महाशय बान औंडर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आर्यों की प्राचीनता' में लिखते हैं कि 'वैदिक धर्म सरल, पवित्र और उदार था। वह रागविद्या तथा तत्त्वज्ञान से सम्पन्न था। वह समस्त संसार के धर्मों में श्रेष्ठ था।'

विचारों के आदान-प्रदान में औंडर दर्शन ने विदेशी भारती को अधिक प्रभावित किया। चिन्तन और मनन के क्षेत्र में वेदान्त, उपनिषद् और गीता का पाश्चाय दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पाश्चाय दर्शन-कारों ने भारतीय दर्शन की मूलचेतना प्राप्त कर अपनी अगाध ज्ञान-लिप्सा के कारण उसके शब्द-शब्द का मन्थन कर डाला। फारस का सूफी मत और विशेषकर अफलातूनी-दर्शन यहाँ के दर्शन से अधिक प्रभावित हुए हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक दाराशिकोह ने अपनी आध्यात्मिक ज्ञानविपासा के उपशमनार्थ तौहीद, कुरान, बाह्यविल आदि तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों को छान डाला; किन्तु उसकी अतृप्ति फिर भी थी रही। अन्ततः उसने भारतीय दर्शनों की शरण ली और वहाँ से मनचाहा रसपान किया। चेदों में वर्णित एकेश्वरवाद-सम्बन्धी शूचाओं का उसने हिजरी सन् १०६७ में अनुवाद करवाया और सिद्ध किया कि एकेश्वरवाद का प्रतिपादक भारतीय दर्शन ही विश्व का आदिम दर्शन है। कुछ उपनिषदों और गीता का भी उसने फारसी भाषा में अनुवाद करवाया तथा स्थयं भी किया।

दार्शनिक विद्वान् मैक्समूलर, डा० टफ, प्रो० शोल्डस्टकर तथा च्याकरणशास्त्री सर मोनियर विलियम्स आदि ने प्रकाण्ट दार्शनिक प्लेटो और पिथागोरस के दर्शन को पुनर्जन्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिए भारतीय दर्शन से अनुप्राणित कहा है। आजकल का यूरोपियन और अमेरिकन दर्शन भारतीय दर्शन से और विशेषकर स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी विदेशीनन्द के सारगर्भिर भाषणों से अत्यधिक प्रभावित हुआ है।

भारतीय वाङ्गमय का विदेशों में समादर

भारतीय विज्ञान और ज्योतिष से भी विदेशी भारती ने समय-समय पर प्रेरणा प्राप्त की है। चिकित्सा-विज्ञान की जन्मभूमि भारत को ही स्वीकार करते हुए लार्ड पृथिविल का कहना है कि 'भारत से ही चिकित्सा-विज्ञान पहले-पहल अरब घालों ने सीखा और तदनन्तर १७ वीं शताब्दी के आसपास यूरप वालों ने आरयिकों से उसकी शिक्षा प्राप्त की।' यहाँ के शास्त्रसम्बन्धी यन्त्र इतने विचक्षणता पूर्वं निपुणता से निर्मित थे कि उनके द्वारा एक घाल को दो सम भागों में विभाजित कर देना अनायास ही साध्य था।

इसी प्रकार भारत का अङ्गगणित भी विश्व में विस्तार हुआ। अरब वालों के माध्यम से ही यूरपवासियों ने भारतीय अङ्गगणित तथा रेखागणित की शिक्षा प्राप्त की। रेखागणित का ४७ वां योरम, पीथागोरस ने जिसको सिद्ध करके विश्व में आश्वर्यजनक स्थापित अर्जित की, भारत में शताब्दियों पूर्व हल हो चुका था।

ज्योतिषशास्त्र के सम्बन्ध में विद्वान् अनुसन्धानकर्ता महाशय वेदर का कहना है कि 'चिकित्सा-विज्ञान की ही भाँति अरबवालों ने ही भारत का ज्योतिषशास्त्र विश्व में फैलाया।' ज्योतिष के धुरन्घर विद्वान् पाराशर और वार्यभट के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों की धारणा है कि उन्हें पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने की गति-विधि ज्ञात थी। उन्होंने लोगों ने पहले-पहल पता लगाया कि सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की वास्तविकता क्या है। इसी प्रकार के अनेक वैज्ञानिक चमत्कार, जिन्हें आज के वैज्ञानिक भी हल करने में अपने को समर्थ नहीं पा रहे हैं, भारतीय ज्योतिषशास्त्रियों ने सहजों वर्ष पूर्व उनको सिद्ध कर दिया था।

भारतीय ग्रन्थों का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। गीता का विदेशी में बहुत प्रचार हुआ। सन् १८२२ में विद्वान् लेखक

श्लेगल ने गीता का लैटिन भाषा में शुद्ध और अधिकल अनुवाद किया; जिसका विदेशी पण्डित-मंडली में बहा समादर हुआ। तदनन्तर महाशय लोरीन्सन ने सन् १८६९ में जर्मनी भाषा में गीता का अनुवाद किया। उक्त अनुवाद को देखकर गीता में वर्णित योगत्रयः ज्ञानयोग; कर्मयोग और भक्तियोग—बहुत समय तक जर्मन विद्वानों का गम्भीर विचारणा का विषय बना रहा। जर्मन विद्वानों के बीच गीता का समादर होने का दूसरा भी कारण था। बहुत समय पूर्व से उन लोगों की धारणा भारतीय वाद्यमय और विशेषकर दार्शनिक ऊहापोह को जानने के लिए बनी हुई थी। जर्मन का अपना कहा जाने वाला अधिकांश विज्ञान भारतीय मनीषियों की देन है। तदनन्तर गीता का प्रामाणिक अनुवाद अंग्रेजी भाषा में योग्य लेखक चार्ल्स विलिकिन्सन ने किया, जिसकी सूचमता को देखकर अंग्रेजी समाज में आश्रय छा गया। उक्त अनुवाद को देखकर वारेन हेस्टिंग्स ने कहा कि 'कई दिनों के शासनोपरान्त विटेन को भारत से जो कुछ भी संपत्ति पूर्व ख्याति प्राप्त हुई है वह सब कुछ एक दिन विस्मृत हो जायगी; किन्तु गीता का अंग्रेजी अनुवाद विटेनवासियों को और सम्पूर्ण विश्व को सदियों अनुप्राणित करता रहेगा।'

कथा-साहित्य की उद्भमभूमि भारत ही है। यहाँ से कथा-साहित्य का विश्व भर में विकास हुआ। विश्व-साहित्य के लिए भारत की यह महती देन है। जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेल ने बड़े परिश्रम से छठी शताब्दी में पञ्चतन्त्र की जिन कहानियों को खोज निकाला था, पाञ्चाल्य साहित्य के कथाक्षेत्र में उन्होंने आश्रयजक परिवर्तन उपस्थित किया। छठी शताब्दी में भारत का फारस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण बादशाह सुसरो नौशेरखाँ ने ग्रनाइट होकर अपने संस्कृत विद्वान् हकीम खुरजाई से सर्वप्रथम पञ्चतन्त्र का अनुवाद पहलवी भारतीय वाङ्मय का विदेशों में समादर

(प्राचीन फारसी) भाषा में सन् ५३० के लगभग करवाया। इसी अनुवाद के माध्यम से एक हिंमाई पादरी बुद्ध ने सन् ५७० में 'कलिलग और दमनग' नाम से सीरियन भाषा में पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया। तदनन्तर अबदुह्हा यिन नवमुफका ने सन् ७५० में सीरियन से अर्धी भाषा में 'कलीलह और दमनह' नाम से पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया। एक दूसरे विद्वान् अबदुह्हा यिन हावाजी ने सन् ७८१ में एक दूसरा अनुवाद अर्धी में किया, जिसके आधार पर विद्वान् लेखक सहल-यिन नववर्त ने उसको दृढ़दयद्व कविता में प्रकाशित किया। अर्धी भाषा मध्ययुग की किष्ट पञ्च सम्पन्न भाषा होने के कारण उसके माध्यम से इन अनूदित कहानियों का विस्तार हो गया। फलस्वरूप ग्रीक, हैटिन, जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी भाषाओं में १६ वीं शताब्दी तक पञ्चतन्त्र की कहानियों का अनुवाद होता रहा।

चौदू-जातकों का कथा-संग्रह पञ्चतन्त्र से भी प्राचीन है। इन गाथाओं में भगवान् बुद्ध के जीवन की मनोरक्षक घटनाएँ घण्ठित हैं। मनोरक्षन के साथ-साथ इन जातक-गाथाओं द्वारा तत्सामयिक ऐतिहासिक, सामाजिक तथा भौगोलिक ज्ञान की अनेक बातों का भी पता लगता है। इनकी कुल संख्या ५५० है। जातक की कथाओं का भी विश्व-साहित्य पर यहां प्रभाव लिखित होता है। 'बलराम और जोसफ की कहानी' जिसका मूल आधार जातकों में वर्णित है, इतनी शिक्षाप्रद सिद्ध हुई कि उसके पात्रों का नामकरण भी इसाई सन्तों से अभिहित हुआ। उसमें जोसफ स्वयं बुद्ध है। 'जोसफ' 'बोधिसत्त्व' का उत्पामात्र कहा जाय तो ज्ञानुकृति न होगी, क्योंकि जोसफ 'बुद्सफ' बोधिसत्त्व का ही अपञ्चंश है। जान आफ हैमेस्कस ने आठवीं शताब्दी में जोसाफट की कहानी को ग्रीक-भाषा में लिखा, जिसका आधार छठी शताब्दी में पहली भाषा में लिखी गई कहानी

से है। तदनन्तर तो विश्व की सभी सभ्य भाषाओं में इन जातक कथाओं का अनुवाद हुआ। अस्त्री, सीरियन, ग्रीक और लैटिन भाषाओं में अनूदित जातकों की कथाएँ यही विषयात् हुईं।

मध्ययुग से भी पूर्व पश्चिमी देशों में भारतीय कहानियों का अनुकरण एवं अनुवाद किया जाने लगा था। 'सालोमन्स जन्मेट' नामक कहानी का मूल भारतीय है। सिर्कन्दर की कहानियों में उसकी माता का पुत्रजोक 'हृषा गीतसी' वाली थोड़ कथा से अधिकल उत्तरता है।

महाभारत में घर्जित नलोपादयान और साधिग्री-उपादयान का विदेशों में घस्त समादर हुआ। लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं में उनका अनुवाद हुआ। कालिदास की भारती ने तो विश्व-साहित्य के कोने-कोने में आश्वर्यजनक क्रान्ति पैदा कर दी थी। शाकुन्तल, विक्रमोर्बद्धीय तथा मालविकामिमिन्न का तो दुनिया की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और अभिज्ञान-शाकुन्तल का नो यूरोपीय रामायण पर कई पार सफल अभिनय भी हुआ। शूदक का 'मृद्धकटिक' नाटक सन् १८५० में पेरिस नगरी में घड़ी धूमधाम से अभिनीत हुआ। १९५८ ई० में वह रूसी में अनूदित हो कर रूस के रंगमंच पर भी खेला गया।

भारतीय नाटकों की उक्त श्रेष्ठ परम्परा को देखते हुए सर विलियम जॉन्स ने लिखा कि 'भारतीय नाटकों की तुलना में उस्त कहे जानेवाले विश्व के सभी नाटक पिछड़ जाते हैं।' इन्हीं महाशय ने सर्वप्रथम सन् १७८९ में अंग्रेजी भाषा में शाकुन्तल नाटक का अनुवाद भी किया। इस अनुवाद को देखकर प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने शाकुन्तल नाटक की स्तुति में कविता ही लिख डाली थी।

भारतीय साहस्रा वी सार्वत्रिक में ऐतिहासिकी की विश्वानि
दर्शकर दर्शनी होती है। पुराण-ग्रन्थों की जिते भी अनुसन्धान इसके
भास्तुता भास्तु में दृढ़ है उनमें सारांश भव्यता वी, जिस गहराईपौ
री ऐतिहासिक हुआ है एवं पुराणाद्याधिकों से लिपि विषय का विषय है,
जिसु दर्शकर जिसमें भी भारत-साम्राज्यी है उपरामंगल वी सभ्य
भास्तुओं में उपरामंगल होता रहा है। यह युत्ताप् ज्ञाने वाला विषय जटी
कि ऐतिहासिक दर्शक-दर्शनों वं सारदृष्ट भी भास्तु में विषय की सो त्रुष्ट
भी कोणताएँ दिया है जाता। अन्यतर गहर इतिहास की ऐतिहासी
सामांग दर्शनी ।

— * —

भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

भारत में संस्कृत भाषा की उन्नति और उसके सुधार के लिए सम्प्रति शासन की ओर से जो कुछ भी कार्य किया जा रहे हैं साधारण जन भी उनसे परिचित हैं। हृतना तो अकाव्य सत्य है कि संस्कृत ही भारत की मूल भाषा है और अपना कहा जाने वाला उसका सम्पूर्ण वाच्य पूर्व सारा गौरव संस्कृतभाषा में ही सुरक्षित है। फिर उसको हम मृत भाषा कहें या अनुज्ञत भाषा, यह तो हमारी दूरदर्शी सूच पर अवलम्बित है। उधर विदेशी में—रूस, अमेरिका और फ्रिटेन आदि में—आज भी संस्कृत के ग्रन्थि समाज की जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती होती जा रही है।

भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

२२७

भारत में आज संस्कृत का अध्ययन करने वाला अधिकांश समाज धनहीन है। सम्पन्न परिवारों के यालक संस्कृत नहीं पढ़ते, क्योंकि उन्हें भूखों नहीं मरना है। हसलिए संस्कृत भाषा का प्रचार आज भूखे रह कर और भविष्य में भी भूखे रहने वाले निर्धन समाज तक ही सीमित है। संस्कृत भाषा के महस्व को समझने वाले और उसका विश्व-व्यापी प्रचार करने वाले अभारतीय विद्वानों के सत्प्रयत्नों से संस्कृत भाषा की चास्तविक मान-बुद्धि हुई है। हसलिए से उन विदेशी विद्वानों का भारत सदा छणी रहेगा।

विदेशों में संस्कृतभाषा के प्रति विद्वासमाज की निष्ठा बहुत पहले से ही जम चुकी थी। धर्मप्रचारार्थ पहले-पहल जब ईसाई मिशनरी भारत में आए तो वे भारतीय धर्मग्रन्थों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। ईसाई पादरी संस्कृत के उदाहरण दें-दे कर अत्यन्त रूप से अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अद्वाहम रोजर नामक एक विद्वान् ने १६५१ ई० में भर्तृहरि के कतिपय लिलित श्लोकों का उत्तरगाली भाषा में अनुवाद किया, जिसको देख कर विदेशियों का ध्यान संस्कृत के प्रति आकृष्ट हुआ। हेनरिच नामक एक जर्मन पण्डित ने भारतीय पण्डितों से शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से १६६४ ई० में संस्कृत का अध्ययन किया। १६९९ ई० में एक जर्मन पादरी भारत भाषा और संस्कृत का सम्यक् ज्ञान अर्जित करने के उपरान्त उसने सर्वप्रथम यूरोपीय भाषा में व्याकरणग्रन्थ का प्रणयन किया। हसी प्रकार विद्वान् अर्थोलोमिया ने भी हसी समय व्याकरण की दो कृतियाँ रचीं। विद्याप्रेमी वारेन हेस्टिंग्स ने भारतीय पण्डितों के द्वारा जिस 'विवादपूर्णसेतु' नामक धर्मशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ को संकलित करवाया, १७८५ ई० में वह 'ए कोड आफ गेण्टोला' नाम से अंग्रेजी में

प्रकाशित किया गया। चार्ल्स विलिमस की गीता की जिस अनूदित कृति ने यूरोप भर में विसमय पैदा कर दिया था, वह १७८५ ई० में हूंगलैण्ड में प्रकाशित हुई। 'हितोपदेश' और 'महाभारत' में अर्जित 'शकुन्तलीपाठ्यान्' का भी इस संस्कृतप्रेमी विद्वान् ने सफल अनुवाद किया।

संस्कृतभाषा के अनुरागी विद्वान् सर विलियम जोन्स का कार्य विस्मरणीय रहेगा। ११ वर्ष तक भारत में रह कर संस्कृत-साहित्य की उन्होंने भरपूर सेवा की है। उन्होंने के सत्प्रयत्न से १७८४ ई० में पृथिव्याटिक सोसाइटी आफ़ यंगाल की स्थापना हुई। इस संस्था द्वारा जिन अमूल्य हस्तलिखित पेड़ियों का उद्घारकार्य हुआ और भारत में जिस अनुसंधानसम्बन्धी कार्य का श्रीगणेश हुआ उसका सम्पूर्ण श्रेय स्वर्गीय जोन्स को ही है। १७८९ ई० में जोन्स ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया, तदनंतर 'मनुस्मृति' का और १७९२ ई० में 'कठ्टुसंहार' का। १७९४ ई० में उनका स्वर्गवास हुआ। जोन्स की अनूदित कृति को देख कर जर्मन विद्वान् जार्ज फोर्स्टर ने १७९१ ई० में शकुन्तलानाटक का जर्मनी-भाषा में अनुवाद किया, हर्वर्ट और गेटे जैसे विद्वानों ने मुक्ककण्ठ से इसकी प्रशंसा की। इसी समय के बास-पास थामस कोलम्बुक ने 'ए डाइजेस्ट आफ़ हिन्दू-ला आफ़ कांट्रेक्ट्स' नामक संकलित ग्रन्थ के अतिरिक्त अमरकोप, हितोपदेश, अष्टाध्यायी और किरातार्जुनीय का अनुवाद प्रस्तुत किया।

अल्कजेंडर हैमिल्टन ने भारत में रह कर वैदिक साहित्य का अध्यय्या ज्ञान अर्जित किया। यह अँग्ल विद्वान् जब १८०२ ई० में अपने सहयोगियों के साथ फ्रान्स छोता हुआ स्वदेश हूंगलैण्ड लौट रहा था तो रास्ते में नैपोलियन ने फ्राँसीसियों सहित पेरिस में इन्हें भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

वान हँसोहट ने और उसके भाई अलेक्जेंडर हँसोहट ने भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया। गीता की ध्यापक ज्ञानप्राप्ति इनके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य था। शेलिंग, कॉट और शिलर प्रभृति जर्मनों ने उपनिषदों का जर्मनभाषा में अनुवाद किया। इसी प्रकार दूसरे जर्मन पण्डितों में फ्रेडरिक रूकार्ट का भी काव्यसम्बन्धी ज्ञान प्रशंसनीय है।

फर्गुसन जेम्स एक सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् शिल्पशास्त्री हुए हैं। १८४३ है० में हन्होने दक्षिण भारत के कत्तिपय खण्डहरों और देवालयों से गुरातत्वसम्बन्धी महरवपूर्ण सामग्री का पता लगाया। १८४८ है० के आसपास हन्होने भारतीय चन्द्रपतिविज्ञान पर प्रकाश ढालने के लिए 'हिन्दू प्रिंसिपल आफ व्यूटी इन् आर्ट' लिखा।

महापण्डित मैक्समूलर अपने महत्तम कार्यों के कारण भाज भी अमर हैं। उनका जन्म जर्मनीस्थित देसाऊ नामक पुक छोटे से गाँव में ६ दिसम्बर १८२३ है० में हुआ था। मैक्समूलर ने भारतीय ज्ञान का ध्यापक प्रचार करने के लिए जो परिश्रम किया उसका मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता है। अपने जीवन के ५८ वर्ष उन्होंने भारतीय साहित्य की एकान्त सेवा में लगाए। १८४९ से १८७५ है० तक उन्होंने सायणभाष्य-सहित ऋग्वेद को छः जिल्हों में सम्पादित और प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त १८७३ है० में मूल ऋग्वेद के दसों मण्डलों को लन्दन से प्रकाशित किया। १८ अक्टूबर, १९०० है० में मैक्समूलर दिवङ्गत हुए। इसी समय विल्सन ने भी 'हिन्दू पिटर' और 'विष्णुपुराण' के अतिरिक्त ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद छः जिल्हों में प्रकाशित किया। वेदों का शब्दार्थ समझने के लिए जर्मन विद्वान् राथ हृत 'संस्कृत-जर्मन विश्वकोश' बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। १८७० के लगभग पृथ्वी प्रासमैन और विल्सन ने सायण-भाष्य के आधार पर ऋग्वेद का भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। ग्रासमैन फ्रत 'संस्कृत जर्मन कोश' मी उत्सेवनीय है। रघुपरान्त इस चेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों में रुदोक्ष, गेवहनर, लुद्विग, रैब्थ और पिशल का नाम उत्सेवनीय है। आर० पिशल जर्मन थे। बर्लिन, आक्सफोर्ड और लन्दन में इनकी शिक्षा सम्पन्न हुई। १८७२ ई० में वे कील के विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए। १८८५ ई० में वे हेल के सैक्सन विश्वविद्यालय में गण और अन्त में इसी पद पर वे बर्लिन के विश्वविद्यालय में आजीवन संस्कृत की सेवा करते रहे। वेदों के अतिरिक्त कालिदास और हेमचन्द्र की कृतियों पर इन्होंने अच्छा प्रकाश ढाला। इनका 'वैदिक टटहीज' ग्रन्थ बहु महत्वपूर्ण है।

संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित वेयर ने भारतीय साहित्य पर पहले-पहल एक विवेचनात्मक इतिहास-ग्रन्थ लिखा। इनका जन्म १८२५ में हुआ। इन्होंने यजुर्वेद का भी सफल सम्पादन किया। बर्लिन के राजपुस्तकालय का इस्तलिखित पोथियों का सूची-पत्र वही विद्वत्ता से इन्होंने सम्पादित किया। १८५० से १८८५ ई० तक ३५ वर्षों के घोर परिथम से इन्होंने *Indischen Studien* नामक ग्रन्थ १७ ज़िल्दों में प्रकाशित किया। भारतीय साहित्य के इतिहास में इनके कार्य अविस्मरणीय रहेंगे। संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर ग्रकाश दालने वाले विद्वानों में दा० आर्यर एंथनी मेकडोनेल का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इस प्रतिभाशाली विद्वान् का जन्म १८५४ ई० में भारत में ही हुआ। लिपिज्ञिक विश्वविद्यालय से ऋग्वेद पर कात्यायन की सर्वानुक्रमणी का पाठशोध और उस पर यीसिस लिखने के फल-स्वरूप इन्हें पी-एच० डी० की उपाधि मिली। इसके बाद वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्राच्यापक नियुक्त हुए। अपना सम्पूर्ण

जीवन हन्होंने संस्कृत की सेवा करते त्यतीत किया। वैदिक वाल्मीय के द्वेष में हनकी कृतियाँ हैं : वैदिक मेथोलोजी, वैदिक ग्रामर, वैदिक हृष्टैक्स आफ नेम्स प्रेण्ड सघ्जेक्ट्स, ए वैदिक ग्रामर फार स्ट्रॉप्ट्स और ए वैदिक रीडर फार स्ट्रॉप्ट्स। संस्कृत-साहित्य के द्वेष में हनकी कृतियाँ हैं : संस्कृत ग्रामर फार स्ट्रॉप्ट्स, ए हिन्दी आफ संस्कृत लिटरेचर, बृहदेवता।

वेदर और मेकडोनेल के अतिरिक्त तीमरे इतिहासज्ञ विद्वान् हैं—दा० आर्थर वेरीडोल कीथ। हनका जन्म १८७९ ई० में हुआ। मेकडोनेल को ये अपना गुरु मानते थे। १९०७ ई० में मेकडोनेल जब भारतवर्ष की यात्रा पर गए तो उस स्थान पर हनकी नियुक्ति हुई। लगभग ३० वर्ष तक हन्होंने संस्कृत का अध्ययन और ज्ञानार्जन किया। 'वैदिक हृष्टैक्स आफ नेम्स प्रेण्ड सघ्जेक्ट्स' नामक ग्रन्थ को तैयार करने में मेकडोनेल के साथ हनका पूरा सहयोग रहा। वैदिक ज्ञान सम्बन्धी हनका दूसरा ग्रन्थ 'रिलिजन प्रेण्ड फिलासफी आफ दि वेद प्रेन्ड दि उपनिषद्स' है। हिन्दू तत्त्वज्ञान पर हन्होंने 'सांख्य-सिस्टम, कर्म-मीमांसा और हण्डियन लोजिक प्रेण्ड अटोमिजम' नामक ग्रन्थ लिखे। उन्दन के हण्डिया आफिस का बृहदि सूचीपत्र और आक्सफोर्ड की बोडलीयन लाइब्रेरी के सूचीपत्र भी हन्होंने तैयार किए। हनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य है : 'संस्कृत ड्रामा' और 'हिन्दी आफ ह्यासिकल संस्कृत लिटरेचर'। ये दो कृतियाँ हनकी अमर स्मारक हैं। हनकी मृत्यु १९४४ ई० में हुई। इतिहासलेखकों में फेजर, गवेन और विण्टरनिट्स का नाम भी अविस्मरणीय रहेगा।

जर्मन पण्डित दा० थीवो, मैक्समूलर के सहयोग से संस्कृत की ओर आकृष्ट हुए। १८८५ ई० में वे अध्यापक होकर बनारस आए और भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन २३३

१८८८ ई० गह पर्ही रहे। इन्होंने 'पश्चिमानिका' का और महाराजानुत्तमानन्दगिति ऐश्वर्यसूत्रों का सुन्दर संरक्षण निकाला। शीर्घीवाचाय और व्योतिष्ठ पर भी इन्होंने निषग्ध हिते। एम० रोड़ी नामक परमानन्दसीषी पितृन् ने यूरोप में रह कर १८१४ में १८१२ ई० गह तांत्रगत वा ऋष्यतन्त्र भीर प्रचार किया। जैन साहित्य के मर्मज्ञ पितृन् द्वे० ये दोनों ने जैनसूत्रों का उत्तम अनुपाद प्रस्तुत किया। वर पृथ्वीन शास्त्रेण जे १८९६ ई० में 'धौरपद्मानिका' का प्रथम अनुपाद दिया। सूक्ष्मिक वैष्णवाश्रम बोटिङ्ग में पालिनि-रायाश्रवण के पितृहृषीकृत भी राध के महोग में संस्कृत कोश का भी सम्पादन दिया। पालिनि हे पितृनि-दाता पर विश्व व्रातम टाटने वाली गोरक्षदृक्षर भी इति भवते देश वा अल्प छायें हैं।

सार्वाय प्राच्य वा विद्युत विदेषतात्त्वों की प्रसादा जे लाले जाता है वह एवं व्यव 'विदेषोगम विदेषोगोरम्' अपने देव का अल्प दर्शन है। योग पितृन् मुद्रा है 'स्त्रेरिमिकल गोकृत टेट' विद्वि अंतरम पर इत्यर्थ धरान दाते वाच दन्त्य है। यह वीर भागी है। इस प्रक्षम में विद्वि धार्मन, दृष्टिदाय भीर गारांग ब्रह्म-विद्वि वा प्रामाणिक प्रदाता दाना दया है।

विदेषविदों ने रोपन में आग्नेय भीर ऐतरेय सामग्री ही दिया। इसी दरवा एत्यहर गाम्यक दूसरे पितृन् ने भी आग्नेय पर रोपन सारा में पर युग्मद विर्धा, जिसका अदिनी अनुशास निराप शुभा है। अवेदिका में विद्वि ग्रन्थपरिषद्वेदी। पितृनों से पर्वतप्रम शार्वाय प्राहित्य के अन्यदन-अनुशीलन में भद्री इति इति वीर वस्त्रे वित्तिव द्वारा द्वितीय (१८३०-१८३५) वा साम दर्तान्नकीय है। विद्वि भीर वीरिवि गोकृत के अन्यतर वा विद्विनि द्वि वे विकार वस्त्रे काले

विदेशी विद्वानों में भी हिटनी महोदय का प्रमुख स्थान है। अर्थर्ववेद 'प्रातिज्ञास्य' के समीचित सानुवाद संस्करण के अतिरिक्त उन्होंने अर्थर्ववेद पर एक अनुक्रमणिका भी लिखी और सम्पूर्ण अर्थर्ववेद पर अंग्रेजी भाष्य भी। भाषा-विज्ञान, व्याकरण और ज्योतिष पर भी उनका पूरा अधिकार था। १८७९ में प्रकाशित उनका 'संस्कृत व्याकरण' इस विषय का सर्वप्रथम वैज्ञानिक ग्रन्थ है। 'सूर्यसिद्धान्त' का उन्होंने अंग्रेजी में उस्था किया था। प्राच्यविद्या-सम्बन्धी उनके लेखों और पुस्तकों की संख्या ३६० है।

ऐसे समय में जब कि विश्व भौतिक-प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा था और संस्कृत का अध्ययन लोकप्रियता एवं अर्थ की हाइ से हानिकर था, हिटनी साहच ने संस्कृत भाषा का नारा हुलन्द किया। इस अधिकार के प्रति प्रो० लैनमैन ने ठीक ही लिखा था।

श्रीहितिना कर्मफलेष्वसंगिना, गीतोपदेशाच्चरितं प्रसाधितम् ।
लोकप्रशंसा किल तेन नाइता, लोकोपकार्येष्वरुत सत्यमेव सः॥

प्रो० हिटनी कृत व्याकरण ग्रन्थ सभी पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थों का निष्पन्द कहा जा सकता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें वैदिक और संस्कृत मुहावरों का विवेचनात्मक समन्वय यद्ये विद्वत्तापूर्ण छङ्ग से दर्शाया गया है। इस विद्वान् ने गार्वे के सहयोग से अर्थर्ववेद संहिता का ओरियण्टल सीरीज के लिए एक उल्लेखनीय अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

प्रो० ओस्ट्रेनवर्ग ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का शोध कर अर्थवेद पर उदाहरण-सहित संचिप्त टिप्पणियाँ लिखीं। 'विजय-पिटक' पर भी इन्होंने प्रकाश ढाला। 'सांख्यायन गृद्धसूत्रों' का भी इन्होंने सम्पादन किया। इसी प्रकार प्रो० ब्लूमफीष्ड का भी अर्थर्ववेद का अनुवाद प्रशंसनीय कार्य है। सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् हिलेष्ट ने 'शिखायन शौक-भारतीय साहित्य पर विदेशी पण्डितों का अनुशीलन

हेन-त्सांग मोक्षदेव

हेन-त्सांग का जन्म संभ्रान्त शाहीवंश में हुआ था। सम्राट् शुन् इनके पूर्व वंशज थे। तीसरी शताब्दी ई० पूर्व से इनकी वंश-परंपरा का ऐतिहासिक विवरण प्राप्त होता है। होनान के पूर्व में स्थित चिन्-ख्यू नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। ईसा की दूसरी शताब्दी में चर्तमान शेनसिंह और चौथी शताब्दी में चर्तमान च-एन-तेन नामक इनके पूर्वज इतिहास-विश्रुत व्यक्ति हुए हैं। इनके प्रपितामह चे-हन, पितामह के-आंग और पिता हुह की गणना उस समय के विद्यार्थ विद्वानों में की जाती है। को-शिह नामक नगर के दक्षिण-पूर्व में इनका जन्म ६० ई० में हुआ।

एक प्रतिष्ठित विद्वद्-वंश में जन्म लेकर बालक हेन-त्सांग के अन्दर प्रकृतिप्रदत्त, ऐसे संस्कार विद्यमान थे, जिनके कारण स्वभाव-तथा उनकी जीवन-दिक्षाएँ उद्भासित होने में विलम्ब न हुआ।

यही वह स्थान था जहाँ पर फाहियांन और चियेन नामक यात्रियोंकी पुण्य-स्मृति ने ह्वेन-त्सांग के हृदय में पश्चिमी देशों में जाकर वहाँ की ज्ञानप्रवण धरती की शोहरत और वहाँ के देवोपम महात्माओं के सत्संग में रह कर, अपनी उन शंकालों का समाधान करने की उत्कट अभिलापा जागरित की, जिनकी उलझन के कारण उसकी बौद्धिक दैचैनी निरंतर बढ़ती जा रही थी ।

तथागत की पवित्र जन्म-भूमि के दर्शन की अभिलापा ने उसको व्याकुल कर दिया था । वह बौद्ध-धर्म के उन ज्ञानप्रवण भारतीयों के पास रहकर अपने अन्तःकरण की इच्छा को तृप्त करना चाहता था, जिसके कारण उसको पल भर भी चैन न था । वह मूल बौद्ध-ग्रंथों का अध्ययन, उनकी मूल भाषा में करना चाहता था, और चाहता था भारतभूमि का तथा भारतवासियों का जी भर दर्शन करना ।

जिस समय उसकी अवस्था २६ वर्ष की थी, वह कन्सु के आचार्य सिंगचू के साथ उनके शहर में और तदनन्तर छुछ दिनों में वहाँ से लानचौ होता हुआ लियांगचौ पहुंचा । यह वह स्थान था, जहाँ पर व्यापारी-वर्ग वहाँ के गवर्नर की आज्ञा प्राप्त कर दूसरे देशों की यात्रा करते थे । ह्वेन-त्सांग ने व्यापारियों से अपनी ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा प्रकट की और उन व्यापारियों ने उसकी यथाशक्य सहायता के लिए भी बचन दिया; किन्तु गवर्नर ने उसकी देशाटन की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया । अंत में जी-जान की याजी लगाकर ह्वेन-त्सांग ने छिपे-छिपे दुर्गम स्थानों को भूखे-प्यासे पार कर, रेगिस्तान के भीषण कष्टों को सहन कर अपनी भारत भूमि के दर्शनों की घिर तृपा को पूरी किया ।

उन्होंने जिन-जिन स्थानों, पर्वतों, राज्यों, अरण्यों, राजधानियों ह्वेन-त्सांग मोक्षदेव

और नदियों को पार कर भारत में प्रवेश किया, उनका और्तों देखा वहाँ ही भनोरंजक, तथ्यपूर्ण वर्णन किया है। उनका यात्रा-विवरण ओकीनी राज्य से आरंभ होता है। इस राज्य की उपज के सम्बन्ध में उनका कथन है कि ज्वार, गेहूं, मुनक्का, अंगूर, नाशपाती, घेर तथा दूसरे फलों की उत्पत्ति के लिए वह भूमि वहाँ ही उपयुक्त है। वहाँ के मनुष्य वडे सज्जे और ईमानदार हैं। वहाँ की लिपि और हिन्दुस्तान की लिपि में योग्य ही अन्तर है। वहाँ की पोशाक रुई और ऊन के कपड़ों की है। इस देश का कोई इतिहास नहीं है। इस देश में लग-भग दस 'संघाराम' बने हुए हैं, जिनमें हीनयान संप्रदाय के अनुयायी जो हजार घौढ़-संन्यासी निवास करते हैं। वहाँ के सूत्र और विनय भारतवर्ष के ही समान हैं, और वही पुस्तकें वहाँ भी उन्हें देखने को मिलीं जो भारत में प्रचलित थीं।

तदनन्तर ह्वेन-रसांग किठची राज्य से पोहलुहकिया, निठची-किन, चेशी, फीहान आदि स्थानों से होते हुए आकस्से नदी के दक्षिण में स्थित पोहो प्रदेश में पहुंचे। इस प्रदेश के सम्बन्ध में उनका कहना है कि उसकी दक्षिण-पश्चिम दिशा में नव संघाराम नामक एक स्थान है, जिसको वहाँ के किसी राजा ने निर्मित किया था। इस प्रदेश में घडे-घडे घौढ़ाचार्य हैं, जो कि हिमालय की उत्तर दिशा में रहते हैं और जो घडे-घडे शास्त्रों के भी रचयिता हैं। इस संघाराम के उत्तर में २०० फीट ऊँचा एक स्तूप है, जिसके भीतर पुनीत घौढ़ाधरोप बन्द है। इस संघाराम से ह्वेन-रसांग ने कुथाण साम्राज्य के संस्थापक कनिष्ठ का सम्बन्ध यताया है।

पोहो-प्रदेश के पश्चिम-दक्षिण में पीलुसार नामक पर्वत के एक छोटी टीले पर अशोक महान् द्वारा निर्मित एक १०० फीट ऊँचे

स्तूप का छेन-त्सांग ने निर्देश किया है, और बताया है कि उसमें तथागत भगवान् शुद्ध का लगभग एक सेर शरीरावशेष रखा हुआ था। इसी स्थान के उत्तर में तथागत से सम्बन्धित एक स्तंषिर संघाराम है। यहाँ से पूर्व दिशा के पहाड़ों और घाटियों को लांब कर काले पहाड़ के किनारे-किनारे वह उत्तरी भारत में पहुंचा और सीमाप्रान्त होते हुए लैनपो देश के रास्ते भारत में प्रविष्ट हुआ।

छेन-त्सांग के कथनानुसार भारत का प्राचीन नाम 'शिन्दु' और 'हीनताव' था, किन्तु अब उसका शुद्ध उत्तराण 'इन्तु' हो गया था। इस नाम का उत्तराण, छेन-त्सांग के अनुसार, यहाँ कर्णप्रिय और मधुर था। चीनी भाषा में इस शब्द का अर्थ चन्द्रमा होता है। चन्द्रमा प्रकाश या दीसि का उपमान है। ठीक ऐसा ही प्रभाव भारत के दीसिमान एवं प्रकाशमान महात्माओं सथा विद्वानों का है, जो चन्द्रमा के प्रकाश की भाँति संसार के प्राणियों का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं और इस देश के अस्तित्व को जीवित रखे हुए हैं। इसी कारण इस देश का नाम 'इन्तु' पड़ा। इन्तु, अर्थात् संस्कृत का हन्दु।

भारतीय ज्ञान के सम्बन्ध में छेन-त्सांग का कथन है कि भारतीयों की वर्णमाला का निर्माण स्वयं व्रज्ञा ने किया। इन वर्णों की संख्या ४७ है। ये वर्ण इस वैज्ञानिक प्रकार से आविष्कृत हैं कि इनसे इच्छित शब्द अनायास ही बनाये जा सकते हैं। यहाँ की भाषा का उत्तराण देवताओं की भाषा की तरह मधुर और कर्णप्रिय है; यहुत शुद्ध एवं स्पष्ट भी।

भारत में आलकों के ज्ञान का आरम्भ द्वादश अध्याय वाली, जिसको उन्होंने सिद्धवस्तु नाम दिया है, पुस्तक से होता है। सात वर्ष या इससे अधिक उम्र हो जाने पर बच्चे को पंचविद्याओं की शिक्षा छेन-त्सांग मोक्षदेव

दी जाती है। उनमें पहिली विद्या शब्दविद्या (व्याकरण) है, दूसरी विद्या शिल्प-स्थानविद्या (कारीगरी, यंत्र, ज्योतिष), तीसरी विद्या वैद्यक, चौथी विद्या हेतुविद्या (आत्मज्ञान) और पांचवीं विद्या अध्यात्मविद्या है। ये पंचविद्यायें ही बौद्ध-साहित्य का पंचयान हैं।

ब्राह्मण नियमित रूप से चारों देंदों की शिक्षा पाते थे। शास्त्रार्थ की रीसि प्रचलित थी, जिससे विद्यार्थियों को कठिन से कठिन विषय सुगमतापूर्वक हङ्गयंगम हो जाते थे। तीस वर्ष में शिक्षा को समाप्त कर दिया जाता था।

कथीनटोलो अर्थात् गधार की महिमा का इस यात्री ने बद्दा वस्तान किया है। उसने घताया कि इस सीमाप्रांत में प्राचीन काल से ही अनेक शास्त्रनिर्माता हुए, जिनमें नरायणदेव, असंग बोधिसत्त्व, बसुबंधु बोधिसत्त्व, धर्मत्रात्, मनहित, पार्श्व महात्मा आदि उल्लेखनीय हैं। बसुबंधु को उसने पुरुषपुर (पेशावर) का निवासी घताया है।

कनिष्ठ के सम्बन्ध में उसका कथन है कि वह राजा निर्वाण अर्थात् तुद्धनिर्वाण के चार सौ वर्ष पश्चात् सिंहासनास्त्र हुआ और समग्र जंचूद्धीप का स्वामी बना। उसने कई स्तूप बनवाये। इसी का बनवाया हुआ पश्चिम में एक संघाराम है, जिसमें कितने ही शास्त्रकारों ने निवास करके परम पद को प्राप्त किया। इसके तीसरे हुजू में एक गुफा महात्मा पार्श्विक की है। इसके पूर्व के एक प्राचीन भवन में बसुबंधु बोधिसत्त्व ने 'अभिधर्म कोकशास्त्र' की रचना की थी। बसुबन्धु की स्मृति में तत्कालीन समाज के द्वारा निर्मित 'एक महस्त्वपूर्ण ऐतिहासिक शिलालेख' का ह्मेन-स्सांग ने सकेत किया।

यहाँ पर एक पोलोदुलो नगर है। ह्मेन-स्सांग के अनुसार यह वही नगर है, जहाँ पर व्याकरणशास्त्र के रचयिता महर्षि पाणिनि का जन्म

हुआ। पाणिनि ऋषि जन्म से ही वास्तु-ज्ञान से परिचित थे। उन्होंने एक देवता की प्रेरणा से सम्पूर्ण शब्द-समूह को संग्रह करके एक पुस्तक बनाई, जिसमें एक सहज श्लोक थे और प्रत्येक श्लोक ३२ अक्षरों का था।

भारत के प्रायः उन सभी स्थानों का, इस यात्री ने अमण किया, जो किसी-न-किसी रूप में प्रसिद्ध थे। यहाँ की प्राचीन शिक्षा-संस्थाओं को देखने और व्यावहारिक रूप से उनकी तथ्यरूप जानकारी हासिल करने में उसने बड़ी रुचि प्रकट की है। ऐसे विद्याकेन्द्रों और धर्मस्थानों में तष्ठिला, कश्मीर, चिनापटी (पंजाब), मधुरा, भयोध्या, प्रथाग, कोशाभ्यी, आवस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, वैशाली, मगध, कोशल, सुतन आदि स्थान प्रमुख हैं। इन स्थानों के धार्मिक महत्व और भारतीय ज्ञान को प्राप्त करने की व्यवस्था का आंखों देखा हाल, हेन-त्सांग ने बड़े ही आकर्षक ढंग से वर्णन किया है। हनके अतिरिक्त भारत के विभिन्न भागों में स्थापित बौद्ध यिहारों का परिचय भी उन्होंने दिया है।

कनिष्ठ के द्वारा काश्मीर के कुण्डलवन महाविहार में आयोजित चौथी बौद्ध-संगीति के सम्बन्ध में इस यात्री का कथन है कि 'इसी समय पहिले-पहिल दस हजार श्लोकों में 'सूत्रपिटक', दस हजार श्लोकों में 'विनयपिटक' और दस हजार श्लोकों में 'अभिधर्मपिटक' की रचना हुई। इस प्रकार छह लाख साठ हजार शब्दों में तीस हजार श्लोक तीन पिटकों के साप्त्यस्वरूप निर्माण किए गए। ऐसा उत्तम कार्य कभी भी इसके पहिले नहीं हुआ था, जो बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे प्रश्न को उत्तमता के साथ प्रकट कर सके। संसार भर में इस कार्य की प्रशंसा हुई और विद्यार्थियों को इनके पढ़ने और समझने में सुगमता हो गई।'

संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ हेनरी टॉमस कोलब्रुक

संस्कृत-साहित्य के महत्व और उसके गुण-गौरव को प्रकाश में लाने का पूरा श्रेय विदेशी पण्डितों को है। संस्कृत की परम्परा को जीवित रखने के लिये भारतीय पण्डितों की अद्भुत शक्ति-भक्ति का तो पता लगता है; किन्तु संसार की सभ्य एवं समुद्धत भाषाओं की कोटि में संस्कृत को प्रतिष्ठित करने का कार्य विदेशी विद्वानों द्वारा ही सम्पन्न हुआ है। भारत में संस्कृत भाषा की उत्तरोत्तर उक्ति की अपेक्षा उसकी अवनति होने का एकमात्र प्रधान कारण यहाँ की परम्परागत अध्ययन-अध्यापन-प्रणाली है। हमारे विद्यालयों में आज भी जिस परिपादी से संस्कृत का अध्यापन हो रहा है उससे इस द्वे भाषाओं में विशेष भलाई होने संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ हेनरी टॉमस कोलब्रुक

की कोई आशा नहीं है। संस्कृत के ज्ञातकों में एक महान् भवगुण यह रहा है कि उन्होंने भाषा-विकास-सम्बन्धी विवेषणात्मक प्रबृत्तियों को कम प्रश्नय दिया और परम्परागत अन्धविश्वासों तथा सिद्ध्या मोहों को अधिक मान्यता दी है।

विदेशी पण्डितों ने संस्कृत का अध्ययन उसके विकास-क्रम को देखि में रख कर किया है। यही कारण है कि इस ज्ञेत्र में वे सफल हो सके हैं। यद्यपि आज विदेशी पण्डितों की बहुत-सी मान्यतायें असत्य साधित हो चुकी हैं; फिर भी उनकी मौलिक सूझ और विवेचनात्मक ज्ञान सर्वथा सराहनीय है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य की मौलिकताओं का उद्घाटन करने में इन पण्डितों की सेवायें हमारे द्वितीयास की पुनीत वस्तु यन गई हैं; किन्तु यह भी अकाल्य सत्य है कि इसी एकमात्र कार्य के भाधार पर उन्होंने विश्वव्यापी स्थाति पाई।

हेनरी टॉमस कोलब्रुक एक ऐसे ही अन्तर-राष्ट्रीय स्थाति के पण्डित हुए हैं, जिन्होंने यावज्जीवन संस्कृत-साहित्य की सेवा की। आपका जन्म १७ जून १७६५ है। उन्नदन में हुआ। विपुल सम्पत्तिशाली पिता और विदुषी माता के सम्पर्क में थालक कोलब्रुक का वास्यकाल सुख-सुविधाओं के बीच सम्पन्न हुआ। इनके पिता सर एडवर्ड कोलब्रुक एक ख्याति-प्राप्त व्यापारी थे। घास्याचस्था से ही कोलब्रुक में विद्यानुराग की भावना का उदय हो चुका था। किसी रक्षण, कालेज और विश्व-विद्यालय का आश्रय न लेकर ख्ययं ही ये विद्योपार्जन की दिशा में प्रवृत्त हुये। कदाचित् इसी एकान्त लगन के कारण पंद्रह वर्ष की अवधाय में ही उन्होंने अंग्रेजी, फ्रांसीसी, ग्रीक और लेटिन भादि भाषाओं को सीख लिया था। ग्रीक और लेटिन जैसी प्राचीन भाषाओं के सम्पर्क में आने के कारण संस्कृत और जर्मन भाषा के प्रति भी उनकी

स्वामाविक रुचि हुई। इसी धीर संयोगवशा सन् १७८५ में कोलब्रुक को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से भारत भेजा गया, जहाँ कि उनकी संस्कृत-ज्ञान-सम्बन्धी निज्ञासा पूर्ण हुई।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से कोलब्रुक महोदय सन् १७८५ से लेकर सन् १८१५ तक लगभग ३२ वर्ष भारत में रहे। राजनीतिक वातावरण में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने अपने अध्ययन-क्रम को न छोड़ा। न्यायपरायण वे इतने थे कि एक कर्मचारी होते हुये भी उन्होंने कम्पनीनीति की कट्टु भर्सना की। इतने पर भी कम्पनी ने उनको अनेक उच्च पदों पर सम्मानित किया। १८१५ ई० में वे लन्दन वापिस चले गये।

भारतीय ज्योतिष और स्मृतिग्रन्थों का कोलब्रुक ने विशेष अध्ययन किया। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अपने पिता के लिये लिखे गये उनके पत्रों से विदित होता है कि भारतीय विद्या के प्रति उनको कितना बड़ा अनुराग था। विदेशों में भारतीय ज्ञान को प्रकाश में लाने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं पण्डित को है। अपने विद्वत्तापूर्ण निवंधों और गम्भीर-ज्ञानसम्बन्धी ग्रन्थों के द्वारा विदेशी साहित्य और संस्कृति के समुख भारत की अति प्राचीन देन को कोलब्रुक ने चमका दिया।

विद्वद्वर्य कोलब्रुक जैसे प्राच्य-विद्या-विशारद और अनुशीलनकर्ता पण्डित कम हुए हैं। अपनी शोध-सम्पन्न प्रतिभा से उन्होंने भारतीय विद्या की जिन सूचमताओं को खोज निकाला, विश्व के तत्त्वज्ञानियों और पण्डितों के लिये उसका बड़ा महत्व है। इस खोजपूर्ण अभिरुचि के कारण कोलब्रुक को १८०७ ई० में प्रशियाटिक सोसाइटी आफ चंगाल का सभापति नियुक्त किया गया था। अपने इस सभापति-काल संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ हेनरी टॉमस कोलब्रुक

में उन्होंने भारत में अनेक महत्वपूर्ण हस्तलिखित पोथियों का उद्धार-कार्य किया। हम्लैंड घापिस होने पर उन्होंने रॉयल प्रशियाटिक सोसायटी की स्थापना कर अपने विद्याप्रेम को अमर बना दिया। इस सोसायटी को उन्होंने १८२१ ई० में जन्म दिया। इस सोसायटी से योरेप भर में संस्कृताध्ययन की प्रवृत्ति का सुन्नपात हुआ।

महापण्डित मैक्समूलर ने कोलंबुक महोदय के कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारतीय साहित्य के निर्माण-क्षेत्र में इन विद्वान् की सेवाएँ अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। सन् १७७६ ई० में सुप्रसिद्ध कानूनज्ञ वारेन हेस्टिंग्स के स्थिरोक्त्साहन से विलियम जोन्स ने जिस ‘हिन्दू और सुसलभानों के कानूनसार’ नामक ग्रन्थ का अँग्रेजी अनुवाद आरम्भ किया था, उनकी मृत्यु के उपरान्त कोलंबुक ने ही उस अनुवाद कार्य को पूर्ण किया। पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन करने के पश्चात् कोलंबुक ने जो ‘संस्कृत व्याकरण’ नामक अँग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया था, मैक्समूलर ने उसकी सुकृत कण्ठ से प्रशंसा की, यद्यपि उनकी मृत्यु के कारण यह महत्वपूर्ण रचना अधूरी ही छृट गयी।

भारतीय स्मृतिशास्त्र पर गम्भीर प्रकाश ढालने वाला उनका ग्रन्थ है—‘Supplement of the Digest of Law’। यह ग्रन्थ विदेशी धर्मशास्त्रों और न्यायाधीशों के लिए पथ-प्रदर्शक रहा है। इसी प्रकार बंगाल प्रशियाटिक सोसायटी के समापत्ति-काल में सन् १८७१ ई० में उन्होंने ‘भारतीय ज्योतिष’ पर एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा तथा सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विदों—ग्रहगुप्त तथा भास्कराचार्य—के सिद्धान्तों पर गम्भीर प्रकाश ढाला। इस ग्रन्थ से उनके भारतीय ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय मिलता है।

इस ग्रन्थ-प्रणायन के अतिरिक्त भारतीय तत्वज्ञान, साहित्य,

धर्मशास्त्र, ज्योतिष और स्थाकरण आदि विषयों पर उन्होंने अनेक शोधपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। १७९७ ई० से १८०१ तक लिखे हुए उनके निबन्धों में हिन्दूशास्त्र और हिन्दुओं के रीति-रिवाज, भारतीय वर्ण-स्थापना की उत्पत्ति, संस्कृत और भाकृत छन्दशास्त्र, भारतीय पौधे और संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का महत्वनामक निधन्य वडे उच्च कोटि के हैं। इसी प्रकार १८०४ से लेकर १८२८ ई० तक साँख्यशास्त्र, न्यायशास्त्र, वैशेषिकशास्त्र, वेदान्त-दर्शन, जैनधर्म और चौदर्घर्म पर कोलब्रुक ने अपने निधन्यों में आलोचनात्मक प्रकाश दाला है। भारत से जिन हस्तलिखित पोथियों को वे साथ ले गए थे उन पर लिखी हुई विवरणिकाएँ कोलब्रुक की असामान्य विद्वत्ता को प्रकट करती हैं। ये पोथियाँ सडप्रति छपिया औफिस, लंदन में सुरक्षित हैं।

इस प्रतिभा-सम्पद पण्डित ने स्वयं तो भाजन्म भारतीय साहित्य की सेवा की ही है, साथ ही दूसरे विद्वानों को भी भारतीय ज्ञान की सोज में लगाया।

७२ वर्ष की आयु में, १० मार्च सन् १८३७ ई० में लंदन में ये महाप्राण मनस्वी स्वर्गवासी हुए।

—००५००—

महापण्डित मैक्समूलर

मैक्समूलर की गणना संसार के उन असामान्य प्रतिभाशाली महापुरुषों की कोटि में की जाती है जिनके ज्ञान से ज्ञान भी संसार आलोकित हो रहा है। मैक्समूलर का जन्म ६ दिसम्बर १८२३ई० को जर्मनी के देसाऊ नामक नगर में हुआ था। पिता एक छोटी-सी पाठशाला के अध्यापक थे। मैक्समूलर जब ४ वर्ष के ही थे, तभी उनके पिता की ३३ वर्ष की अव्यायु में मृत्यु हो गयी थी। धैर्य-सम्पन्ना माता की सुशिक्षा से चालक मैक्समूलर का ध्यक्षित्व उत्तरोत्तर विकसित होता गया। ६ वर्ष की अवस्था में देसाऊ की एक छोटी-सी पाठशाला में मैक्समूलर का अध्ययन प्रारम्भ हुआ, जहाँ उगमग ६ वर्ष तक मैक्समूलर ने विद्याध्ययन किया।

सन् १८३६ में मैक्समूलर ने लैटिन भाषा की शिक्षा के लिए लिपज्जिग विश्वविद्यालय में प्रवेश किया और उगातार पाँच वर्ष तक वही तन्मयता से लैटिन का अध्ययन किया। एक परिश्रमी छान्न होने के कारण लिपज्जिग विश्वविद्यालय ने उन्हें १८४० ई० में ६ पौंड की छात्रवृत्ति देकर प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त वहाँ के उच्चाधिकारियों द्वारा समय-समय पर मैक्समूलर को अनेक प्रशंसापत्र भी प्रदान किये गये।

पाठशाला की शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त इस छोटी-सी ही अवस्था में उन्हें जीविकोपार्जन की कठिन समस्या ने आ घेरा। परन्तु मैक्समूलर में विद्योपार्जन की उरकट अभिलापा थी और उन्होंने किसी न किसी तरह विश्वविद्यालय में प्रवेश पा ही लिया। यहाँ मैक्समूलर ने वहे धैर्य से और दत्तचित्त होकर संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। संस्कृत भाषा के प्रति उनकी अभिरुचि उत्तरोत्तर घटती गयी और फलस्वरूप २० वर्ष की अवधायु में ही उन्होंने सितम्बर १८४३ ई० में विश्वविद्यालय की 'फिल डाक' की उपाधि प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त किया। उनकी आर्थिक स्थिति दृतनी दयनीय थी कि परीक्षाभवन के विशेष नियमों के पालनार्थ उन्होंने अपने लिए किराये पर वहाँ की व्यवस्था की थी। सन् १८४४ में मैक्समूलर ने यहाँ की शिक्षा को समाप्त किया।

इस विपक्षावस्था में भी देसाऊ के प्रिंस विद्वेल्ग के आग्रह पर मैक्समूलर ने आस्ट्रियन छूटनीतिक सेवा को अस्वीकार कर दिया। अपने उरकट विद्या-व्यवस्था के कारण विश्वविद्यालय छोड़ने के तत्काल बाद ही मैक्समूलर जर्मनी के राजा द्वारा हँगलैण्ड से खरीदे गये संस्कृत साहित्य के वृहद् ग्रन्थालय को देखने वाल्ने गये। सारे पूर्वी देशों में उसकी उस समय वही चर्चा थी। वहाँ उन्होंने वेदान्त और साहित्य

दा अनुसारी दिया। दर्शन के दूसरे विद्यालयों-काल में लाप्तीमार के खाली बारूं पार उग्गे निराकार गहर रहना पड़ा।

दर्शन हा वार्य ममास परने पर थे पेरिष गवे । पर्हो पक्क मार्त्तीचे
हे घटदेश मे उन्होने बंगला काळत आस दिला और गाळण प्रीतीती
मार्त्ता ने एह दंगला ध्यारण तैयार ठिका । इन दिनों मे भी उन्हे
उपर्युक्त अधिकार के लिए शत वो तुद टोपों के लिए दीक बरने पडते
थे । फैरमगूर मे यंदालासन हा महावृत्त वार्य पठते-घटण पेरिष
मे ही प्राप्त ठिका था । पर्हो उन्होने पर्ही मन्मधता मे घरेद पर
लिया । याची लालालाखार्य वी टोका हा भाष्यपत्र ठिका ।

क्षेत्रदमूल थे। अपने चारों के द्वाभग ५६ पर्यं संस्कृत शास्त्रिय
के नीर विलोगा। द्वारेह के भ्रष्टपन इतने जै दिग्गजे। संस्कृत भाषा
में प्रभी नमहे द्वय एशिय देव में उम्मी हमर कना दिला। इस
प्राचीनत्य में पहला पार्यं गो उन्होंने पह दिला वि विदेशों में भ्रात्येद
ही लो दीदाए़े प्राचीनित्य छुट्ट थी, उग्गी एवं एव उत्तरा अनुदीनित्य
दिला। द्वारेह पर दिला। पर्यं दिव भाष्यतापायंहृत ईदा। वा उन्होंने
प्राचीन दिला नमहे। पहुँचे एव भाष्य में विसानित एव द्वाभग
१,००० रुप्ते वा पह शुद्ध प्राचीनतार दिला।

प्रकाशित करने के सम्बन्ध में एक आग्रहपूर्ण पत्र मिला, किन्तु मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ को विदेश में प्रकाशित नहीं करवाया।

ऋग्वेद पर लिखी नयी सायणाचार्य की टीका के अध्ययन और उसको सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए मैक्समूलर ने साढ़े चार वर्ष लगातार घोर परिक्षम किया। प्रो० विज्ञन, प्रो० धर्मक और विद्वान् वैरन धान-थ-सेन ने छपने से पूर्व ही मैक्समूलर द्वारा सम्पादित इस टीका की बहुत प्रशंसा की और कम्पनी को आश्वासन दिलाया कि ऋग्वेद का पहला संस्करण बहुत जरद समाप्त हो जायगा।

इंग्लैण्ड में रहते हुए अभी मैक्समूलर को लगभग एक ही वर्ष हुआ था, फिर भी अंग्रेजी का उन्होंने पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर लिया था। सन् १८४७ में आक्सफोर्ड की विदिशा एसोसियेशन में उन्होंने एक निबन्ध 'भारत की सबसे प्राचीन भाषा' को सभा में पढ़कर जनता को आश्र्यकित कर दिया था।

अपनी पुस्तक की छपाई-सफाई आदि की समुचित व्यवस्था के लिए मैक्समूलर ने लन्दन में रह कर आक्सफोर्ड में ही रहने का निश्चय किया और परिणामस्वरूप मई १८५३ में कुछ दिनों के लिए आक्सफोर्ड आकर प्रेस के समीप ही दो छोटे-छोटे कमरों में रहने लगे। यहाँ के स्वस्थ एवं अध्ययनोचित प्राकृतिक वातावरण ने मैक्समूलर को इतना भोग लिया था कि अपनी मृत्युपर्यन्त लगभग ५० वर्ष तक वे यहाँ रहे। यहाँ रहने का एक दूसरा प्रबल कारण यह भी था कि विश्वविद्यालय शिक्षा-संस्थान होने के कारण वहाँ बड़े-बड़े विद्वानों का सहयोग प्राप्त होता रहता था।

मैक्समूलर के बेदों का अध्ययन इतना परिपुष्ट हो चुका था कि प्रथम खण्ड की भूमिका में उन्होंने लगभग २०२ पृष्ठ लिख डाले। यह लेखन-कार्य इतना बढ़ गया कि भोजन के समय को छोड़कर अविश्वान्त महापरिष्ठत मैक्समूलर

लिखने के कारण उनका स्वास्थ्य गिर गया और डाक्टरों तथा मित्रों के आग्रह करने पर कुछ समय के लिए जलवायु-परिवर्तन के लिए उन्हें कम्परलैण्ड जाना पड़ा। किन्तु स्वस्थ होते ही वेदों का पुराना प्रेम उन्हें आवश्यकोद्देश बापस खींच लाया।

सन् १८५० में एकाएक पुनः उनकी शारीरिक एवं मानसिक अवस्था बहुत स्वराघ हो गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि अर्धभाव के कठिन दिनों में भी पैसा बचाकर बड़े उत्साह के साथ उन्होंने भारत से ऋग्वेद की जिस टीका को मँगाया था, रास्ते में जहाज के नष्ट होने के कारण वह उन्हें न मिल सकी। इससे उनके दिल को घड़ा आघात पहुँचा। उनके मानसिक विनोद के लिए अनेक विद्वान् मित्रों के प्रयत्न-स्वरूप सन् १८५१ में उन्हें विश्वविद्यालय में 'आधुनिक साहित्य तथा भाषा' पर व्याख्यान देने का भार सौंपा गया। अनिच्छा होने पर भी मित्रों के इस आग्रह को वे टाल न सके। यहाँ से उन्होंने हृधर-उधर, पत्रों में भी लिखना प्रारम्भ किया, जिससे उनकी आय में बढ़ी बृद्धि हुई। पुनः उन्होंने अपने अधूरे कार्य को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की।

सन् १८५४ में मैक्समूलर ने ऋग्वेद का द्वितीय खण्ड भी पूर्ण किया और उसी परिश्रम से १८५६ ई० में तीसरा खण्ड भी। इन तीन भागों को प्रकाशित करने के उपरान्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ग्रन्थ को छापने में अंसमर्थता प्रकट की, जिसके कारण मैक्समूलर को बहुत आघात पहुँचा। 'उन्हें अपने हस कार्य के पूर्ण होने में बड़ी कठिनाई दिखाई' दी। 'प्रो० विल्सन ने हस निराशापूर्ण समय में मैक्समूलर की बहुत सहायता की। उन्होंने घोर्ड ऑफ़ डाइरेक्टर्स से 'हस कार्य के लिए कोष एकत्र करने का आग्रह किया। फलतः कोष के एकत्र हो जाने पर चतुर्थ भाग भी तैयार हुआ, जिसको कि महारानी विक्टोरिया को समर्पित किया गया। महारानी ने जब मैक्समूलर की

विद्वत्ता की प्रशंसा सुनी तो उन्हें अपने पास सादर आमन्त्रित किया और समय-समय पर उनके विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों को सुना ।

इसके अतिरिक्त मैक्समूलर ने इसी बीच एक दूसरा महत्वपूर्ण कार्य भी किया । उन्होंने सन् १८५९ में 'संस्कृत साहित्य का प्राचीन हतिहास' लिखकर वैदिक साहित्य के प्रति विद्वानों को रुचि को जागृत किया । इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही मैक्समूलर की विद्वत्ता की धाक घारों ओर जम गयी । प्रो० विल्सन ने इस ग्रन्थ की समालोधना करते हुए स्पष्ट लिखा कि मैक्समूलर का यह कार्य पूर्वी देशों के लिये एक महान् आदर्श की प्रतिष्ठा करता है और उनकी कीर्ति एवं कर्मनिष्ठा को प्रकट करता है ।

दस वर्ष बाद ऋग्वेद का पाँचवाँ खण्ड भी प्रकाशित हो गया और दो वर्ष बाद अन्तिम भाग भी तैयार हो गया । अपने इस गुरुत्तर कार्य को समाप्त करके अन्तिम खण्ड की भूमिका में मैक्समूलर ने लिखा : 'ऋग्वेद पर किये गये साथणाचार्य के भाष्य की अन्तिम पंक्ति का अनुवाद करते हुए मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि अथक परिश्रम से शिथिल मेरी यह लेखनी अब निश्चिन्त होकर विश्राम कर सकेगी । ६० वर्ष बाद की अपनी इस पुरानी सहचरी से पृथक् होते हुए मुझे एक ओर तो दुःख हो रहा है और दूसरी ओर मेरा हृदय बहुत आनन्दित है । मैं उस परम पिता को धन्यवाद देता हूँ कि जिसकी कृपा से मेरे जीवन का यह महान् उद्देश्य पूर्ण हुआ और वही विपत्ति के दिनों में भी जिसकी दया मुझे प्राप्त होती रही ।'

भारत का दर्शन करने की मैक्समूलर को वही उत्कण्ठा थी । बार-बार अपने मित्रों के सामने वे इस उत्कण्ठा को प्रकट करते थे । किन्तु कार्य-ध्युस्त रहने के कारण उनकी यह इच्छा बार-बार टलती रायी महापरिणित मैक्समूलर

और अन्त तक पूरी न हो सकी। इसका उन्हें अधिक दुःख रहा। अपने एक मित्र को लिखा हुआ उनका यह पत्र भारत-भूमि के दर्शन की उत्सुकता को प्रकट करता है : ‘भारत-भूमि का मोह मुझे अपनी ओर आकर्षित कर रहा है और मेरी अन्तरामा वहाँ जाने के लिए तरस रही है। मेरे जीवन का यह पवित्र ध्येय कभी सफल भी हो सकेगा, जिस्य मैं इस विचार में छुला जा रहा हूँ। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि महाराजा दण्डीपसिंह के साथ मैं भारत अवश्य जाऊँगा। मुझे आशा है कि मेरी इस विनय को वे अस्तीकार न करेंगे। वहाँ मैं लगभग दस वर्ष रह कर भारतीय भाषाओं को समझने में अपना शेष जीवन सार्थक कर सकूँगा। वहाँ के पण्डितों और महात्माओं की पवित्र माणियाँ सुनने के लिए मेरा मन वहाँ जाने के लिए मुझे विवश कर रहा है।’

और साथ ही भारतवासियों की भी यह परम उत्कण्ठा पूर्ण न हो सकी कि भारत-भूमि से हजारों मोल की दूरी पर बैठकर भारतीय साहित्य की इतनी सेवा करनेवाले ऐसे प्रतिभाशाली महापुरुष के दर्शनों से वे अनुगृहीत हो सकें।

जीवन के अपने अन्तिम दिनों में मैक्समूलर की एक विलङ्घण मनःस्थिति हो गयी थी। वे सांसारिक कार्य-कलापों के प्रति एकदम निर्भीड़ी हो गये थे। आत्मा की अनन्त शान्ति के लिए उनकी उत्कण्ठा ग्रवलतर होती जा रही थी। इसी बीच सन् १८९९ में उनकी वर्षगांठ जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों में घड़े उत्साह के साथ मनायी गयी। उनका पुस्तकालय, जिसको उन्होंने ग्राणों से अधिक सहेज कर रखा था, सुसज्जित किया गया। ‘ऋग्वेद भाष्य’, ‘दि हिस्ट्री ऑफ पुन्सेंट संस्कृत लिटरेचर’ ‘वैदान्त फिलोसोफी’ और ‘दि सेक्रेट बुक्स ऑफ दि ईस्ट’ आदि पुस्तकों के नाम स्वर्णाञ्जरों में लिखकर सजाये गये।

जुलाई १९०० में मैक्समूलर रोगप्रस्त हुए और रविवार १८ अक्टूबर १९०० के दिन उनकी आत्मा ने चिरशान्ति प्राप्त की ।

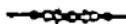
यद्यपि महापण्डित'मैक्समूलर को दिवक्षत हुए आज आधी शताब्दी से अधिक समय हो रहा है; किन्तु भारतीय ज्ञान के संबंध में विश्व-साहित्य के लिए वे जो देन छोड़ गये वह अमर है । भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में, विशेषरूप से वैदिक वाङ्याय का युग-विभाजन करने की इटि से, मैक्समूलर ने जो अभिमत प्रकट किया है, उस पर कुछ लोगों ने बड़ी आपत्ति प्रकट की, तथा मैक्समूलर को भारतीय साहित्य का द्वोही पुंच तत्संबंधी ज्ञान से सर्वथा शून्य घताया; किन्तु उन लोगों का यह दोषारोपण मैक्समूलर के महान् कार्यों पर किसी भी प्रकार की आँच पहुँचाने के बजाय उन्हीं लोगों की छोटाई तथा संकीर्ण विचारधारा को प्रकट करता है ।

यह सत्य है कि मैक्समूलर की कुछ स्थापनाएँ घड़ी आमक हैं; किन्तु उन स्थापनाओं के पीछे मैक्समूलर की यह भावना रही हो कि वैसा करने से भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध किया जा सकेगा या भारतवासियों को अपमानित किया जा सकेगा, ऐसा समझना मैक्स-मूलर के कार्यों के प्रति अपनी निरांत अज्ञता प्रकट करना है । इतिहास की मान्यतायें, समय के साथ, बदलती ही रहती हैं । फिर मैक्समूलर को दोषी क्यों समझा जाय; जब कि मैक्समूलर उन प्रथम विद्वानों में से थे, जिन्होंने सबसे पहिले तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और नृत्यशास्त्र के आधार पर भारतीय साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन का सूत्रपात किया था ।

और फिर जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन भारतीय साहित्य के अध्ययन-अनुशोलन में ही विता दिया था, उसके प्रति इतना नीचे उत्तर कर सोचना बुद्धिमानी नहीं है ।

मैक्समूलर की कृतियों की नामावली हस प्रकार है :

१. ऋग्वेद का संपादन
२. ए हिस्ट्री आफ दि यंश्येट संस्कृत लिटरेचर
३. लेक्चर्स् ऑफ दि साइंस ऑफ लैंग्वेज (दो भाग)
४. ऑन स्ट्रेटीफिकेशन ऑफ लैंग्वेज
५. वायोग्राफीज आफ वंडर्स ऐंड दि टीम आफ आर्याज
६. हंट्रोडक्षन डु दि साइंस ऑफ रेलिजन
७. लेक्चर्स् ऑन ओरीजन ऐण्ड ओथ आफ रेलिजन ऐन इलस्ट्रेटेड
वाई दि रेलिजन्स आफ हूँडिया
८. नेत्रुरल रेलिजन
९. फ़िजिकल रेलिजन
१०. ऐथोपोलिज्कल रेलिजन
११. थियोसाफी : आर साइकोलाजिकल रेलिजन
१२. कंट्रीव्यूशन डु दि साइंस आफ साइकोलोजी
१३. हिरोपदेश (जर्मन संस्करण)
१४. मेघदूत (जर्मन संस्करण)
१५. धर्मपद (अनुवाद)
१६. उपनिषद् (अनुवाद)
१७. दि सैक्रेट बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज (हस प्रन्थनाला के ५५
खंडों में अंत के तीन खंडों को छोड़कर शेष ४८ खंडों का संपादन
मैक्समूलर ने किया था) ।



फ्रेडरिक एकोट, लैलिंग, कांट और शिल्डर, वैदिक साहित्य के भर्मण महापण्डित मैनसमूलर और 'संस्कृत-जर्मन विश्वकोश' के यशस्वी रचनाकार रॉय प्रभृति भसामान्य प्रतिभासंपन्न भनस्थियों की जन्मदात्री जर्मन-भूमि ही है।

इसी विद्या-प्रसविनी जर्मनभूमि में १९ जुलाई, १८३७ई० को ढा० जे० जी० वूलर का जन्म हुआ। इनके पिता इनोवर राज्य के अन्तर्गत एक वोरटेल गाँव के रहने वाले सामान्य पादरी थे। उसी गाँव में वूलर ने जन्म लिया। वालक वूलर का होनहार भविष्य उनके आरम्भिक जीवन से ही व्यक्त होने लगा था। वे एक सुशील, कर्मठ और अध्ययनशील प्रकृति के थे। एक पादरी पिता की संतुति होने के कारण वूलर के कोमल वाट-मस्तिष्क में धार्मिक विचार जन्मतः ही अंकुरित होने लग गये थे।

वोरटेल गाँव की एक छोटी-सी पाड़शाला में वूलर की आरम्भिक शिक्षा हुई। तंदनन्तर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये उन्हें गार्टिजन विश्वविद्यालय में प्रविष्ट किया गया। विश्वविद्यालय के कोलाहलपूर्ण वातावरण में उनके पुकान्त विचारों में पहले-पहल तो कुछ व्यतिक्रम-सा हुआ; किन्तु शानैः-शानैः वे अपने अध्ययन में घ्यस्त रहने के कारण याहूरी व्यतिक्रमों पर विजय पाते गये। इस समय तक सम्पूर्ण योरप और पूर्वियाभर में भारतीय साहित्य का प्रचार-प्रसार हो चुका था। कदाचित् वूलर भी इस प्रभाव से अद्यूते न रह सके और विश्वविद्यालय के आरम्भिक जीवन में ही उन्हें भारतीय साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न होने लगा। वे नियमित रूप से संस्कृत भाषा की अनुदित पुस्तकों को पढ़ने लगे। वूलर की संस्कृत-ज्ञान-सम्बन्धी जिज्ञासा को थल देने वाले विद्वानों में वेनफे का नाम उल्लेखनीय है। वेनफे, गार्टिजन विश्वविद्यालय के प्राच्यापक थे।

विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त कर १८५८ ई० में बूलर ने डाक्ट्रेट प्राप्त की। अब उनके जीवन में केवल एक ही महत्वाकांक्षा थी कि किस प्रकार भारतीय ज्ञान से लाभान्वित हुआ जाये। आर्थिक और पारिवारिक कठिनाइयों के बावजूद भी बूलर ने अपनी लगन को न छोड़ा। संस्कृत-साहिर्य की ज्ञान-पिपासा के उपशमनार्थ बूलर गृहस्थागी बन गये। सर्वप्रथम उन्होंने भारतीय हस्तलिखित पोथियों का स्तोज-कार्य आरम्भ किया। तदर्थ वे पेरिस, आक्सफर्ड और लन्दन स्थित इण्डिया आफिस के विशाल ग्रन्थालयों में रखी हुई भारतीय पोथियों को देखने के लिये चहाँ गये। संयोगवश उस समय मैक्समूलर भी लन्दन में थे। बूलर के लिये मैक्समूलर का समागम किसी भी बृहत् पुस्तकालय के लाभ से कम न था। वे तरकाल ही मैक्समूलर से मिले और अपने उद्देश्य को उनके सम्मुख रखा। इस कार्य में मैक्समूलर ने उनकी भरसक सहायता की।

लन्दन में रहते हुई बूलर का व्यक्तित्व प्रकाश में आया और उन्हें वहीं विंडसर के राजकीय ग्रन्थालय में सह-पुस्तकालय का स्थान मिल गया। उगमग तीन वर्ष तक बूलर ने चहाँ रहकर अपने विद्याव्यासन को आगे बढ़ाया। अन्त में स्थागपत्र देकर वे गाटिंजन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सह-पुस्तकालय नियुक्त हुए।

बूलर का उद्देश्य नौकरी करना न था। पुस्तकालयों की नौकरी उन्होंने इसलिये स्वीकार की थी कि पुस्तकालयों से उन्हें स्वाभाविक अद्वा भी और घहाँ के चाताचरण में उन्हें एक प्रकार की आर्थिक शान्ति-सी प्राप्त होती थी। उनका वास्तविक उद्देश्य तो भारतीय ज्ञान-प्राप्ति का था। वे अप भारत आने के लिये उरसुक थे। भारतीय पण्डितों और साधु-सन्तों के सहवास में रहकर वे अपने संकल्पों को सार्थक करना चाहते थे। मैक्समूलर से उन्होंने अपनी इस उत्कट

अभिलापा को पत्र-ध्यवहार द्वारा प्रकट किया। उस समय हार्वर्ड महोदय वर्म्बर्झ शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष थे। पूर्वपरिचित होने के कारण मैक्समूलर ने हार्वर्ड महोदय को बूलर के सम्बन्ध में एक सिफारसी-पत्र भेजा और फल-स्वरूप इसकी स्वीकृति भी प्राप्त हो गई। वर्म्बर्झ आने पर बूलर ने पाया कि जिस स्थान के लिये उन्हें बुलाया गया था उस स्थान की उनके आने के पूर्व ही पूर्ति हो गई। इस असफलता का उन्हें हार्दिक ज्ञोम हुआ। मैक्समूलर को जब इस घात का पता लगा तो उन्होंने तत्काल अलेक्जेंडर महोदय को एक पत्र लिखा और परिणामस्वरूप बूलर को उन्होंने अपने कालेज में स्थान दे दिया। १८६३ हूँ० से लेकर १८८० तक बूलर ने वर्म्बर्झ शिक्षा-विभाग में कार्य किया।

विश्वविद्यालय का जीवन समाप्त करने के उपरान्त बूलर ने लेखक-जीवन में प्रवेश किया। 'ओरिएण्टल एंड ऑस्सीडेंट' नामक पत्रिका में उनके भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी और वैदिक गवेषणा-सम्बन्धी भारतीय लेख प्रकाशित हुये। भारतीय जीवन को अध्ययन करने की जो चिर उत्सुकता उनके अन्तःकरण में थी, वर्म्बर्झ आने पर वह पूर्ण हुई। भारतीय पण्डितों से उनका सहवास हुआ। संस्कृत के पण्डितों का जैसा सम्मान होना चाहिये था, शासन की ओर से उनके लिये वैसी व्यवस्था न थी। बूलर को यह घात अहंचिकर प्रतीत हुई। उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण रिपोर्ट द्वारा सरकार का ध्यान इस उदासीनता के प्रसि उत्सुक किया। उन्होंने 'वर्म्बर्झ संस्कृत-सीरीज' से संस्कृत पण्डितों के हितार्थ एक ग्रन्थावली का प्रकाशन किया। पंचतन्त्र, दशकुमारचरित और विक्रमांकदेवचरित का सम्पादन कर उन्होंने उनको इसी सीरीज में प्रकाशित किया।

बाल्यावस्था के धार्मिक संस्कार बूलर में अभी भी बने हुये थे।

भारतीय सृष्टिग्रन्थों के धर्मशास्त्र में उनको घण्टा आनन्द भाता था। १८६७ई० में सर रेमांड थेस्ट के सहयोग से उन्होंने 'डाइजेस्ट ऑफ हिन्दू-ला' लिखा। इसी प्रकार १८७१ई० में उन्होंने 'आपस्तंयसूत्र' का सम्पादन कर उसका प्रकाशन करवाया।

बूलर ने अपने जीवन में सब से महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य हस्तलिखित ग्रन्थों के सम्बन्ध में किया है। इस्तलिखित पोथियों का यह खोज-कार्य उनके जीवन-द्वितीयास का सर्वश्रेष्ठ कार्य है। १८६६ई० में धर्मद्वारा शासन की ओर से पहले-पहल जय वे इस खोज-कार्य के लिये नियुक्त हुये, उससे भी पूर्व वे स्वतन्त्ररूप से लगभग २०० से अधिक पोथियाँ एकत्र कर चुके थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने शिलालेखों, तात्रपत्रों, प्रशस्तियों और लिपिविकास-सम्बन्धी विपर्यों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है।

सन् १८६८ में संस्कृतपोथियों की खोज के लिये शासन की ओर से वंगाल, वर्मद्वारा और मद्रास में संस्थान खोले गये। ढाँ कीलहार्न, बूलर, पीटर्सन, भाण्डारकर और घनेंड प्रमृति विद्वानों ने इस उत्तर में महत्वपूर्ण कार्य किये। बूलर धर्मद्वारा-शासा के अध्यक्ष नियुक्त हुये। एतद्विषयक अपनी महत्वपूर्ण खोज-रिपोर्ट द्वारा बूलर ने देश के विद्वानों और साहित्यानुरागियों का ध्यान इस दिशा में आकर्षित किया। बूलर ने इस नाशोन्मुख मूल्यवान् सरपति का घड़े मनोयोग से उद्धार किया। लगभग २३०० पोथियों को ढाँ बूलर ने खोज निकाला। इनमें से कुछ पोथियों को एलिफिंस्टन कालेज के पुस्तकालय में रखा गया, कुछ को यर्लिंग विश्वविद्यालय भेजा गया और शेष को इण्डिया ऑफिस, लन्दन में रखा गया। लगभग ५०० जैन ग्रन्थों के आधार पर बूलर ने १८८७ई० में जैनधर्मसम्बन्धी एक ग्रन्थ जर्मन भाषा में लिखा, जिसकी बहुत ख्याति हुई।

छगभग सग्रह-अठारह वर्ष तक निरन्तर कार्य-व्यस्त रहने के कारण वूलर अस्वस्थ रहने लगे। अनुफूल जल-यायु-सेवन के लिये उन्हें भारत से वायना को वापस बुलाया गया। कुछ स्वास्थ्यलाभ के अनन्तर उन्हें वायना विश्वविद्यालय में भारतीय साहित्य और भारतीय तत्त्वज्ञान का अध्यापन कार्य संपादित किया। १८८६ ई० में वूलर ने वहाँ पुक 'ओरिएंटल हस्टिल्ट' की स्थापना की और वहाँ से 'ओरिएंटल जर्नल' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। छगभग ३० विभिन्न विद्वानों के सहयोग से वूलर ने 'पैन्साइक्लोपीडिया आफ इंडो-आर्यन रिसर्च' के नाम से पुक विशालकाय ग्रन्थ का प्रकाशन-कार्य आरम्भ किया, जिसके किंवेळ नौ भाग ही प्रकाश में आ सके।

विद्वद्वर्य वूलर की मौलिक प्रतिभा ने उनके व्यक्तित्व को विश्व-विश्वित कर दिया था। संसार के जितने भी श्यातिमान् विद्वान् थे उनमें वूलर की गणना होने लगी थी। भारत ने उन्हें १८७८ ई० में सी० भाई० ई० की पदवी से सम्मानित किया; जर्मन सरकार के वे प्रदिव्यन भार्दर के नायिट नियुक्त हुये और पृष्ठिनवरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्ट्रे फी पदवी से विभूषित किया।

५ अप्रैल १८९८ ई० को वूलर ने इस्टर का उत्सव मनाने के लिये वायना से ज्यूरिच के लिये प्रस्थान किया। साथ में उनका पुत्र और पती भी थे। संयोगवश यीघ हो में उनकी कैस्टेंस झील में नौका-विहार की हच्छा हुई और वे रास्ते में ही रुक गये। प्रकृति का अनुफूल चातावरण देखकर ८ अप्रैल को वूलर नौका-विहार छरते हुये झील का सुखद ज्ञानन्द ले ही रहे थे कि दैवयोग से जल-समाधिस्थ हो गये। इस प्रकार ६१ वर्ष की अवधायु में ही वूलर ने चिर-शांति प्राप्त की।



वेवर : मेकडोनेल : कीथ

भारतीय विद्या की पुकान्त मन, वचन, तथा कर्म से सेवा करने वाले विदेशी पठिटतों में वेवर, मेकडोनेल और कीथ का नाम अमरणी है। इन तीनों विद्वानों का एक साथ परिचय प्राप्त करने का आधार उनके कार्यों की समानता है। मैक्समूलर के बाद भारतीय साहित्य का ऐतिहासिक इष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करने और भारतीय साहित्यकारों के कार्यों पर गवेषणात्मक एवं उल्लगात्मक प्रकाश ढालने का सुख कार्य हन्हीं तीनों इतिहासकारों ने किया है। ऐतिहासिक इष्टि से संस्कृत-साहित्य का विश्लेषण करने का जो कार्य अब तक हुआ है, उसकी प्रेरणा का मूल उद्गम हन्हीं तीनों विद्वानों के ग्रन्थ हैं। इतिहास

लिखने के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के विभिन्न विषयों पर भी हन्होंने ग्रन्थ लिखे। उनका संक्षिप्त परिचय अलग-अलग दिया जाता है।

वेवर

प्रार्थ-विद्या-विशारदों में जर्मन विद्वान् वेवर का नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है। हन महापण्डित का जन्म १८२५ई० में हुआ था। हन्होंने भी अपना पूरा जीवन संस्कृत भाषा के अध्ययन-अनुशोलन में विताया। अपने विद्यार्थी-जीवन से ही वेवर वडे अध्ययनशील थे। अवस्था के साथ-साथ ही हनकी ज्ञान-रूपा वक्तव्यी होती गई और मन-वचन में एकनिष्ठ होकर अपने जीवन का एकमात्र व्येय हन्होंने भारतीय साहित्य की सेवा के लिए निश्चित-सा कर दिया।

उसका परिणाम अच्छा ही हुआ। शृंगवेद के स्त्री में जैसे मैक्समूलर की अद्वितीय देन कही जाती है वही कार्य वेवर ने शुक्ल यजुर्वेद के स्त्री में किया।

वेवर वडे खोली स्वभाव के विद्वान् थे। वर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों का बृहद् सूचीपत्र प्रस्तुत कर हन्होंने इस दिशा में अपनी प्रतिभा का मौलिक परिचय दिया। शोधकार्य की दृष्टि से वेवर द्वारा सम्पादित ये सूचीपत्र वडे ही महाव के हैं। डा० चूलर ने जिन ५०० जैन-पोथियों को भारत से वर्लिन पुस्तकालय के लिए भेजा था उनका अनुशोलन कर वेवर ने जैन-साहित्य पर गवेषणात्मक प्रकाश ढाला।

अनेक घर्यों के घोरं परिश्रम के बाद १८८२ई० में वेवर ने भारतीय-साहित्य पर सर्वप्रथम विद्वेचनात्मक हृतिहास लिखा। साहित्य निर्माण की दृष्टि से हनका सबसे बृहद् कार्य है : Indischen Studien का प्रणयन। यह ग्रन्थ संघ्रह जिल्दों में पूरा हुआ है, और हसको

लिखने में वेदर को पूरे ३५ वर्ष लगे। सन् १८५० में उन्होंने इसको आरम्भ किया था और १८८५ में समाप्त किया।

इन मनीषी के उक्त कार्यों से प्रभावित होकर यूरोप और अमेरिका के अनेक ग्रान्थालयोंमें इनके शिष्य थे। विद्वासमाज में इनके कार्यों का अपूर्व स्वागत हुआ और इस प्रकार भारतीय ज्ञान की सुन्दर ज्योति इन्होंने यूरोप तथा अमेरिका की धरती पर फैलाई। वैदिक साहित्य पर लिखे गये इनके ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है :

१. शतपथ वास्तव का साथण, हरिस्वामी और गङ्गाचार्य की टीकाओं सहित सम्पादन, १८२४
२. यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता का सम्पादन, १८४७
३. शुक्र यजुर्वेद की काण्वसंहिता का प्रकाशन, १८५२
४. कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रकाशन, १८५९
५. हिस्ती आफ़ दिं इण्डियन लिटरेचर, १८८२
६. इण्डिस्केन स्टडियन, १८५०-१८८५

मेकडोनेल

दूसरे संस्कृतप्रेमी विद्वान् ढाठ आर्थर ऐंथनी मेकडोनेल का जन्म ११ मई, १८५४ ई० को मुंजफरपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम अलेक्जण्डर मेकडोनेल था, जो कि भारतीय सेना में एक उच्चपदस्थ अधिकारी थे। इनकी शिद्धा-दीद्धा गोटिङ्गन (जर्मनी) तथा आक्सफर्ड में सम्पन्न हुई। मेकडोनेल ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जर्मन, संस्कृत और जीनी भाषाओं के विशेष अध्ययन पर अच्छा प्रकाश ढाला है। उनके संस्कृत के गुरु विश्वात वैयाकरण मोनियर विलियम्स और भाषा-शास्त्री बेनफी, रॉट तथा मैक्समूलर थे।

मेक्सिनेल का सरदनव यद्यपि जन्म धारण करने मात्र का ही भारत से रहा; उनकी शिक्षा-दीक्षा विदेशों में ही हुई; फिर भी भारतीय साहित्य के प्रति और विशेषतया आधुनिक भारतीय पण्डितों के प्रति उनके हृदय में गहरा अनुराग था। १९०७ है० में लगभग छह-सात मास के लिए वे भारत भी आये थे। अपने इस यात्राकाल में उन्होंने भारतीय इतिहासित पोथियों पर अनुसंधान किया और कुछ तुलंग कृतियों को साथ भी लेते गये।

एम० प० करने के बाद लिपजिक विश्वविद्यालय से ऋग्वेद पर काल्यायन कृत सर्वानुक्रमणी का पाठशोध और उस पर थीसिस लिखने के उपलब्ध में उन्होंने बी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। उसके बाद वे आकसफर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। वैदिक-साहित्य पर उनके द्वारा किए गए कार्यों का विवरण इस प्रकार है :

१. ऋग्वेद सर्वानुक्रमणिका का 'वेदार्थदीपिका' सहित संपादन; १८९६
२. वैदिक रीढ़र; १८९७
३. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर; १९००
४. सटिप्पणी वृहदेवता का संपादन; १९०४
५. वैदिक ग्रामर; १९१०
६. वैदिक इंडैक्स (कीथ के सहयोग से)

कीथ

तीसरे संस्कृतप्रेमी विद्वान् आर्य० वेरिसोल कीथ का जन्म थ्रिटेन के डेनावार नामक प्रदेश में १८७९ है० में हुआ। एडिनबरा और आकसफर्ड में उनकी शिक्षा संपन्न हुई। एडिनबरा विश्वविद्यालय में ही भाषाविज्ञान और संस्कृत के अध्यापन के लिए वे प्राध्यापक नियुक्त हुए, जिस पद पर वे लगभग तीस वर्ष तक बने रहे।

कीथ घडे अध्ययनशील घ्यकि थे और हसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने संस्कृत-साहित्य के द्वेष में मौलिक कार्य किए। संस्कृत-साहित्य पर लिखा गया कीथ का इतिहास अपनी दिशा का सर्वोच्च और प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। वैदिक साहित्य एवं संस्कृत-साहित्य पर लिखे गए उनके ग्रंथों की तालिका इस प्रकार है:

१. ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकी आह्वाण का दस जिल्द में अंग्रेजी अनुवाद; १९२०
 २. शाखायन आरण्यक का अंग्रेजी अनुवाद; १९२२
 ३. कृष्ण यजुर्वेद का दो भागों में अंग्रेजी अनुवाद; १९२४
 ४. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर; १९२८
 ५. वैदिक छाँड़ैक्स (मेकडोनेल के सहयोग से)
 ६. रेलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद ऐण्ड उपनिषद्स
 ७. बुद्धिस्ट फिलासफी इन ह्यपिड्या ऐण्ड सीलोन
 ८. संस्कृत द्वामा
- कीथ १९४४ हॉम में दिवंगत हुए।



भारतीय चित्रकला की व्याप्ति

भारतीय चित्रकला का विषय वहिंगत् का व्यापार होता हुआ भी अन्तर्जंगत् की साधना है। वह लौकिक है किन्तु उसमें पारलौकिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसमें स्थायी आनन्द एवं अमृण्ण साँदर्य है। अरूप का उपासक चित्रकार रूप की उपासना में जब रस-विभोर हो जाता है तब उसके लिये असुन्दर कुछ संसार में रह ही नहीं जाता। इस साधना में वह दृतना निमग्न हो जाता है कि यिच्छृ जैसे दंषक कीट में भी भगवान् शक्ति के कुण्डल होने की कल्पना करता है। अशु तथा प्रस्वेद जैसे देह-विकारों को भी मुक्ताधिन्दु कह यैठता है। इतना ही नहीं, भादों की भयानक रात्रि भी उसकी आँखों में निशा-

सुन्दरी का रूप धारण करती है। इसीलिये तो कहा है कि उसके लिये असुन्दर कुछ रह ही नहीं जाता। ज्यापक विश्व के अणु-अणु में यही सौन्दर्य की भावना उसकी उपासना की रसभय चरमाभिष्कृति है। यही रस काव्यों में आनन्दस्वरूप कहा गया है और आनन्द ही विश्वामी का स्थायी विद्वेषण है। चित्रकार का ऐसी परमानन्द की उपलब्धि है, उसकी साधना की कैवल्यप्राप्ति है।

भारत में चित्रकला का जन्म क्य और कैसे हुआ, यह प्रश्न घड़े विवाद का है। किन्तु प्रार्थितिहासिक मानव ने किस प्रकार अपना क्रमशः आर्थिक विकास किया, यह रहस्य पुरातत्ववेत्ताओं से अविदित नहीं। उस काल की सभ्यता का वास्तविक और अविकल रूप हमें तत्सामयिक रेखायद कलाकृतियों से ही प्राप्त होता है। मिट्टी, काष्ठ, धातु तथा शिलाखण्डों पर किये गये प्रकीर्ण मानव की आदिकाल से ही चली आती इस प्रवृत्ति के थोतक हैं। आज की भाँति आदिमानव भी सौन्दर्य का उपासक रहा होगा। सौन्दर्य-दर्शन की इसी सुभाषुर भावना ने उसके अमूर्त भावों को मूर्त लिपि में चित्रित करने को उसे बाध्य किया होगा। किस प्रकार उसने अपने हार-जीतों के संहरण इतिहास की रेखाओं के रूप में लिपियद्वं किये, इसका प्रमाण हमें मोहनजोदहो तथा हड्पा की खुदाहयों से मिलता है। प्राचीन काल में पथर, काष्ठ, धातु आदि पर जीव-जन्मुओं की जो आकृतियाँ थीं उनसे प्रतीत होता है कि अमूर्त भावों को रेखाओं द्वारा एक-दूसरे पर व्यक्त करने का वह एक तरीका था। प्राचीन काल में भी चित्रकला के प्रति कितनी आस्था रही है, इतिहासवेत्ताओं ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह बात स्पष्ट कर दी है।

प्राचीन साहित्य में

हिन्दू संस्कृति के आदि स्रोत वेदों में चित्रकला का उल्केख है।

ऋग्वेद में कुछ ऋचाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें अग्निदेव के चित्रों के चमड़े पर अंकित होने का उल्लेख है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कलाओं में चित्रकला को सर्वथ्रेषु कला कहा गया है—कलानां प्रवरं चित्रम्। वास्त्यायन-कामसूत्र में रूपभेद, प्रमाण, साव, लावण्ययोजना, सादृश्य और वर्णिका भंग से चित्रकला को पदंगों में विभाजित किया गया है। इस ग्रंथ में चित्रकला के उक्त पदंगों पर सारगर्भित टिप्पणियां मिलती हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर वर्णित ये मार्मिक उल्लेख उस युग की साधना के प्रमाण हैं। यही रूप हमें ज्योतिषशास्त्र की ग्रह-कुण्डलियों और सान्त्रिक देवों की जाहृतियों में मिलता है। श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत से लेकर जयदेवकृत गीतगोषिन्द्र तक चित्रकला का स्वरूप यन्त्र-तत्र अल्साया हुआ है। महाभारत में वर्णित एक उपाख्यान के आधार पर महाराजा युधिष्ठिर के राजप्रासाद का निर्माण करने में भय नामक शिल्पी ने अपनी चित्रपटुवा से हुर्योधन जैसे हुद्विमान को भी संब्रित कर दिया था। उपा और चित्रलेखा के उपाख्यान चित्रकला के महत्व को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

ऋतुसंहार, मेघदूत और अभिज्ञानशाकुन्तल में चित्रकला की सबल चर्चा है। मेघदूत में यशिणी और अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला द्वारा उसके प्रेमियों, यज्ञ और दुर्यन्त की आकृति रेखाचित्रों में बनाने का उल्लेख है। एक बार अपने ही हाथों बनाया हुआ शकुन्तला का चित्र देखकर महाराजा दुर्यन्त स्वयं ही मोहित हो गये थे। कविवर चाणभट्ट के वृहत् ग्रन्थकाव्य कादम्बरी में तथा हर्षचरित में, जिनकी रचना हर्षवर्द्धन (ई० ६०६-६४७) के समय में हुई, चित्रकला का यन्त्र-तत्र उल्लेख है। कादम्बरी का तो सारा कलेवर ही जैसे चित्रकला की प्रदर्शिनी बन गया है। चाण्डालकन्या में नीलम की कहपना और

महार्षेता को घांटनी का घोल बताना कितनी सूचम और पारदर्शी दृष्टि का परिचायक है। नाटक सम्राट् भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रथमीक में चित्रावलियों के दृश्यों से ही नाटक का उद्घाटन किया है। माता सीता के प्रोत्साहन से भगवान् रामचन्द्र ने अपने बनवासी जीवन को एक कुशल चित्रकार द्वारा चित्रवद्ध करवाया था। चित्रों में हृतनी सजीवता थी कि एक बार लचमण ने जय सीता के विनोद के लिये उन चित्रों को दिखाया तो पंचवटी में रामविलाप का दृश्य देखकर सीता मूर्छित हो गयी थी। यह सब उस काल के कुशल चित्रकारों की चतुर तूलिका का ही परिणाम था। आधार्य भरत मुनि अपने नाथ्य-शास्त्र में भारतीय चित्रकला के अनेक उपादानों की मीमांसा पहिले ही कर चुके थे।

गुप्त-काल में

गुप्तकाल (ई० ३२०-५२८) में चित्रकला का पर्याप्त उत्कर्ष दिखाई देता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० ३८२-४१५), जिनके समय में महाकवि कालिदास हुए थे, चित्रकला की कुछ उन्नति हुई। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य साम्राज्यप्रिय होते हुए भी कला का समादर करते थे। इन्हीं के पुत्र कुमारगुप्त (ई० ४१५-४५५) ने उस नालन्दा महाविहार की स्थापना की थी, जो एक दिन विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया था। अजन्ता, पेलोरा, घाघ और यहाँ तक कि मध्य एशिया में प्राप्त भित्तिचित्र गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

गुप्तकाल की चित्रकला के नमूने सोने के सिक्कों पर, मूर्तियों पर और देवताओं की कलापूर्ण आकृतियों पर भिलते हैं। इस काल के जैसे सिक्के फिर भारत में किसी भी युग में नहीं भिलते। जिस प्रकार यूनानी और पौरिपाई ही कला में स्थूल, शारीरिक और मांसल सौन्दर्य अपनी भारतीय चित्रकला की व्याप्ति

चरमावस्था को प्राप्त हुआ या उसी प्रकार गुप्त काल में अलंकरण-सज्जा, मुद्राओं का शास्त्रीय छङ्ग से चित्रण और आमा का आहादपूर्ण या शान्तिस्थ प्रकृति-शोक, हर्ष, अमर्त्य आदि की अभियक्ति में चित्र और शिल्पकला अत्यन्त परिपक्ष अवस्था को पहुँच द्युकी थी। गुप्त संग्रामों ने अनेक सुन्दर मन्दिर और मूर्तियाँ बनवाईं। स्तूपों, स्तम्भों एवं विशाल देव-मन्दिरों में तत्सामयिक चित्रकला के नमूने प्राप्त होते हैं। अजन्ता की उत्कृष्ट चित्रकारी इसी समय की देन है। महाकवि कालिदास के काव्यों में जिन मुद्राओं, भास्तुपर्णों तथा वस्त्रों का उल्लेख मिलता है वे गुप्तकालीन कलाकृतियों में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं।

अजन्ता के विहारों में

चित्रकला का वैभवकाल बौद्ध धाराओं एवं अजन्ता की चित्रकारी से आरम्भ होता है। इस काल के भारतीय चित्रकला-इतिहास में एक नवयुग, जिसे स्वर्णयुग भी कहा जा सकता है, आरम्भ होता है। अजन्ता की गुफाएँ हैदराबाद राज्य में हैं। इन धिहार-गुफाओं में मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला का एकान्त संयोग हुआ है। भक्ति, उपासना एवं प्रेम का जैसा समन्वय अजन्ता की चित्ररचना में हुआ वैसा विश्व में कहीं खोजने पर भी नहीं मिल सकता। इन उनतीस गुफाओं में भगवान् बुद्ध के जीवन-सिद्धान्तों की मीमांसा, उनके शान्ति और अहिंसा के उपदेश, इन विशालकाय प्रतिमाओं में सुखाकृति पूर्व अमर्त्य, भूमित्पर्ण तथा धर्मचक्र-प्रवर्तन सुद्राओं द्वारा जिस कुशलता से व्यक्त किये गये हैं वह विश्व के कला-इतिहास में बेजोड़ है।

शिल्प, स्थापत्य और चित्रकला का जैसा विशाल, सूक्ष्म एवं सुरुचि-पूर्ण सामजिक्य हमें अजन्ता के चित्रों में मिलता है वह विश्व के किसी भी देश में नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में यह जानकर हमें और भी

धर्मिक आश्रय होता है कि इस प्रकार के सुदार्भों के नमूने प्रकृति की नैसर्गिक सुन्दरता की क्रोड में ही पूर्ण होते हैं, चहल-पहल और नागरिक जीवन की कृत्रिम व्यस्तता के बीच में नहीं। अजन्ता की कला की यारीकी और रमणीयता की प्रशंसा अनेक चिदेशी विद्वानों ने की है और कहा है कि आज के कलाकार तो उसकी यथातथ्य प्रतिलिपि करने में भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकते।

अजन्ता चित्ररचना की यही परम्परा धाघ, वादामी, जोगीमारा तथा पेलोरा आदि गुफाओं की चित्ररचना में पाई जाती है। उक्त गुफाओं की कलाकृतियों में भारतीय कलाकारों के अमर आलेखन हैं।

सन् १७८४ में 'पश्याटिक सोसाहटी बंगाल' की स्थापना हुई। उसके प्रोत्साहन से भारत में भी पुरातत्व-सम्बन्धी अनुसंधान कार्य चली उगन के साथ होना आम हुआ है। सन् १८७३ में सर एलक्जेंडर कनिंघम ने हरप्पा में कुछ यर्तन, पालिश की हुई पर्थरों की उत्कीर्ण सुदार्भों के सम्बन्ध में कनिंघम महोदय का कहना या कि ये उत्कीर्ण ई. पू. चौथी शताब्दी में प्राप्त मालीलिपि से भी पुराने हैं। विटिश ग्रूजियम में इन सुदार्भों को महाशय फ्लीट आदि ने पढ़ने की चेष्टा की थी। सन् १९२१ में सर्वप्रथम दयाराम साहनी ने तीन टीलों से प्राप्त सामग्री के आधार पर सिद्ध किया है कि हरप्पा प्रारंतिहासिक स्थान है। इसी समय के उगभग राखालदास घनर्जी ने मोहनजोदारों की खुशी की और वहाँ से भी अनेक चित्रकला के नमूने प्राप्त किये तथा इस स्थान को भी हरप्पा की भाति प्राचीन घोषया। नृद्य करती हुई कांस्य की प्रतिमा, वृद्धेश्वर दुपट्टा और हुए नागरिक का बस्ट और कृषकों की सुदार्भों पर प्राणवान चित्रण इस सभ्यता के प्रसिद्ध नमूने हैं।

मध्य एशिया में

सन् १९०३ में उत्तर-पश्चिम सीमाग्रान्ति और बल्द्रचिस्तान में डा० स्टीन आंशिक समय के लिये पुरातत्व विभाग में नियुक्त किये गये। अभी तक अजन्ता और बाघ से प्राप्त चित्रों से ही प्राचीन भारतीय कला की चर्चा की जाती थी। किन्तु महाशाय स्टीन ने मध्य एशिया में सीरान, दन-दन, आहेलिक, निया स्थानों से चित्रों के नमूने प्राप्त किये। अफगानिस्तान में भी धारियां की गुफाओं से चौथी से छठी शताब्दी तक के चित्र प्राप्त हुए थे। इन कलाकृतियों में भारतीय, ईरानी और चीनी प्रभावों का अद्भुत भिन्नण है। धारियां के उत्तर-फोन्दूरिस्तान में बौद्ध मठों का पता लगा और इनमें भी गुप्त और पाल राजाओं के आदर्शों पर धने भित्तिचित्र मिले। स्टीन ने बढ़ी कुशलता से मध्य एशिया से प्राप्त भित्तियों को लगभग दो हूँच मोटे दीवाल के पलस्तरों के सहित उतार कर अल्मोनियम के फ्रेमों पर जमाया। ये चित्र ध्व दिही के 'सेंट्रल एशियन एन्टीक्यटीज ग्रूप्जियम' के तीन कमरों में सुरक्षित हैं। ये सब कलाकृतियां चौथी से दशर्वी शताब्दी तक के हैं। इस प्रकार का और इतना बड़ा भित्तिचित्र-संग्रह विश्व में और कहीं नहीं, और कला तथा कला-इतिहास के विद्यार्थियों के लिये इनका बहुत मारी महत्व है।

इसी प्रकार भारत के अन्यत्र भी मलाया, बाली, बोर्नियो, जावा आदि द्वीपों में प्राचीन भारतीय चित्रकला का स्वरूप मन्दिरों, मूर्तियों तथा प्राप्त भगवान्शों पर किये गये उत्कीर्णों के रूप में मिलता है। यर्मा, श्याम, कोरिया, चीन, जापान, हिन्दूचीन आदि देशों में भी बौद्धकालीन चित्रकला के प्राचीनतम नमूने पाये जाते हैं।

भारत में चन्द्रेरी (ग्वालियर) के भित्तिचित्र, अजन्ता आदि-

गुफाओं की चित्ररचना, मध्यपश्चिमा के भित्तिचित्र, अवनीन्द्रनाथ, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर की बंगला कलम की विशेषता, बी० ए० माली, रवि चर्मा, नन्दलाल घसु, भामिनीराय और रामगोपाल विजयवर्गीय की अपनी-अपनी प्रादेशिक कला-कारिता और १८ वीं शताब्दी के राजपूती चित्रकला के यशस्वी चित्रकारों में, मोलाराम, चैतू तथा माणकू क्या कभी भुलाये जाने योग्य हैं ?

इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि भारतीय चित्रकला का विश्व में प्राचीन काल से ही अपना प्रसुख स्थान रहा है और आज भी उसका अपना क्रमबद्ध इतिहास मिलता है ।

—००१००—

भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण

मानव-जीवन की ही भौति कला के जीवन का इतिहास भी बहुत विराट् एवं अतलदर्शी है। अनुष्ठृष्ट सुख-सुविधाओं को प्राप्त कर धरती के विभिन्न द्वेरों में जिस क्रम से मनुष्य ने अपने आवास की स्थितियों को कायम किया, उसी क्रम से कला के अस्तित्व का भी वीजारोपण हुआ। कला के इन आदिम प्रतिमानों के मूल में यद्यपि स्वरूप, शौली और भाव-विधानों की दृष्टि से कम तारतम्य था, तथापि उसका अंतराल एक जैसी अपार्थिव चेतना से पूरित था। वह चेतना थी धर्म की। आदिम मनुष्य ने पार्थिव पदार्थों को आध्यात्मिक रूप देने के लिए आकाश, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र, नदियाँ, पर्वत, सर्दी और गर्मी आदि के

रहस्यों को खाँकने का प्रयत्न किया। उसने उन सभी वस्तुओं में एक अदृश्य शक्ति की कल्पना की, जिन वस्तुओं की जानकारी उसको नहीं थी।

संसार की प्रायः समग्र आदिवासी जातियों की संस्कृतियों के मूल में इस धार्मिक भावना की अनुभूति एक जैसे रूप में दिखाई देती है। यूनान, चीन और भारत के आदिवासी लोगों को कला की प्रेरणा प्रकृति से मिली। वेदों के शृणियों ने प्रकृति के अनेकविघ रूपों की पूजा कर उन्हें देवत्व की संज्ञा प्रदान की। ये दैवी-शक्तियाँ ही बाद में स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, आरम्भ-परमारम्भ और व्रह्मा-विष्णु-महेश आदि नाम-रूपों से प्रचलित हुईं।

प्रारंतिहासिक युग के थोड़े-से जो मानव-ढाँचों, खोपद्वियों और शिलाखंडों के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उनके अध्ययन से प्राणि-जगत् का इतिहास छूतने पीछे चला जाता है कि, जिनको सुनकर या पढ़कर स्वभावतया मनुष्य की कला-अभिरुचि की अति प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। विध्य-पहाड़ियों की उपलब्ध मानव-अस्थियाँ, मध्य प्रदेश के सिंघनपुर और सरगुजा रियासत में स्थित जोगीमारा स्थानों से प्राप्त चित्रयुक्त प्राचीन महारथ की अनेक चट्ठानें, तमिलनाड, भांध, छोटा नागपुर, उद्दीपा, होशंगाबाद, पंजाब, उत्तर प्रदेश और नर्मदा-उपस्थिका आदि विभिन्न स्थानों से उपलब्ध वस्त्रों, पापाण चित्रों, मृत्तिका पात्रों, लाल-पीले रंग में पेंट किए हुए रंगते कीदों, पशुओं, पक्षियों, मनुष्यों और सूखरों आदि की आकृतियों का अध्ययन कर प्रारंतिहासिक भारत के कलाप्रेम का सहज ही में पता लग जाता है।

प्रारंतिहासिक कलावशेषों की गवेषणा करते हुए पुरातरवज्ज्ञ विद्वानों का अभिमत है कि भाज की ही भाँति आदिमानव भी सौंदर्य का भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण

उपासक था। सौंदर्य-दर्शन की इसी उरकट भावना ने ही उसके अमूर्त मार्गों को मूर्त रूप में चित्रित करने के लिए उसे बाध्य किया। किस प्रकार उसने अपने हार-जीतों के संस्मरण रेखाओं में चित्रित किए, इसके प्रभाण हमें मोहेनजोदरो और हरप्पा की सुदाहरणों से उपलब्ध सामग्री में देखने को मिलते हैं।

मानव-सभ्यता के उपःकाल में, जब कि भाषा और लिपि का आविर्भाव नहीं हुआ था, भावाभिक्ष्यज्ञन तथा विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान का माध्यम भी कला ही रही। उसी के विकास-चिह्न हमें रञ्जना या ग्रंथलिपि, रेखालिपि, भाव-प्रकाशनलिपि, ध्वनि-प्रकाशक चित्रलिपि और व्यंजनमूलक लिपि में देखने को मिलते हैं। चित्र-रचना (picture composition) द्वारा विचार-प्रकाशन की यह पद्धति इतनी विकसित हुई कि धरसी पर का संपूर्ण मानव-समाज उसके प्रभाव से अद्वृता न रह सका। ये चित्र शिलाओं, वृक्ष की छालों, जीव-जंतुओं के चमों, हड्डियों, सींगों और दाँतों आदि अनेक प्रकार की सामग्री पर चित्रित किए गए। इस प्रकार के अनेक चित्र कैलिफोर्निया की घाटियों, स्काटलैण्ड की शिलाओं, ओहियो रियासत की वृक्ष-छालों, लैपलैण्ड में छोलों और झौवर्न (फ्रांस) में सींगों पर उस्कीर्णित भाज भी उपलब्ध होते हैं। एक संपूर्ण घटनाचक्र को चित्रों में प्रकाशित करने की प्रथा अमेरिका के आदिवासियों में भी प्रचलित थी। पृथक्-पृथक् वस्तुओं के लिए भाव-बोधन के चित्र-संकेत (Ideograph) मैक्सिको तथा मिस्र के आदिवासियों में भी प्रचलित थे।

सिंघु-सभ्यता का युग

धर्मप्रवण भारत में आध्यात्मिक उपादानों को लेकर कला के विराट् स्वरूप का निर्माण हुआ। भारतीय कलाकार ने वाद्य-सौंदर्य के वशीभूत

होकर कला की उद्घावना नहीं की है; उसकी अंतःप्रेरणाओं और उसके भीतर प्रसुप्त दैवी विश्वासों ने ही उसके विचारों को रंग, रूप, वाणी और व्याप्ति प्रदान की है। भारतीय कलाकार आत्माभिव्यञ्जन और आत्मशलाधा से सदा ही दूर रहा है। उसका यह महान् स्थाग और उसकी यह महती अनासक्ति थी। उसने तत्कालीन लोकजीवन की महनीय मान्यताओं को अपनी कला-कृतियों में संजोकर कला के स्थेय को और भी ऊँचा बना दिया, जिसका दर्शन हमें महान् सिंधु-सभ्यता की दुर्लभ कला-कृतियों में देखने को मिलता है।

यथापि सिंधुघाटी की हन कला-कृतियों के द्वारा हरप्पा तथा मोहेन्जोदरो के नागरिकों, नगरों, शासकों, कवियों, कलाकारों, विद्वानों और कारीगरों के संवंध में कुछ भी पता नहीं चलता तथापि उनसे भारत की आज से लगभग साढ़े-पाँच-छह हजार वर्षों की प्राचीन सभ्यता का पता लगता है। ये अवशेष प्राचीन भारत के रहन-सहन, रीति-रिवाज, स्थान-पान और ज्ञान-विज्ञान के परिचायक हैं।

हरप्पा और मोहेनजोदरो के उपलब्ध वर्तनों, दफनाए गए शवों के साथ के पात्रों, मिट्टी के वर्तनों, पत्थरों, काँस्यमूर्तियों; मृणमयी मूर्तियों, मुद्राओं और टिकटों पर की गई चित्रकारी-भलङ्गरण आदि की सामग्री में प्राचीन भारत की कलाभिरुचि प्रचुरता से ज्यास है। प्रेमीजनों की हृदयाकर्पक भाव-भंगिमाएँ, नर्तकियों की प्रवीण मुद्राएँ, केश-शंगार, अंग-प्रत्यंगों का आकर्पक उभार, सभी में एक विचित्र भाव दिखाई देता है। वहाँ प्रकृति के रस-भाव-पेशाल विभिन्न रूपों में कला का अरमोकर्प समाया हुआ है। मातृदेवी की प्रतीकात्मक मूर्तियाँ, शिव, पशुपति और नन्दी घैल आदि की मूर्तियाँ देखने योग्य हैं। सिंधु-सभ्यता की हन उपलब्ध कला-कृतियों को देखकर प्रतीत होता है कि भारतीय चित्रकला को सर्वेक्षण

चहों का जन-जीवन कलानुरागी, कलाकार, विद्वान्, योद्धा और दार्शनिक आदि प्रवृत्तियों से युक्त था।

भारतीय राजकुलों में कला का संरक्षण

मौर्य-साम्राज्य का यशस्वी सन्नाट् अशोक, बौद्धधर्म का सबसे बड़ा आश्रयदाता था। उसके १३ वें अभिलेख से प्रतीत होता है कि कलिग-विजय की रक्तरंजित-क्षीढा ने उसकी राज्य-विजय-लिप्सा को धर्मविजय में परिवर्तित कर दिया था। तभी से वह 'सन्नाट्' से 'प्रियदर्शी' बना। उसने बौद्ध-संस्कृति, बौद्ध-साहित्य और बौद्ध-कला के प्रचारार्थ अपने राज्य में तथा विदेशों में अपने दूत भेजे। प्राचीन भारत के विभिन्न अंचलों में अशोक द्वारा निर्मित कराये गए स्तूपों एवं चैत्यों में कला का ऊर्जस्व रूप समाहित है।

सारनाथ में अशोकस्तम्भ का सिंह-मस्तक और विहार के रामपुरवा में अशोकस्तम्भ का सौँड-मस्तक मौर्ययुगोन कला की शक्ति, गति और गुरुता के प्रतीक हैं। मौर्ययुग में लोककला का भी विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप यज्ञ-यज्ञिणियाँ, देवी-देवता आदि लोक-विश्वास-सम्बन्धी मूर्तियों का भी निर्माण हुआ। इन मूर्तियों में सौन्दर्य, आनन्द, शक्ति, भावुकता, विनय और आराधना के विभिन्न भाव दर्शित हैं।

कृष्ण-राज्य के संस्थापक कनिष्ठ के अशोक के आदर्शों को चमकाया। कनिष्ठ के युग में भारतीय-गूनानी कला का निर्माण हुआ, बौद्धधर्म के इतिहास में जिसे कला के छेत्र में नई संभावनाओं का प्रतीक और बौद्धधर्म एवं बौद्धसंस्कृति की नवीन शाखा कहा गया है। उसकी रचना एवं उसका विकास कनिष्ठ के ही राज्यकाल में हुआ। अनेक भव्य स्तूप और बड़े-बड़े नगरों की रचना उसके कलाप्रेम और निर्माण कार्यों के परिचायक हैं। अपनी राजनगरी पुरुषपुर (पेशावर)

में उसने अगिशन नामक एक ग्रीक शिल्पी द्वारा एक अनुपम कलापूर्ण काष्ठस्तंभ निर्मित करवाया था। उसने कनिष्ठपुर (कानिसपोर) में एक नया भव्य नगर भी बसवाया था। अनेक घौढ़ विहारों के निर्माण का श्रेय भी उसको प्राप्त है। उससे पहिले प्राचीन घौढ़कला में तथागत की कोई भी मूर्ति उत्कीर्णित नहीं थी। उसके धार्मिक सुधारों के कारण अब तथागत की भव्य प्रतिमाएँ भी निर्मित होने लग गई थीं।

भारत में ग्रीक जाति के ऐट-सौ वर्षों के सम्मे शासन ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को अत्यधिक रूप से प्रभावित एवं प्रोत्साहित किया। ग्रीक संस्कृति का पहिला प्रभाव उसके कलापूर्ण सिद्धों पर पड़ा। भारतीय कला और ज्योतिष के द्वेष में ग्रीकों का प्रभाव सर्वथा अपूर्व था। वास्तुकला और तक्षणकला के जो नमूने भारत में ग्रीक कला के अनुकरण पर निर्मित हुए मिलते हैं, उनमें प्रथम शताब्दी ईसवी के तत्त्वशिला में एक देवमन्दिर के ऊँचे 'यवन स्तम्भ' और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। २० पूर्व प्रथम शताब्दी में आविर्भूत गांधार शैली की स्थापना का सम्पूर्ण श्रेय ग्रीक कलाकारों को ही उपलब्ध है। गांधार शैली की भारतीय कलाकारों की कृतियों में भगवान् खुद की जीवन-घटनाओं-सम्बन्धी प्रस्तर-उत्कीर्ण उल्लेखनीय हैं। पेशावर और लाहौर के संग्रहालयों में ग्रीक अनुकरण की कुछ कला-कृतियाँ एवं मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

गुप्त-सम्राट् न केवल विद्यासेवी, शिक्षाविद् और वडे-बडे कलाकारों के आश्रयदाता थे, वरन्, वे स्वयं भी साहित्य-सर्मज्ज तथा अनेक-कलाओं में निपुण थे। समुद्रगुप्त वीणावादन में सिद्धहस्त था, जिसके प्रतीक उसके सिक्के हैं। वास्तुकला के द्वेष में गुप्तयुग अहुत वद्वा-चदा था। फ्रांसी के देवगढ़ मन्दिरों और कानपुर के भीतरगाँव मन्दिरों की भारतीय चित्रकला का सर्वेक्षण

भव्य घारतुकला गुप्तयुग की अधिस्मरणीय देन है। उक्त दोनों मन्दिरों की दीवारों में चढ़ी निपुणता से यंटाई गई मृत्तियों को देखकर विदित होता है कि उस युग में यास्तुकला अपनी पूर्णायस्था में थी। भीतरगाँव मन्दिर की हजारों उत्तमचित् दृश्यं और पकाई गई मिट्टी की ग्रानें आज भी लालनक मंत्रदालय में देखने को मिलती हैं।

मूर्तिकला के निर्माण में भी गुप्तयुग यहुत उत्तम था। गुप्तयुग की तद्धण कला, याने भाष्कर्यदेवी भारतीय कला-द्रष्टिहास के लिए एक अपूर्व देन थी। श्रीकृष्णभायों से उन्मुक्त उपाणयुग में जिस गांधार शैली की शुरुआत हुई थी, गुप्तकाल में यह सर्वथा भारतीय रंग-रूप में परिणत हुई। गुप्तकाल में निर्मित अनेक द्वित्य मूर्तियाँ न केवल उस युग के धार्मिक अभ्युदय की सूचना देती हैं, अपितु, ये तरकालीन भाष्कर्य कला की द्याप्रकृता पर भी प्रमाण ढालती हैं। भगवान् बुद्ध की समाकर्पेक धर्म-चक्र-प्रवर्तन-सुदृश तरकालीन भारतीय तक्तों के अमाधारण कला-कौशल का जीविन उदाहरण है। हजारों की संख्या में निर्मित कलापूर्ण मृत्तियों गुप्तकालीन कला-शिलिष्यों के अपूर्व पाठिय की परिचायिका हैं। सारनाथ और मथुरा के सग्रहालयों की सजीव मूर्तियों को देखकर इन कलाकारों की ऊँची प्रतिभा को झाँका जा सकता है। गुप्त युग की इन कृतियों में सजीवता, सादगी, गति और टेक्नीक सभी का एक साथ समावेश है।

अजंता के जातप्रसिद्ध काण्ड-वितान के निर्माण का अधिकांश श्रेय गुप्तयुग को ही है। गुप्तकालीन कला के भव्य नमूने पलोरा, याघ और यहाँ तक कि मध्य पश्चिया के भिस्तिचित्रों में देखने को मिलते हैं। तरकालीन सोने के सिफ़ों, मूर्तियों और देवताओं की कलापूर्ण आकृतियों पर भी गुप्तकला के उत्कृष्ट प्रमाण अंकित हैं। गुप्तयुग के जैसे सिक्के

फिर कभी भी भारत में निर्मित नहीं हुए। पहले संकेत किया जा चुका है कि जिस प्रकार यूनानी और परपराएँ कला में स्थूल, शारीरिक एवं मांसल सौदर्य अपनी चरमावस्था को पहुंचा, उसी प्रकार गुप्तकाल में अलंकरण-सज्जा, मुद्राओं का शास्त्रीय शंग में चित्रण, आरमा का आठादपूर्ण सौदर्य, शांतिस्थ प्रकृति के हृष्प-अमर्प आदि की अभिष्यक्ति में भारतीय कला अपनी परिपक्वायस्था में पहुंची। गुप्त-सम्राटों ने अनेक सुन्दर मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण करवाया; स्तूपों, स्तंभों एवं विशाल देवमन्दिरों पर चित्रकला के भव्य नमूने अंकित करवाये।

भित्तिचित्रों की परम्परा

भारतीय भित्तिचित्रों की अपनी अलग परंपरा है। भारतीय कला के उत्तरवल इतिहास की शुरुआत इन्हीं भित्तिचित्रों से होती है। दुनिया के किसी भी छोर में इनके मुकायले में चित्र नहीं थने। इस शक्ति के भित्तिचित्र जोग्यामारा, अजंता, वाघ, यादामी, सित्तनवासल, एलोरा आदि में सुरक्षित हैं। भारत के इन जगद्विख्यात कलातीयों के दर्शनार्थ आज भी सैरहदों कलालिप्तु नित्यप्रति आते रहते हैं। भारतीय भित्तिचित्रों के इस कला-वैभव को देखकर संसार के कलाविद् विद्वान् भारतीय कलाकारों की सूझ-बूझ और इतनी कठिन साधना पर मुग्ध हैं। वस्तुतः ये कलाकार धन्य थे, जिनके दैदिक शरीर तो काल को असंख्य पत्तों में बिलीन हो गये; किन्तु जिनके महान् कृतिरूप के कारण आज सारा-का-सारा देश गौरवान्वित है।

इस्लामधर्म की दृष्टि में कला का मूल्याङ्कन

सम्यता, संस्कृति और साहित्य के निर्माण में राजकीय सत्ता का सबसे बड़ा हाथ रहा है। भारत के राजनीतिक वातावरण ने उसकी कलात्मक अभिरुचि पर गहरा प्रभाव डाला। भारतीय कला के इतिहास

को पांच विभिन्न युगों में पृथक् किया ता भक्ता है। उसका यह पृथक्कीकरण न केवल राजनीतिक दृष्टि में; यद्विक उसके भाष्य, स्वरूप, शैली और सम्बन्ध के इटिकोण से किया गया है। इन पांच युगों का क्रम है : प्राचीनतिहासिकयुग, वौद्ययुग, मध्ययुग, आधुनिक खाँड़युग और आधुनिक स्वाधीनतायुग ।

मध्ययुग से पूर्व कला का जो इटिकोण और ध्येय था, मध्ययुग में वह सर्वथा नवे रूप में सामने आया। धारासुकला, स्थापत्यकला और चित्रकला की प्रियेणी की जो ऐग्रहिती धारा भारत के कला-घरासठ पर वौद्ययुग तक प्रवाहित रही, विधर्मी इस्लामीय संस्कारों के कारण महसा ही उसमें गतिरोध हुआ, और उसके कारण कला के सार्वभौमिक स्वरूप को चित्रकला ने ढक दिया। उसका कारण या वैभव और विलास की अतिशयता ।

चित्रकला के प्रति इस्लामीय सम्पत्ता प्राचीनकाल से ही उदासीन रही। इस्लाम के प्राचीन अनुयायी यहूदियों ने इस उदासीनता को कायम किया। यद्यपि 'कुरानशारीफ' में प्रतिमानिर्माण को शाराद पवे घूत की तरह शैतानों की आदत घताया गया है, तथापि चित्रकला के लिए इस प्रसंग में स्पष्टतया किसी भी प्रकार की नियेधाज्ञा नहीं है। हीरास के अनुसार क्यामत के रोज चित्रकार को दोजस्त में जाना पढ़ता है, क्योंकि उसने निर्जीव वस्तु में प्राण-संचार करने का दुःसाहस किया है, जिसका एकमात्र अधिकार स्थिकर्ता को ही प्राप्त है। पुराने इस्लामीय संतों के भतानुसार किसी भी वस्तु पर छवि अंकित करना इस्लाम धर्म के सख्त विलाप है।

यह एक अजीव आधर्य की बात है कि कला के द्वे दो और विशेषतया चित्रकला को प्रोत्साहन देनेवाली सघसे प्रबल भावना धर्म

की रही है; किन्तु इस्लामधर्म का आचरण हमें इसके विरुद्ध ही दिखाई देता है। जहाँ पुक्कोर मन्दिरों, गिरजाघरों और घौट्यिहारों में उत्कृष्ट चित्रों के नमूने अंकित हुए मिलने हैं, वहाँ दूसरी ओर मस्जिदों में हमें इसका सर्वेगा अभाव दिखाई देता है। इसका कारण इस्लाम की धार्मिक प्रवृत्ति ही रही है। विश्व की कला-प्रवृत्तियों की तुलना में इस्लाम धर्म की वह छलगा धारणा सचमुच ही विचित्र रही है।

लगभग १४ वीं शताब्दी के अन्त में इस्लामी सभ्यता में एक जबर्दस्त परिवर्तन आया। इस समय हमें दिखाई देता है कि कला के प्रति या छायियों को अंकित करने के लिए उसमें जो धार्मिक भय या परंपरा का पूर्वाग्रह था, वह कम होने लगा। तैमूरवंश को इस परिवर्तन के पहिले प्रमाण रूप में उद्दृष्ट किया जा सकता है। अकबर ने इस क्षेत्र में काफी साहसपूर्ण कदम रखा। उसने तो यहाँ तक घोषित कर दिया कि विवरकार ही एकमात्र ऐसा उपदेशक या गुरु है, जो परमेश्वर की विभूतियों को ठीक तरह से समझा सकने की अमता रखता है।

मुगल शासन और तत्कालीन कला-वीथियाँ

भारत में मुगलों की सर्वतनत कायम हो जाने के बाद, चित्रकला के क्षेत्र में एक नई दिशा प्रकाश में आई। मुगल सर्वतनत का पिता बाबर एक उच्चाकांसी व्यक्ति था। तुर्की-रक्ख की आरम्भ से ही एक ऐसी विशेषता यह रही है कि वह स्वयं गुणज्ञ, विद्यानुरागी और गुणियों-विद्वानों का आदर करने वाला थंशा था। शाहंशाह बाबर एक सिद्धहस्त कवि, अद्युत कला-पारसी और सुन्दर गद्य का लेखक था। तुर्की भाषा में उच्छित उसका आरम्भरित उसके पाण्डित्य का परिचायक है। अपने संस्मरणों में बाघर ने फारसी कला-शैलियों की

और विशेषतया कलाकार विजहाद की आलेखन-शैली की शही ही समदृष्टिपूर्ण समीक्षा की है। भारत लाते हुए अपने माहिन्य पूर्व कलाप्रेम के कारण जिन पुस्तकों को बायर साथ लाया था, उनमें 'शाहीनामा' की एक मधिय प्रति भी थी, जो इगमग २०० वर्षों सक उत्तरवर्ती शाही पोथीशानों में सुरक्षित रही और याद में अंग्रेजों द्वारा अपहृत होकर लंदन पहुंची; आज वह प्रशियाटिक सोसाइटी, लंदन की संपत्ति है।

कला की अभिरुचि हुमायूँ की पुरतीनी थी; किन्तु उसका दुर्मायि कि अपनी २६ वर्षों की यादशाहत में वह कभी भी चैन में न रह सका। शोरी-फ्लम के सुगल चित्रकार अद्वुस्समद शीराजी और मार सेयद अली को उसने संमानपूर्वक अपने दरबार में आमन्त्रित किया; और वे दोनों अकबर के दरबार में भी संमान के साथ अपनी कला का सज्जन करते रहे। ऐसा कहा जाता है कि इन दोनों चित्रकारों ने ईरानी-शैली को भारतीय शैली में ढालकर चित्रकला के चैत्र में वर्वया नई संभावनाओं को जन्म दिया था। हुमायूँ के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि वह इतना कलाप्रेमी था कि युद्ध के समय भी चित्रकला की पुस्तकों को साय रखता था।

हुमायूँ के बाद उसका पुत्र अकबर सुगल सल्तनत का स्वामी नियुक्त हुआ। अपने पिता के कलाकृष्ण में अद्वुस्समद और सैयद अली को उसने विरासत में पाया था। इन दोनों महान् कलाकारों ने अकबर की हचि और नीचि के अनुसार कला के छेत्र में भी सामंजस्य की भावना भर दी। उन्होंने ईरानी आकारों को भारतीय रंगों में संजोकर अकबर की समन्वयवादी विचार-धारा को साकार कर दिया। अकबर के कलाप्रेम और गुणग्राही स्वभाव का पूरा हाल हमें

अयुलफजल की पुस्तक 'आह-ने धक्करी' में देखने को मिलता है। चित्रकला से नफरत करने वाले लोगों से धक्कर को नफरत थी। कलाप्रेम उसको विरासत में मिला था; और हिन्दू-पतियों के सद्योग से उसकी रुचि में भी परिष्कार हो गया। धक्कर की चित्रशाला में हिन्दू और मुस्लिम दोनों प्रकार के सुसम्बन्ध थे।

धक्कर के शासन में पुस्तकों के चित्रित करने की प्रथा में काफी चृष्टि हुई। उसके शाही पोथीपाने में २४,००० हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थीं, जिनमें सैकड़ों सचित्र थीं। चित्रों से विभूषित कुछ पोथियाँ तो ऐसी भी थीं, जिनमें एक की लागत लाख रुपये से भी ज्यादा थी। उसका यह शाही पुस्तकालय तीन नगरों में था : आगरा, दिल्ली और लादौर। विदेश यासन के समय थे बहुमूल्य पोथियाँ अधिकांशतया लंदन और कुछ फ्रांस तथा अमेरिका के संप्रहालयों में पहुंचीं। धक्करकालीन सचित्र पोथियों की उपलब्धि भारत के जिन पुस्तकालयों में सम्भव है, उनके नाम हैं : राजकीय संप्रहालय जयपुर, सुदावल्ला लाहौरी पटना, राजकीय संप्रहालय हैदराबाद, भारत कला भवन चाराणसी, महाराज बलरामपुर का संप्रहालय, राजकीय संप्रहालय रामपुर और राज्यीय संप्रहालय दिल्ली।

धक्कर के बाद उसके पुत्र जहाँगीर ने शाहंशाहत संभाली। वह हिन्दू-पक्षी से प्रसूत था। हस्तलिए जन्मतः ही उसमें हिन्दुरूप की भावना थी। उसके युग में चित्रकला का सर्वथा भारतीयकरण दुन्हा। वह सर्वगुणसम्पन्न और उच्चकोटि का कला-पारखी था। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसकी समीक्षादुद्धि इतनी प्रबल थी कि अनेक चित्रकारों द्वारा तैयार किए गए एक ही चित्र के विभिन्न कलाकारों के अंशों को वह अलग-अलग कर सकता था।

उसने अपने कलाकारों को धन, उपाधि और सम्मान दिया। कला का वह हतना शौकीन था कि जो भी सुलिपि में लिखी हुई पोथी उसके सामने से गुजरती, उसे रोक कर वह उसकी पोस्तीन पर अपने दस्तखत कर दिया करता। अच्छे-अच्छे चित्रों के अलघम तैयार करने का उसे गजब का शौक था। उसके युग के चित्र आज भी भारत के और विदेशों के संग्रहालयों में सर्वत्र विखरे हुए हैं।

उसके बाद भी मुगलवंश में शाहजहाँ, दारा बादि शासक हुए। ये भी चित्रकला के प्रति अनुरक्ष और कलाकारों के आश्रयदाता रहे; किन्तु इनके युग की ऐसी महत्वपूर्ण देन शेष नहीं, जिससे कि उनके व्यक्तिगत का अलग से उत्तेज किया जा सके। औरंगजेब की कलुपित रीति-नीति ने तो चित्रकला की पूर्वांजित धरोहर को सर्वथा तहस-नहस कर ढाला।

हिन्दू-चित्रकला का पुनरुत्थान

यद्यपि मुगलों के राज-वैभव के साथ-साथ भारत में ईरानी उस्तादों का भी आगमन हो चुका था, और शासन के स्वामी होने के कारण मुगलों के दरबारों में उन्हीं का अधिक बोलबाला, रोम-दाव रहा; फिर भी हम देखते हैं कि मुगलकाल के मुसल्वरों में तीन-चौथाई कलाकार हिन्दू ही थे। और सम्भवतया यही कारण था कि ईरानी उस्तादों के आधिपत्य में भी भारतीय कलाकारों की निजी विशेषताएँ सर्वथा विलुप्त या ईरानी संस्कारों में सर्वथा विलयित नहीं हो पाई थीं।

ईरानी उस्ताद, अधिक यत्नशील होने पर भी, रागमाला के बैसे रस-भाव-पेशाल, मार्दवपूर्ण, स्वाभाविक एवं निर्दोष चित्र नहीं उतार सके, भारतीय चित्रकारों को जो निपुणता विरासत से मिली थी। फिर भी इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि ईरानी कैली के मुगल

निश्चित रूप से हस संवंध में इमण्डिप कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि उद्धीर्ण शताव्दी से पहिले का दाचिणारथ शैली का कोई भी चित्र उपलब्ध नहीं होता है।

अठारहवीं शताव्दी के अंत और उद्धीसप्तों शताव्दी के आदि में हिन्दू चित्रकला कई उपशास्त्रों में विभाजित होकर अपनी घरमोजन अवस्था में पहुँची। हम युग की प्रमुख चित्र-शैलियों के नाम हें : जयपुर, कोंगड़ा, गढ़वाल, नाहन, मंडो, घसौली, भोदया, दतिया, जोधपुर, उदयपुर, गुजराट, महाराष्ट्र और हैदराबाद।

राजस्थानी शैली

भारत से मुगल सरकार का उन्मूलन होने से पूर्व ही मुगल चित्रकला का ह्रास होने लगा गया था। मुगल काल के निर्माता कलाकार अपने आध्यदाताओं का अनुकूल रूप न देनकर अपनी कार्य-कुशलता के यल पर विभिन्न हिन्दू रजवादों में सरलता से ही शरण पा गए थे। पूर्य में वे लखनऊ, पटना; उत्तर में काशीर, हिमांचल-प्रदेश, गढ़वाल; पश्चिम में राजस्थान, पाञ्चाल और दक्षिण में महाराष्ट्र, तज्ज्वल तथा मैसूर तक के सुदूर भू-भागों में विदर कर भारतीय कला के चेत्र में नये प्रयोगों, नई निष्पत्तियों के निर्माण में जी-जान से जुट गए थे।

राजस्थानी चित्रशैली का अस्तित्व मुगल शैली जितना प्राचीन है। राजस्थानी चित्रशैली, क्योंकि हिन्दू-जीवन से सम्बद्ध थी, अतएव अपनी रूप-सज्जा और भावाद्धन के लिए उसने अजन्ता की लोकप्रिय शैली को अपनाया, किन्तु इधर मुगलकला से उसका सगा सम्बन्ध रहने के कारण उसमें शृंगार-प्रसाधनों की भी अधिकता रही। सच तो यह है कि राजस्थानी कलाकारों ने एक और तो मुलसी, सूर और मीरा की

दिव्य भाष्यारिमिक भावनाओं को अपनी तृष्णिका हारा साकार मूर्तिमान् कर दिया, किन्तु दूसरी ओर केशव, देव, विहारी पर उनका ध्यान आकर्षित होते ही उहाम श्रद्धार की चरमोरुपं दशाओं को रूप, रङ्ग और वाणी देने में भी उन्होंने क्षमता नहीं की। यही उनके सर्वान्दीण कला-जीयन की सफलता थी।

राजस्थान के प्राकृतिक धाताघरण में मर्वन्त्र ही कला का ज्ञावास है। वहाँ के दुर्ग, चर्दों के प्रासाद, घरों की उष्णावच पार्वत्य भूमि, वहाँ के मन्दिर, एवेलियाँ, राजप्रासाद, चर्दों के सामान्य घरों के खाँकों, दीपालों आदि सभी में एक धनोग्रा आकर्षण है। जयपुर नगर राजस्थानी चित्रकला का प्रमुख केन्द्र रहा है। राजस्थानी चित्रकला का भरा-पूरा वैभव यथापि भारतीय चित्रकला के पैमबर के साथ ही समाप्त हो गया था, तथापि चर्दों आज भी ऐसे चित्रकारों की कमी नहीं है, जो इतनी सुन्दर प्रतिकृति तैयार कर लेते हैं कि मूलचित्र और उसकी प्रतिलिपि में भेद करना कठिन हो जाता है।

पहाड़ी कला-शैलियाँ

पहाड़ी चित्रशैलियों को ज्ञावासभूमि दिसाघल का विश्वत भू-भाग जम्मू, टेहरी, गढ़वाल, पठानकोट, कुम्ह, चम्बा, वसौली, काँगड़ा, गुलेर, मण्डी आदि पर्वतीय इलाके हैं। यथापि पहाड़ी चित्रशैली का निर्माण मगहवीं शताब्दी के मध्यभाग में ही हो चुका था, किन्तु अठारहवीं शताब्दी में पहुंचकर उसने लोकप्रियता प्राप्त की। पहाड़ी शैली के निर्माण में सुगल, काश्मीरी और राजस्थानी, तीनों का सहयोग रहा है, किन्तु उसके मौलिक प्रयोगों, यथार्थवादी दृष्टिकोणों और भावनापूर्ण अङ्कों ने उसकी उपयोगिता को अतिशय रूप से चमकाया। पहाड़ी शैली के चित्रकारों की एक अत्युलनीय विशेषता यह रही है कि उन्होंने

जिस भी विषय को रखा किया, उसी में चार छोड़े लगा दिए। दैनिक जीवन से सम्बद्ध छोटे से छोटे चित्रों से लेकर पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, काव्यमय, कथापरक आदि सभी विषयों पर पहाड़ी शैली के कलाकारों ने ढेर-के-ढेर चित्र उतारे और ये भी एक-से-एक उत्कृष्ट! चादमीकि, ध्याम से लेकर मतिराम और विहारी तक के ग्रन्थों के उन्होंने इष्टान्त चित्र बनाये। इसीलिए कला-मर्मज्ञों और इतिहासकारों ने अजन्ता की चित्रायली के बाद पहाड़ी शैली को ही भारतीय चित्र-कला के चेत्र में ऊँचा स्थान दिया है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक पहाड़ी शैलियों का स्वर्ण-युग रहा है।

श्री दाचीरानी गुरुट के शब्दों में “पहाड़ी चित्रकारों ने हम्मत भाव-नाखों और वास्तविक अनुभवों को दर्शित करते हुए भावोद्वेक के चित्र आंके हैं। नायक-नायिकाओं की भी विविध मनोदशाओं, केलि-झीडाओं और जीवनोज्ज्ञासों को ज्यों-का-स्यों हन चित्रों में उतारा गया है। भाव और सौन्दर्य की अनुभूति के योग से उनके घण्य-विषय बही ही मधुरता और सज्जी लगन से विनित किए गए हैं। कहना न होगा कि ये पहाड़ी कलाकार अन्तर्वृत्तियों के निरूपक, कलागत सौन्दर्य के नाना भेदों के संवेदनशील दृष्टि, लौकिक एवं धर्मात्मक प्रणय-लीलाओं तथा सयोग-वियोग की अन्तर्देशाओं के मार्मिक चित्रे, प्रेमरस से सिक्क भीतर की उमड़ों में पैठने वाले और कला की चारु-रम्यता को रहस्यमय रङ्गों से संजोने वाले सचे स्वच्छन्द दृष्टि थे, सँकरे वातावरण में पहुँ फ़हफ़दाने वाले बन्दी नहीं।”

भारत का आधुनिक कलामञ्च

उन्नीसवीं शताब्दी की विदाई के साथ-साथ भारत की प्रधान कला-शैलियाँ : मुगल, राजपूत, पहाड़ी और उनसे प्रभावित अनेक

उपकासासाँहे बिलुस हो गहूँ । इसका कारण भारत में यूरोपीय कला का प्रवेश था । यूरोपीय दौली के भारतीय चित्रकारों में पहिला नाम श्रावणकोर के स्व० राजा रविवर्मा का है । उनसे भी कुछ पहिले मदुरा के चित्रकार श्री भलामी नायहू इस देश में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे और इन्हीं से राजा रविवर्मा ने शिरा प्रदण की । पौराण्य और पाषाण्य कला-शैलियों को सम्मिलित रूप में अपनाने वाले भारतीय कलाकारों में अवनीन्द्र यावू, गगनेन्द्र यावू, नन्दलाल चसु, असित कुमार हाल्दार, समरेन्द्रनाथ गुप्त, कें० एन० मजूमदार, शैलेन्द्रनाथ दे, कें० बेंकटर्पा, जारदा उकील, ढी० पी० राय चौधरी और चीरेश्वर सेन आदि का नाम लिया जा सकता है । यद्गाल के इस कला-आन्दोलन का प्रभाव समस्त भारत के चित्रकारों पर पड़ा और भारत के सभी हिस्सों में यूरोपीय चित्रकला की दौली में भारतीय विधानों को दर्शित करने की प्रवृत्ति निरन्तर घड़ती रही ।

आधुनिक भारत की चित्र-शैलियों पर राजनीति का विदेश प्रभाव रहा है । उच्चीसर्वी दातावदी के बाद श्रिटिश साम्राज्य का पूर्णाधिपत्य हो जाने पर भारत के विभिन्न धर्मों में विदेशी सत्ता के विरोध में जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुए, भारतीय चित्रकला पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा । इस राष्ट्रीय चेतना ने कवियों, कलाकारों, साहित्यिकों, पत्रकारों और राजनीति के नेताओं को एक सर्वथा नई दिशा की ओर मोड़ा । इन भारतीय कला-कृतियों में जो दुःख, उत्पीड़न, अपमान, धृष्णा, निराशा और विपाद की भावनाओं का ग्राघर्व दिखाई देता है, उसका एकमात्र कारण यही राष्ट्रीय जागृति थी । अवनीन्द्र और गगनेन्द्र, इन ऐगोर-गुरुओं के अतिरिक्त विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनीराय, सुधीर खास्तगीर आदि ने उक्त राष्ट्रीय जागरण को अपनी कला-कृतियों में उतारा ।

भारतीय कला की एक शाखा देश के घारों और विस्तारित जन-
जीवन की वास्तविक समस्याओं को लेकर भी प्रकाश में आ रही है।
इन कला-दृष्टियों में जीवन की यथार्थताओं के दर्शन हैं। समाज की
आर्थिक विप्रमत्ताओं के कारण जो एक महान् द्वैधीभाव आ गया है,
उससे उत्थन परिस्थितियों का चित्रण करना भी आधुनिक कला का
एक विषय है। ग्राम्य-जीवन की ओर भी आधुनिक कलाकार सजग है।
बुद्धिजीवी वर्ग का असन्तोष और शिक्षित वेकारों की जो दुर्दशा है उसके-
भी व्यंग्यचित्र आज निर्मित हो रहे हैं।

—०००००—

में समर्थ हो सका है। अपनी दुस्साध्य साधना के बल पर उसने निराकार को साकार, असीम को सत्तीम, अपार्थिव को पार्थिव और अज्ञेय को ज्ञेय रूप में धौंध देने की निपुणता प्राप्त की है।

भारतीय कलाकारों ने जो देवी-देवताओं की काल्पनिक कृतियों का निर्माण करने में अधिक दिलचस्पी दिखाई है, उसका कारण उनके सात्त्विक मन की सादगी थी। उन्होंने सावयव सौन्दर्य को छोड़ कर जो निरवयव एवं रसहीन देव-अनुकूलियों का चित्रण किया है, एक प्रकार से उनका वह अजनन्त को सीमित सीमा-रेखाओं में धौंध देने का अपूर्व यत्न था। उनके सोचने-विचारने और अपने भावों को उतारने का इष्टिकोण बहुत ऊँचा था।

कवि के विचारांकन का माध्यम भाषा है और कलाकार के भावांकन का माध्यम कला। कला भी एक भाषा है। वही कला सार्थक है, जो अपने भीतर निहित भावों, संकेतों, उद्देश्यों और उपमानों को इस प्रकार सामने मूर्तिमान करके रख दे कि जिज्ञासु को पूर्ण सन्तोष हो सके। भारतीय कला इसी महान् ध्येय को लेकर आगे बढ़ी है।

भारतीय कला में सत्यं, शिवं और सुन्दरं की महत्ती भावना ओत-प्रोत है। उसके आधार सत्यमय, परिणाम शिवमय और स्वरूप सौन्दर्यमय हैं। साधना और स्वाध्याय से निर्मित भारतीय कला के एक-एक संकेत को पाने के लिए सुखीर्ध आन्दोलन की आवश्यकता है। इसको हृदयंगम करने के लिए भारतीय कला-साहित्य के मूल निर्देशों को समझना पड़ेगा। अजन्ता के सुन्दर चित्र-कौशल में भारतीय साहित्य में निर्दिष्ट सभी विधि-विधान समाविष्ट हैं।

गुप्त-साम्राज्य

अजन्ता के असुल कला-वैभव को अर्जित करने में गुप्त-साम्राज्य

का सर्वोधिक हाथ रहा है। इस दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि गुप्त-साम्राज्य की सीमाओं, परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का सर्वांगीण पर्यवेक्षण करने के बाद हम अजन्ता के कलाकोषों का रसास्वादन करें। वास्तविक बात तो यह है कि भारतीय साहित्य, संस्कृति या कला के किसी भी अंग का अध्ययन हमारा तब तक अधूरा ही रहेगा, जब तक कि हम भारतीय इतिहास के इस महान् युग से परिचय प्राप्त न कर लें। गुप्त साम्राज्य के सम्बन्ध में एक बात स्मरण रखने की यह है कि प्राचीन भारत के राजवंशों का परिचय प्राप्त करने के लिए इतिहासकारों को जो दूर-दूर भटकना पड़ा है, गुप्त-साम्राज्य के सम्बन्ध में वैसी असुविधा नहीं हुई, क्योंकि गुप्त-शासकों के अनुवृत्त जानने के लिए तत्सम्बन्धी सामग्री अथाह रूप में उपलब्ध है।

इस महान् साम्राज्य की स्थापना का सुयश श्रीगुप्त को है, जिसका शासनकाल इतिहासकारों ने २७५-३०० ई० के बीच रखा है। इस साम्राज्य की बागदोर श्रीगुप्त के बाद उसके पुत्र घटोत्कच गुप्त और उसके अनन्तर घटोत्कच गुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के हाथ में गई, जिसका शासन-काल ३२०-३१५ ई० तक अर्थात् १५ वर्ष रहा। इसी चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद दिग्बिजयी समुद्रगुप्त और तदनन्तर रामगुप्त के बाद, इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णजिरों में उल्लिखित 'विक्रमादित्य' विरुद्ध से ख्यात चन्द्रगुप्त द्वितीय ३७५-४१४ ई० के बीच गुप्त साम्राज्य का स्वामी नियुक्त हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद गुप्त शासकों की परम्परा कुमारगुप्त विक्रमादित्य, पुरुगुप्त प्रकाशादित्य, चूसिंह गुप्त, बालादित्य, कुमार गुप्त द्वितीय, बुधगुप्त और भानुगुप्त के शासन तक लगभग ५१० ई० तक बनी रही। इसके बाद भी गुप्त-साम्राज्य की वंश-परंपरा के अन्तिम शासकों में विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य और शैद्धगुप्त द्वादशादित्य के नाम मिलते हैं, किन्तु उसके सम्बन्ध में अजन्ता की चित्रकला

प्रकाश ढालने वाली प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का संप्रति अभाव है।

गुप्त-साम्राज्य का स्थर्णयुग

वीरमोग्या इस भारत-द्विंशुरा का दीर्घ काल तक पृक्षेत्र नासन का स्वामित्व प्राप्त करने वाले गुप्त सत्राटों द्वी वस्तुतः ऐसो असाधारण विशेषता है, जिनकी तुलना में भारत के समस्त प्रभावशाली राजवंश भी फॉके पड़ जाते हैं। गुप्त साम्राज्य के उज्ज्वल यश को पृथ्वी के कोने-कोने में प्रसारित करने का पृक्षमात्र श्रेय उस युग की साहित्यिक देन, कलाभ्युज्ञति और संस्कृति पृचं शिक्षा को है। संस्कृत द्वी तत्कालीन महान् लृतियों के साथ पृक्षशाण होकर गुप्त साम्राज्य की कीर्ति-कथा अमर है। गुप्त साम्राज्य में संस्कृत भाषा और कला की अभ्युज्ञति का पृक्ष बहुत यदा कारण यह था कि गुप्त सत्राट् स्वयमेव मंस्कृतज्ञ और कलाममंज्ञ थे। गुप्त साम्राज्य की मुद्राओं, अभिलेखों और राज्य-पत्रों को देख कर विदित होता है कि उस समय संस्कृत को राष्ट्रभाषा जितना सम्मान प्राप्त था।

धर्म के सेत्र में भी गुप्त राजाओं की नीतिपरायणता उल्लेखनीय है। गुप्त-साम्राज्य के शांतिमय वातावरण में अनुकूल परिस्थितियों को पाकर तत्कालीन भारत के प्रस्तुन तीनों धर्म धाराण, जैन और चौद्ध खूब फूले-फले। तीनों धर्मों के साहित्य ने अपना-अपना पूर्ण विकास कर लिया।

विश्वविद्यात् नालन्दा महाविहार की गणना संसार के उन उच्चतम विद्यापीठों में की जाती है, जिनके द्वारा मानवता को सर्व-प्रथम ज्ञान का आलोक मिला। दूर-दूर के देशों के विद्यालिप्सु इस महान् विद्या-केन्द्र में आते और ज्ञान का अतुल वैभव साथ लेकर लौटते थे। यहाँ चौद्ध विद्याओं की पूर्ण शिक्षा दी जाती थी।

कालिदास, दिघ्नाग, अमरसिंह, धन्वतरि, भार्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त जैसे उन्नत महाकवि, कोशकार, आयुर्वेद-वृहस्पति, तार्किक एवं ज्योतिष-शास्त्र के विद्वानों के आविर्भाव का यह युग भारत की धरती का उज्ज्वल युग था ।

गुप्त सम्राट् न केवल साहित्य-मर्मज्ञ, विद्यासेवी, वद्दे-यद्दे कलाकारों के आश्रयदाता और शिक्षाविद् थे, वरन् वे स्वयं भी अनेक कलाओं में निपुण थे । प्रयाग-प्रशास्ति में समुद्रगुप्त की संगीतप्रियता के सम्बन्ध में लिखा है कि अपने गायन-वादन में उसने तुम्हुरु और नारद जैसे संगीतज्ञों को भी लजित कर दिया था । समुद्रगुप्त वीणावादन में सिद्धहस्त था, जिसके प्रतीक उसके सिक्के हैं ।

संगीत के अतिरिक्त चित्रकला, मूर्तिकला और चास्तुकला के चेत्र में भी गुप्त-युग बहुत बढ़ा-चढ़ा था । अजन्ता का जगत्प्रसिद्ध कलाचितान गुरुओं की ही देन है, जिसका पूरा विवरण आगे प्रस्तुत किया जाएगा ।

चास्तुकला के चेत्र में भी गुप्तयुग बहुत उच्चशिखर पर था । श्वासी के देवगढ़ मन्दिर और कानपुर के भीतरगाँव मन्दिरों की भव्य चास्तुकला गुप्तयुग की अविस्मरणीय देन है । उक्त दोनों मन्दिरों की दीवारों में चढ़ी निपुणता से बैठाई गई मृन्मयी मूर्तियों से विदित होता है कि उस युग में चास्तुकला अपनी पूर्णता पर थी । भीतरगाँव-मन्दिर की हजारों उखचित इटें और पकाई गई मिट्टी की खानें आज भी लखनऊ संग्रहालय में देखने को मिलती हैं ।

मूर्तिकला के निर्माण में तो गुप्तयुग बहुत ही उच्चत था । गुप्तकाल की तज्ज्ञकला अर्थात् भार्कर्य शौली भारतीय कला-इतिहास के लिए अपूर्व देन थी । ग्रीक प्रभावों से उन्मुक्त कुपाण-युग में जिस गान्धार-शौली की शुरुआत हुई थी, गुप्तकाल में वह सर्वथा भारतीय रूप-रंग में परिवर्तित हो गई । गुप्तकाल में निर्मित अनेक दिव्य मूर्तियाँ न अजन्ता की चित्रकला

देश के उसके पार्मिक भग्नुदय की जूचना देती है, अपितु भारतीय भग्नायं एवं योग्यापकता पर भी प्रशंसा दालती है। भगवान्-मुद्रा की समाख्यक पर्म-चम-प्रत्यंत-मुद्रा तात्त्वालीन भारतीय गणहों के लक्षणाधारण बौद्धात् का लीलिन दटाहरण है। दृजारों की संताया में निर्मित बछावन्त मृणमयी मूर्तियाँ गुप्तशालीन गण-दिवियों के अपूर्व पाण्डित्य की परिचायिदा हैं। मारनाय और मधुरा-संप्रदाय की मनीष मूर्तियों की देखकर इन गणाकारों की पालनप्रियता को छोड़कर ना मरकता है। गुप्तयुग की इन शृणियों में मनीषासा, मारनी, गति और टेक्नीक की उत्तमता, मग्नी पा एवं मार समन्वय है।

साहित्य, पाला और संस्कृति की इस ग्रियेनी के पवित्र संग्रह में ही गुप्तयुग को 'स्वर्णयुग' की दर्याति प्रदान की है। भारतीय इतिहास के इस स्वर्णयुग की कीर्तिन्यया को घरभी के फोने-योने तक विस्तारित करने का एकमात्र ध्रेय अजन्ता के महान् वटान्यैवय को उपलब्ध है, जो कि इसारे इस देश का प्रमुख विषय है, और जो संसार के कला-प्रेमियों, पर्यटकों एवं इतिहासकारों की जिज्ञासा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है।

बौद्ध-कला

अजन्ता के चित्रों की सारी रूपाति बौद्धकला पर आधारित है। इमण्टिप अजन्ता की चित्रकला का पर्यवेक्षण करने से पूर्य बौद्धकला के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान लेना आवश्यक है।

भगवान् तथागत के अनुयायियों में ध्यापारी-घर्गं पूर्वं धनिक-घर्गं भी था, जिसके बौद्धानुराग की देन हमें असंख्य विहारों के निर्माण और कलापूर्ण भग्न-स्तूपों की रचना में भारत के झोर-छोर तक मिलती है। भग्नप्रदेश के सौंची और भरहुत, दण्डिण में अमरावती और

नागार्जुनी कौटा तथा पश्चिम में काले और भज के चैत्यों पूर्व स्तूपों को इस प्रसंग में उदृष्ट किया जा सकता है। चारिकानों के रूप में अमण करने वाले दया, ममता और करुणा के प्रतीक भिषु-भिजुणियों के आवास के लिए अशोक जैसे गृहस्थ उपासकों ने इन चैत्यों, स्तूपों और विहारों का निर्माण करवाया। काले, कान्देरी, भज और अजन्ता के भव्य शिल्प में जातककथाओं के आधार पर तथागत की गौरवगाया एवं उनके सिद्धान्तों के निर्देश अंकित किए गए। भारत के उत्तर पश्चिम की हसी बौद्ध कला के साथ यूनान और रोम की कला-शैलियों का सम्मिश्रण होने से गोधार नामक एक नवीन शैली की विद्युति हुई।

भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायी अर्हत सन्तों की स्मृति में बनाए गए चैत्यों पूर्व स्तूपों की संरचना गणनातीत और उनके निर्माण की शैलियाँ भी अनेक हैं। चैत्य कहते हैं 'चिता' के लिए और चिता के अवशिष्ट भंश (अस्थि-अवशेष) को गर्भ में रखकर जो स्मारक निर्मित किया जाता है उसे ही चैत्य कहा जाता है। स्तूप का अर्थ एक दीला है। स्तूप और चैत्य वस्तुतः उन स्मारकों को कहा जाता था, जिनमें किसी भी महापुरुष की अस्तियाँ, राख, दाँत या धाल गाढ़ कर रखा जाता था। किन्तु इन स्तूपों और चैत्यों में यह आवश्यक नहीं था कि वहाँ स्मृति-स्वरूप किसी स्मरणीय महापुरुष के अवशेषों को गाढ़ कर रखा ही जाए, यदि वह तो एक यादगार थी, जिसको कि जो नाम दिया जाता, वही उसका स्मारक था।

सांची के स्तूप का निर्माण तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व में अशोक ने किया था। सांची और भरहुत के स्तूपों की गणना सबसे प्राचीन है, जिनका वृत्ताकार घटिर्भाग पाण्डाण वेष्टनियों से निर्मित है।

नेपाल की सीमा पर अवस्थित पिपरावा का हृटनिर्मित स्तूप संभवतः पाँचवीं शताब्दी के मध्य में बनाया गया था। सांची और अजन्ता की चित्रकला

भरहुत के स्तूपों की यात्राएँ नेपाल के सरपंथनाय के मंदिर निर्माण में और अनुराधापुर के धूपराम दायोगा (२४६ ई० प०) में दिक्षाद्वे देता है। यही प्रभाव जाया के योरोपियों, सिहल के योगोब्रह्मा के प्रासाद और यमां के मिथुन स्तूपों पर दिखता है।

स्तूपों और चैत्यों पर्यं विद्वारों के धर्मिताका यौद्ध कठा भी पिरासन दर्शन मन्दिरों पर्यं कांस्यमयी गृहिणीों में भी दिक्षाद्वे देती है। मारनाय का सिद्ध दीर्घ स्तम्भ सया रामपुरया का पापाणनिर्मित धूपम भौद्ययुगीन नूर्तिकला की ओषध धर्मियों हैं। परम्परा और पटनाकी उपलब्ध यज्ञ-छयियों भी इसी प्रशार की हैं। कांस्यमयी नूर्ति-निर्माण की यैमयशाली परम्परा सांची, भरहुत, अमरावती और नागार्जुन कोटा के नूर्तिशिल्प में जाज भी जीवित है। तपशिला में घातु की छुड़ युद्ध नूर्तियों भी उपलब्ध हुई थीं।

बुद्ध नूर्तियों के निर्माण की प्राप्ति परम्परा का प्रवर्तन गुप्त युग में हुआ, जिसके साथी उपकरण मधुरा, सारनाय और विहार में सुरक्षित हैं। नवम शताब्दी से यारहवीं शताब्दी तक की मृणमयी, पापाणमयी और कांस्यमयी नूर्तियों का अधिकता से निर्माण हुआ। नालन्दा और कुकिलार से उपलब्ध इस प्रकार की नूर्तियों में भाव पर्यं रूप दोनों का अपूर्व योग है। नालन्दा के नूर्ति-निर्माण का दाय जावा, सुमात्रा, नेपाल और चम्पा तक पहुँचा। यौद्ध काठ की छुड़ कांस्य नूर्तियों दक्षिण में, विशेषकर तजोर में भी उपलब्ध हुई हैं।

यौद्ध रुचियों से प्रभावित भारत के इस नूर्तिशिल्प को बौद्ध ज्ञान के अभीप्तु भिष्मों ने एशिया के कोने-कोने में फैलाया और नूर्ति-निर्माण की यह परम्परा सारे एशिया में चर्चों तक अच्छाण रूप में बनी रही, जिसके उपलब्ध अवदोष आज भी इसके साथी हैं।

भारतीय भित्ति-चित्रों की परम्परा

भारतीय भित्ति-चित्रों की अपनी अलग परम्परा है। भारतीय चित्रकला के उज्ज्वल इतिहास की शुरुआत भित्ति-चित्रों से ही होती है। दुनिया के किसी भी छोर में इनके मुकाबिले के चित्र आज तक नहीं मिले हैं। मध्ययुगीन भारत में जितने भी चित्र बने, उनमें भी वह सर्वाङ्गीणता एवं वह सहज स्वाभाविक अभिव्यञ्जन न आ सका। चित्रों के निर्माण में निःसन्देह मुगलकलाकारों ने कमाल की निपुणता हासिल की थी, किन्तु भारतीय भित्ति-चित्रों के मुकाबिले में वे भी न आ सके। भारतीय चित्रकला के प्रामाणिक इतिहास का आरम्भ भारतीय भित्ति-चित्रों से होता है।

जोगीमारा

सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा के उपलब्ध भित्ति-चित्रों से भारतीय चित्रकला के प्रामाणिक इतिहास का आरम्भ होता है। इस गुफा के उपलब्ध अन्तर्लेखों का अध्ययन कर पुरातत्वज्ञों पुर्व इतिहासकारों ने इन भित्ति-चित्रों का समय ३०० ई० पू० या इसके आसपास अनुमानित किया है। इसी गुफा के पार्श्व में अद्वितीय कुछ और भी चित्र-कृतियाँ हैं, जिनको सुरक्षित बनाये रखने के लिए ऊपर से कुछ मिट्टी की रेखाएँ खींची गई हैं, किन्तु निःसन्देह उनसे भारतीय चित्रकला के उज्ज्वल अवतार का प्रामाणिक इतिहास ज्ञात होता है। विद्वानों ने इन चित्रों में से कुछ का विषय जैन-धर्म घटाया है।

अजन्ता

जोगीमारा के गुफा-चित्रों के बाद अजन्ता के चित्रों का कम आता है, जिनका निर्माण शुक्र, कृष्ण और गुप्तयुग में अर्थात् २०० ई० पू० से ६०० ई० तक के बीच हुआ। अजन्ता का ग्रन्थि-अजन्ता की चित्रकला

वैभव आज भी हृतना आकर्षक है कि वहाँ जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति हस घात की प्रशंसा किए यिना न रहेगा कि अजन्ता के उन महान् कला-पण्डितों ने अपनी साधना के लिए जिस स्थान को चुना, वह सर्वथा उपयुक्त था ।

अजन्ता की कुल मिलाकर २९ गुफाएँ हैं, जिनके दो भाग किए जा सकते हैं । स्तूप गुफाएँ और विहार गुफाएँ । पहले भाग की गुफाएँ प्रार्थना की हृषि से निर्मित हैं और दूसरे भाग की रहने और अध्ययन करने की हृषि से । सभी गुफाओं में चित्र बने हैं और वह भी एक ही शैली के, किन्तु वाकी गुफाओं को छोड़ कर पहली, दूसरी, सोलहवीं और समवर्षी गुफाओं के ही चित्र अब सुरक्षित रह सके हैं ।

अजन्ता की चित्र-कृतियों पर सैकड़ों देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा प्रकाश ढाला जा चुका है और आज उनकी विश्वुति यहाँ तक घढ़ चुकी है कि उन्हें विश्व की सर्वोच्च कला-कृतियों में गिना जाने लगा है । इनकी प्रतिकृतियों की तो विदेशों में कई बार प्रदर्शनियाँ आयोजित की जा चुकी हैं । पश्चिया, यूरोप, अमेरिका आदि सभी देशों में अजन्ता की चित्रावली पहुँच चुकी है । इन प्रतिकृतियों पर हाल ही में न्यूयार्क यूनेस्को से १९५४ ई० में 'प्रिंटिंगस आफ अजन्ता केब्ज' नाम से एक संग्रह प्रकाशित हुआ है ।

अजन्ता के चित्रों में गुप्त-शैली की प्रधानता है । गुप्त राजाओं का कला-प्रेम उनके चित्राङ्कित स्वर्णिम सिक्कों, सुन्दर मूर्तियों और भव्य मन्दिरों के निर्माण के रूप में हमारे सामने प्रकट है । अजन्ता की छुतियाँ उनके उस्कृष्ट कला-प्रेम के जीवित प्रमाण हैं । उनके अङ्कन में रेखाङ्कन में, रङ्ग-योजना में और वास्तविक विधान में कला की चरम परिणति सर्वत्र व्याप्त है ।

अजन्ता की इन विहार-गुफाओं में मूर्तिकला, चित्रकला और चासुकला का एकान्त संयोग समाविष्ट है। भक्ति, उपासना एवं प्रेम की त्रिवेणी का समन्वय भी अजन्ता की कला की एक अतुलनीय विशेषता है। भगवान् तथागत के जीवन-सिद्धान्तों की अविकल व्याख्या उनके शान्ति और अहिंसा के आदेश, इन विशालकाय प्रतिमाओं की मुखाकृति, अभय, भूमिस्पर्श एवं धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि मुद्राओं द्वारा जिस कुशलता से प्रदर्शित है, विश्व के कला-इतिहास में वह बेजोड़ है।

बुद्ध के जीवन दर्शन के दो आधार हैं : व्यक्ति और समष्टि। उनका अधिमय जीवन नितान्त एकांगी समाधिस्थ योगी जैसा अन्तर्मुख की ओर प्रवृत्त हो रहा है। उनके इस जीवन के परिचायक थेरवाद, बौद्ध धर्म एवं प्रियदर्शी अशोक की धर्मलिपियाँ हैं, जिनके अनुसार बुद्ध असाधारण लक्षणों से युक्त होते हुए भी मनुष्य हैं, देवता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा समष्टिमय पक्ष 'वहुजनहिताय' पर आधारित है। उसमें प्राणिमात्र की कल्याणकामना एवं प्राणिमात्र की दुःखनिवृत्ति की उच्च भावना समाविष्ट है। इस दूसरी भावना में विश्वसेवा के उच्चादर्श विद्यमान हैं; जिनको क्रियारूप में उतारने का कार्य कृपाणवंश (जिसका स्थितिकाल पहली शताब्दी ईसवी से लगभग पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक पहुँचता है) और गुप्त-वंश (जिसकी स्थिति-सीमा ३२०-६५० ई० थी) ने किया। बुद्ध के जीवन-दर्शन के इन दो पक्षों में पहली परम्परा का विकास श्रीलंका, चर्मा एवं थाई देश में और दूसरी परम्परा का अनुवर्तन नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन, जापान आदि देशों में हुआ।

अजन्ता की महान् कला-मूर्तियों में भगवान् तथागत के जीवन-दर्शन के अधिमय और समष्टिमय दोनों आधार गुणित हैं। एक ओर जहाँ

तुद्र-जीवन की अन्तर्सुखी सर्वथा एकाकीपन से आविभूत प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं वहाँ दूसरी ओर 'यहुजनहिताय' की कव्याणकामना के भाव अजन्ता की कृतियों में स्पष्ट हैं।

अजन्ता का महान् कला-तीर्थ

मौर्य, शुंग, सातवाहन, हिन्दू, ग्रीक और कुपाण साम्राज्यों के बाद दृढ़ भारत के एकछत्र शासन का अधिकार गुप्त राजाओं के अधीनस्थ हुआ। गुप्त-साम्राज्य के सुशासन का उज्ज्वल परिचायक एवं अमर प्रतीक अजन्ता का कला-वैभव भारतीय-कला के इतिहास में और वहाँ से भी बढ़कर विश्वकला के सेत्र में अपना वेजोड़ स्थान रखता है।

भारतीय-कला का यह पावन तीर्थस्थल यग्वर्ह राज्य के औरद्वावाद जिले में स्थित है। अजन्ता की गुफाओं का निर्माण २०० ई० पूर्व के लगभग होना प्रारम्भ हो गया था और लगभग ७०० ई० की सुदीर्घ अवधि तक वहाँ पुनर्निर्माण, पुनरुद्धार एवं पुनःसंस्करण कार्य होते गये। सातवीं शताब्दी के बाद यौद्ध धर्म के विलुप्त हो जाने के कारण अजन्ता का यह कला-वैभव और उसके अभी-सु कलाकार धीरं होते गये और गुप्तों का प्रभुत्व समाप्त हो जाने पर अजन्ता का आकर्षण और भी मन्द पड़ गया। लगभग १९ वीं शताब्दी के मध्य भाग में अजन्ता-कला की असलियत फिर सामने आई और तब से लेकर आज तक संसार के सहस्रों कला-यात्री भारत के इस महान् कला-तीर्थ का पुण्य दर्शन करके कृतार्थ होते गये।

अजन्ता की चित्र-कला का सर्वेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उसकी चरम सीमा लौकिक जीवन की अपेक्षा अलौकिक सम्भावनाओं में हुई है। यह सही है कि अजन्ता का चित्रकार राजाओं, राजप्रासादों, नगरों, ग्रामों और सामान्य-असामान्य जन-जीवन के घटुत निकट है।

किन्तु ये सभी बातें तो उसके लम्बे मार्ग के विश्राम-स्थल हैं। उसकी मंज़िल, उसके उद्देश्य की निश्चित सीमा तो लौकिक वन्धनों से सर्वथा मुक्त है। प्रकृति के तादात्म्य को ग्रहण करने और मानव की हास्य एवं विनोद की प्रवृत्तियों को उभारने का जो प्रयास अजन्ता की चित्रावली में दिखाई पड़ता है, वह तो अभीप्सु के लिये एक प्रलोभन मात्र है। एक ऐसा सस्ता विनोद कि जिसमें सहज ही में उलझ कर जिज्ञासु आगे-आगे बढ़ता जाय और अजन्ता की कला के महान् अतीनिदिय उद्देश्य, उसके चरमोत्कर्ष का पता लगाने के लिये अब हो उठे, बेचैन हो जाये।

अजन्ता की चित्रकला का सौन्दर्य-बोध करने के लिये उसकी पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है। अजन्ता की चित्रावली में कई संशोधन, संस्करण और परिष्करण हुए हैं। उसमें हमें जो अनेकता का आभास होता है, उसका कारण यह है कि उसने अनेक हाथों का स्पर्श पाया है, जिससे कि उसमें सौन्दर्य-बोध की विभिन्न सूचियों का समावेश पाया जाता है। अजन्ता चित्रावली का अध्ययन करनेवाले कलाविद् विद्वानों की राय है कि उसमें लगभग बीस विचित्र शैलियाँ देखने को मिलती हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि जिस भी कलाकार का इसमें हाथ लगा, उसी ने उसके रङ्गों, रेखाओं एवं आकृतियों को विकृत नहीं बरन् परिष्कृत किया है, क्योंकि वे सभी कलाकार अपने फ़ृत में पूरी तरह माहिर थे।

अजन्ता की चित्रावली में जीवन के अनेकमुखी तरव समाविष्ट हैं। उसके निर्माताओं ने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर हटिपात किया है। नगरों के विलासरत नागरिक, गाँवों में शान्त जीवन व्यतीत करते हुए ग्रामीण, भीख माँगते हुये भिखारी, मछली पकड़ते हुये मछुवे, शिकार अजन्ता की चित्रकला

करते हुए व्याघ, युद्ध करते हुये सैनिक, राजभवनों में विलासरत राजा, राजमहिपर्याँ सभी पर अजन्ता के चिन्ह-वितान की इन विविधताओं ने उनको सभी तरह की रुचियों के लिये आकर्षक बना दिया है। हर प्रकार की अभिव्यक्ति के पीछे जीवन का वृहद् रूप छिपा है, जिसकी प्रकान्त गति और परिणति आध्यात्मिक उन्नयन के अङ्क में जाकर पूरी होती है।

जैसा व्यष्ट किया गया है कि अजन्ता की कृतियों का निर्माण न सो एक समय में हुआ है और न ही उनको किसी एक व्यक्ति या शासन ने निर्मित किया है, विविध उसमें सातवाहन, शूक्र, वाकाटक, चालुक्य तथा गुप्त आदि विभिन्न राजवंशों की संस्कृति घोलती है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि अजन्ता के सारे कला-वैभव का अर्जन एवं घर्वन राज्याश्रय में ही सम्पन्न हुआ। हमें तो ऐसा लगता है कि अजन्ता की चित्रावली के निर्माण में स्वतन्त्र रूप से साहित्य और संस्कृति का प्रचार-प्रसार करनेवाले तत्कालीन विद्वानों का अधिक हाथ था। बौद्ध स्थविरों एवं कलाविद् आचार्यों ने भी अजन्ता के निर्माण में अपना पूरा योग दिया। इन बौद्ध मिश्रों में महायान-शाखा के मिश्रों की अधिकता थी। इतनी महान् कलाकृतियों के निर्माण में राजपालित पेशेवर कलाकारों की अपेक्षा उन स्थागी, तपस्वी संन्यासियों की साधना अधिक दिखाई देती है, जिन्होंने यश-अपयश, हानि-लाभ और राग-द्वेष पर सर्वथा विजय प्राप्त कर ली थी। अजन्ता की चित्र-रचना में अक्षय सौन्दर्य और अमिट कला-नृपण का एकमात्र रहस्य भी यही है कि उसके निर्माता जीवन्मुक्त ऐसे सन्त, साधु, फ़कीर और संन्यासी थे, जिन्होंने उन तमसाच्छ्रुत गुफाओं में दीपक जलाकर या मशालों के प्रकाश में दिन एवं रात निरन्तर अम कर विश्व को चकित कर देने वाले इतने महान् कला-मण्डप का निर्माण किया।

अजन्ता के चित्रकारों ने अपनी प्राणवंत रेखाओं द्वारा दर्शक को जैसे चित्रकला के साक्षात् स्वरूप का दर्शन करा दिया है। उनके अंग-प्रत्यंगों की दर्शनीय चक्राकृति (Modelling), प्रभावोत्पादकता (Values), उभार और स्थानोचित आस्फालन तथा आकुंचन घटी विद्यमान से अभिव्यञ्जित किया गया है। रंगों की हल्काई और गहराई का तो समाकरण है ही, साथ ही रेखाओं की गठन में छाया और प्रकाश (Shade and Light) का संयोग भी घटी सुन्दरता से दर्शाया गया है। हस्त-मुद्राओं द्वारा नानाविध भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन अतीव सौन्दर्यता से चित्रित किया गया है।

हस्त-मुद्राओं का जिवना लचीलापन अजन्ता की चित्रावली में दर्शित है, वैसा भारतीय कला की किसी भी शाखा में नहीं दिखाई देता है। नारी-छवियों का पेसा निर्देशन अन्यत्र देखने को कम मिलता है। अजन्ता की नारी-मूर्तियाँ कला की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं।

इन चित्रों की सबसे घटी विशेषता तो यह है कि इनमें चित्र-कला और मूर्तिकला का उभयविध वैभव एक साथ समन्वित हो गया है। पेसा प्रतीत होता है, जैसे अजन्ता के चित्रकारों ने अपनी सारी प्रतिभा को अजन्ता के चित्र-सौन्दर्य में समेट कर प्राणवन्त कर दिया हो।

अजन्ता के चित्र-वितान में नारी का स्थान बहुत महस्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह नहीं कि नारी को चित्रकार किसी विशेष दृष्टि से देखते थे अपितु यह कि अजन्ता में नारी विशिष्ट व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु एक सिद्धान्त के रूप में है जो सार्वभौम सौन्दर्य की प्रतीक है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि अजन्ता के चित्रकारों का सौन्दर्य-धोध अजन्ता की चित्रकला

अपरिमित है। सर्वंत्र जो सीमाहीन सौन्दर्य उसमें व्याप्त मिलता है, उसकी व्यंजना का साधन नारी है; जिसमें ऐंद्रिय आकर्षण की अपेक्षा आध्यात्मिकता का अधिक स्थान है। अजन्ता की नारी गौरव और गरिमा से भूषित आकर्षण का स्रोत है।

भारतवर्ष की गणना सम्यता के प्राचीनतम केन्द्रों में है। मिस्र और ईराक की भाँति इस देश में भी ईसा से तीन-चार हजार वर्ष पहले सम्यता का पुष्प प्रस्फुटित हुआ, जिसके स्मारक, गवेषकों की कुदाल ने हड्डपा, मोहनजोद्दो आदि स्थानों में भी कुछ समय पूर्व मूर्गार्भ से खोदकर निकाले हैं। सिन्धु-घाटी की इस विकासित नागरिक सम्यता का अन्त लगभग सन् १५०० ई० पूर्व के हुआ। किस प्रकार हुआ, यह ठीक-ठीक निश्चित करना कठिन है। तत्पश्चात् आर्य जाति के लोगों ने नए सिरे से हिन्दुतान में सम्यता का निर्माण प्रारम्भ किया। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि सिन्धु-घाटी की सम्यता के तत्त्व समूल नष्ट हो गए; बहुत-कुछ अंशों में वे बने रहे और भारतवर्ष के आगामी सांस्कृतिक विकास में उनका योग बहुमूल्य रहा परन्तु हड्डपा और मोहनजोद्दो के अद्दय हो जाने के पश्चात्, उनकी जीवनी शक्ति बहुत कम पहुँच गई थी। आर्य लोगों ने नए सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश करने के साथ-साथ प्राचीन परम्पराओं में भी नवीन चेतना का संचार किया और इस प्रकार फिर से भारतवर्ष में सम्यता का विकास सम्भव हो सका। यह पुनर्निर्माण का कार्य पूर्ववैदिक-काल और उत्तर-वैदिक काल में स्थिर गति से आगे बढ़ता हुआ भगवान् गौतम बुद्ध और महावीर के आनंदोलनों से बल प्राप्त करता हुआ, अन्ततः मौर्य साम्राज्य के काल में पूर्णतया फलीभूत हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि मौर्यकाल में सम्यता का पूरा-पूरा विकास तो हो चुका था, नागरिक तत्त्व भारतीय जीवन में फिर से पुष्ट

हो गया था, क्षित्या, साहित्य और दृश्यंन की परम्पराओं का पर्याप्त विकास हो चुका था, अन्तरदेशीय और अन्तर राष्ट्रीय घ्यापार सुहड़ा आधार-भित्तियों पर स्थापित हो चुके थे और भारतीय शासन-तन्त्र की रूपरेखा भी पूर्णतया निर्धारित हो चुकी थी; परन्तु यह आक्षर्य का विषय है कि इस काल तक हमें भारतवर्ष में चित्रकला के विकास का कोई असंदिग्ध प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। मध्य-भारत में पठार में कुछ गुहा-संश्रयों में ऐसे चित्र अवश्य मिले हैं, जिन्हें कुछ कला-समीक्षकों ने प्रारंतिहासिक काल का निर्णीत किया है परन्तु यह विवादास्पद है। प्रारंभिक धौङ्क-ग्रन्थों में चित्रकारी का उल्लेख हुआ है परन्तु इनका रचना-काल भी इसी प्रकार विवाद का विषय है। तित्वती लेखक लामा तारानाथ ने लिखा है कि सन्नाट् अशोक के समय में महान् चित्रकारों ने भित्तिचित्रों का रचना की थी, परन्तु इस कथन की पुष्टि किसी स्वतन्त्र साध्य से नहीं होती। मौर्य वंश के राज्यकाल में भारतीय स्थापत्य और तत्त्वण का अपूर्व विकास हुआ, परन्तु चित्र-कला के चेत्र में भी कोई उल्लेखनीय प्रगति हुई हो, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। ऐतिहासिक युग में भारतवर्ष के चित्रकला के सर्वप्रथम उदाहरण जोगीमारा की गुफाओं में से मिलते हैं जो कि सम्भवतः ई० पू० की दूसरी अथवा पहली शताब्दी में हैं। इन चित्रों में मानवीय आकृतियों में जानवरों, प्रासादों और ज्यामितिक डिजाइन आदि का अंकन हुआ है, जिनमें पर्याप्त कला-वासुर्य परिलक्षित होता है।

इसके बाद इतिहास हमें अजन्ता की ओर ले जाता है जो भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ कला-तीर्थ है। वैसे तो अजन्ता की २८ या २९ गुफाओं में स्थापत्य, तत्त्वण और चित्रकला तीनों का अपूर्व सामर्ज्य है, परन्तु उसकी अन्तरराष्ट्रीय घ्यापार सुख्यतया उनके चित्रों पर ही अजन्ता की चित्रकला

भाधारित है, जिन्हें देखने के लिये संसार के कोने-कोने से प्रतिवर्ष सहस्रों यात्री भारत आते हैं। इन गुफाओं का निर्माण ई० पू० दूसरी घा पहली शताब्दी से लेकर ई० की सातवीं शताब्दी के मध्य तक के दीर्घकाल में समय-समय पर हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रारम्भिक गुफाओं का तच्छण ई० की दो शताब्दियों तक हुआ। तत्पश्चात् लगभग दो सौ वर्ष या ढाई सौ वर्ष तक, किसी अज्ञात कारणबश, कार्य स्थगित रहा और फिर द्विगुणित उत्साह के साथ लगभग सन् ४५० से सन् ६५० तक चलता रहा। अजन्ता की कछाई इस प्रकार दो स्पष्ट युगों में विभाजित की जा सकती है। दोनों युगों में कछाकारों को प्रेरणा वौद्धधर्म से प्राप्त हुई। अजन्ता घस्तुतः वौद्ध कला का ही केन्द्र है। पहले काल के कलाकार हीनयान मत के अचलम्ब्नी थे और दूसरे काल के महायान के। अजन्ता का मण्डप उन्हीं की प्राणवंत साधना और अद्वा का परिणाम है।

विषय की इटि से हम अजन्ता की चित्रावली को तीन प्रमुख भागों में वॉट सकते हैं। कुछ चित्र ऐसे हैं, जिन्हें कथा-चित्र कहा जा सकता है जिनमें वौद्ध जातक ग्रंथों से या भगवान् बुद्ध के जीवन से किन्हीं सर्वविद्वित घटनाओं का कथा के रूप में निरूपण किया गया है। चित्रों का अधिकांश इसी प्रकार है। ऐसे चित्र सम्भवतः कहीं दलों में विभक्त करके चित्रित किये गये हैं, जो घटना के तारतम्य से सम्बन्धित हैं। दूसरे जिन्हें हम पृथक् चित्र कह सकते हैं, किसी कथा के अङ्ग नहीं हैं। उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इनमें मुख्यतया बुद्ध और बोधितर्खों की आकृतियाँ, राजाओं और रानियों की आकृतियाँ, गन्धर्व दृश्यादि की प्रतिच्छायाएँ और इसी प्रकार के विषय हैं। तीसरी कोटि में आलंकारिक चित्र भी हैं। वैसे तो प्रथम दो कोटियों में भी आलंकारिक

लघु चित्रों और डिजाइनों की कमी नहीं है। हँहीं तीन प्रकार के चित्रों से मिलकर अजन्ता के चित्र-वैभव की सृष्टि की गयी है।

तीनों कोटियों की अपनी विशेषताएँ हैं और तीनों में ऐसे चित्र सम्मिलित हैं जो अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। उदाहरणार्थ कथा-चित्रों में गुफा-संख्या १० के छुदन-जातक का चित्र है, जिसका घोतन अब एक अवशिष्ट हस्ती-समूह से होता है। इसी में एक और एक विशाल जनसमूह का अङ्कन किया गया है, जिसमें सशस्त्र सैनिक और नारियाँ भी सम्मिलित थे। यह चित्र अब अधिकांशतः मिट चुका है, परन्तु जो कुछ बचा है, उससे कलाकार के असाधारण दार्शिण्य का स्पष्ट परिषय मिलता है। इसी प्रकार ब्राह्मण-जातक हृत्यादि द्विवी जातक, मातृपोरु-जातक, शरभ-जातक हृत्यादि का भी चित्रीकरण किया गया है और बुद्ध के जन्म, सप्तपदी, तपस्या, निर्वाण, भार-विलय हृत्यादि घटनाओं को तूलिकावद्ध किया गया है। जैसा हम कह चुके हैं, इस प्रकार के चित्र कई खण्डों में विभक्त हैं, जिनमें धारावाहिकता है। स्थान की कमी के कारण हनमें भीड़-भाड़ दिखलाई पड़ती है, परन्तु इसके कुप्रभाव को दूर करने के लिए प्रधान पात्रों को अधिकांशतः फ़ोर प्रारूपण में और दूसरों से अपेक्षाकृत धड़ा बनाया गया है।

कला की हृषि से दूसरी कोटि के चित्र इन चित्रों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं। उदाहरणार्थ गुहा नं. १ में बोधिसत्त्व पद्मपाणि का जगद्-प्रसिद्ध चित्र है, जिसकी त्रुलना योग्य समीक्षकों ने सिस्तीन चैपेल में मिलनेवाली मैकेल पुस्तिलो की कृतियों से की है। बोधिसत्त्व के शरीर की किंचित् तिर्यग् भङ्गिमा और मुख की करुणार्द्ध मुद्रा देखने योग्य है। कहा जाता है कि जिस अंग्रेज व्यक्ति ने सूअर के पीछे आगते हुए, सर्वप्रथम अजन्ता का पता लगाया था, वह इस चित्र को देखकर स्तम्भित रह

गया था। महायान-मत में वौधिसत्त्व अपरिमित करुणा और सौहार्द की मूर्ति माने जाते हैं। कहा जाता है कि वे स्वयं जब चाहे निर्वाण धर्मात् पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु वे कभी ऐसा नहीं करते। उनका जीवन 'सर्वजनहिताय' और 'सर्वजनसुखाय' है। जब तक ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसा प्राणी रहेगा जो निर्वाण न पा सका हो, तब तक वे स्वयं निर्वाण ग्रहण नहीं करेंगे और अपने सद्वित पुण्य का दूसरों में वितरण करते रहेंगे, दूसरों के लिए संसार का कष्ट श्लेष्टते रहेंगे। वौधिसत्त्व की यह उदार कल्पना इस चित्र में सजीव हो रठी है। आदर्श और भावप्रवणता का ऐसा विलक्षण संयोग शायद ही कहीं अन्यत्र देखने को मिल सकेगा। दूसरे प्रमुख विदिषा चित्रों में मरणासङ्ग राजकुमारी, कृष्णाधरी और श्रींगार करती हुई राजकुमारी का उम्मेल किया जा सकता है। इनमें से प्रथम की तो कलाविदों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जीवन की अन्तिम घडियों में राजकुमारी की देहयष्टि में मृत्यु की अलसता जैसे स्पष्ट दिखाई पड़ती है और साथ ही पास बैठी हुई दासियों की करुण और आद्रं मुदा दर्शनीय है। माता-पुत्र नामक चित्र में भी भावाद्वन् का विलक्षण चातुर्य दिखलाई पड़ता है। सम्मुख खड़े हुए भगवान् छुद तो आर्कषक हैं ही, इनसे भी अधिक आर्कषण का केन्द्र स्वयं माता और पुत्र हैं जो पृकटक असीम अद्वा और भक्ति के साथ भगवान् की ओर निहार रहे हैं। हैवेल साहब ने इस चित्र की मुलनां वेलिनी के चित्रों से की है और श्री लारेन्स विनियोन के शब्दों में यह ऐसी कृति है, जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

आलक्षणिक चित्रों की विपयावली वही विविध है। प्रकृति की असीम सम्पदा से चुन-चुन कर कलाकारों ने उपकरणों का विन्यास किया है। पश्च, पश्ची, फल, फूल, घृत, छतायें, बादल, नदियाँ, पहाड़, नद्दियाँ सभी को अलक्षण के लिए काम में लाया गया है। मानवी

आगृहितियों और ज्यामितिक डिज्ञाइन भी यत्र-यत्र काम में लाए गए हैं। पशुओं में बैल, बन्दर, लंगूर, हाथी इत्यादि का प्राधान्य है। गुहा नं. १ के कोष्ठक में दो लड़ते हुए बैलों का जो लघु चित्र है, वह अपनी शैली की एक अनुपम कृति है। पश्चियों में मोर, तोता, हंस, कोयल, हरियल इत्यादि बार-बार आए हैं। फलों में आम, अंगूर, अजीर, शरीफा, नारियल, केला इत्यादि का अपूर्व दर्जता से चित्रण किया गया है। फूलों में कमल का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। कहा जाता है कि यदि कलाकारों ने इस अकार केवल फलों के ही चित्र बनाए होते, तब भी श्रस्तिदि के भाजन हो सकते थे।

यह उचित ही है कि अजन्ता के कला-मण्डप को संसार-व्यापी यश प्राप्त हुआ है। सर जार्ज वाट जैसे कुछ लेखकों को अजन्ता की कला में कोई विशेष धात नहीं दिखलाई पड़ती है परन्तु अन्य योग्य समीक्षकों ने इसकी गणना विश्व की श्रेष्ठतम कृतियों में की है। ग्रायफिथ लेफ्टी हैरिंगम, लारेन्स विनियोन, कर्ड रूयातनामा मनोविदों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है और उस जागृतिकालीन यूरोप की चित्रकला से भी इसको श्रेष्ठतर ठहराया है। अतएव यह देखना चाहिए कि सामूहिक रूप से अजन्ता में वे कथा गुण हैं, जिनके कारण उसको यह प्रभूत श्रेय मिल सका है। चित्रावली का विश्लेषण करने से पता लगता है कि इसके आकर्षण अथवा उस्कृष्टता के प्रमुख स्रोत मुख्यतया निम्नलिखित हैं :

१. भाव-प्रवणता : हादिक और मानसिक भावनाओं की प्राज्ञल अधिना ही अजन्ता की चित्रकला का सर्वश्रेष्ठ गुण और उसके यश का प्रमुख आधार है। शान्ति, करुणा, उत्सास, स्थिरता, सौहार्द, भक्ति, अलसता, विकलता इत्यादि का समीचीन व्यक्तिकरण अजन्ता में हुआ है। पश्चापाणि बोधिसत्त्व की करुणा, मरणासन्न राजकुमारी की अलसता और उसके अनुकरण की विकलता, भगवान् बुद्ध की मुद्रा की शान्ति,

मात्रा और पुनर की अद्वा, सभी ऐसे अनमोल रथ हैं, जिन्हें कलाकारों ने अपने अद्वालु दृश्यों की गहराई से ढूँढ़ कर निकाला है। वस्तुतः यह भावप्रवणता ही अजन्ता की आत्मा है, जिसके बिना उसकी कला निप्पाण काया की भाँति त्याज्य होती। यह सर्वविदित है कि भगवान् बुद्ध के धर्म में अहिंसा, मैत्री, करुणा, सुदिता और उपेक्षा में उच्च गुणों पर अत्यधिक जोर दिया गया है और इन्हीं से सम्बन्धित भावना अजन्ता की बौद्ध कला में है।

२. रेखा-सौष्ठव : कलाकारों का रेखाओं पर असाधारण अधिकार था। चित्रों के Modelling, relief, values or light तथा Shade के लिए पूर्ण दक्षता के साथ रेखाओं का प्रयोग किया गया है, जिनमें कहीं भी भारीपन या सङ्केत दृष्टिगोचर नहीं होता।

३. रङ्गों का सामर्जस्य : अजन्ता की एक मात्र विशेषता है रङ्गों का सामर्जस्य, जैसा कि श्री पृष्ठसेल जार्ब का कहना है : अजन्ता में रङ्ग इसी विस्तार के साथ अन्य देशों के प्राचीन चित्रों की अपेक्षा गहरे परन्तु शुद्ध हैं। गेहूआ, रामरज, काजल, हरे और नीले रङ्ग ही विशेष कर प्रयुक्त किये गए हैं परन्तु रङ्गों के Combination में पूरे विवेक से काम लिया गया है, जिस कारण चित्रों में अपरिमित, विविधता उत्पन्न हो गयी है। रंग गहरे होने पर भी उनमें कहीं भारी-पन नहीं आने दिया गया है।

४. रूटिहीनता : अजन्ता के चित्रकार पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। विषयों की पुनरावृत्ति बहुत हुई है, परन्तु विभिन्न चित्रकारों ने अपने-अपने रङ्ग से अद्वन किया है। अनेक विशिष्ट शैलियाँ अजन्ता में दृष्टिगोचर होती हैं। लेद्दी हेरीहाक का कथन है कि केवल रेखाओं की विभिन्नता के आधार पर ही अजन्ता में कम से कम बीस शैलियाँ निर्धारित की

जां सकती हैं और यदि रङ्ग-सामर्ज्जस्य (Colour scheme) पर ध्यान दिया जाय तो इससे भी कहीं अधिक। अजन्ता की चित्रकला केवल एक साँचे में बँधी हुई—अनुकृति—न होकर, कलाकार की वास्तविक उदात्त कलाचृति का परिणाम है। उनकी आन्तरिक प्रेरणा का प्रत्यक्ष रूप है। रुदिवद्वता अजन्ता में यदि कहीं दिखाई पड़ती है तो केवल आलङ्कारिक चित्रों में ही—परन्तु यहाँ भी बहुत-कुछ मौलिकता के दर्शन हो ही जाते हैं।

५. कठिन नीतियों का विश्लेषण (Delineation of difficult poses) : यह भी अजन्ता की चित्रावली का एक विशेष गुण है। उदाहरणार्थ पाँव मोड़े हुए खेमे के सहारे खड़ी एक स्त्री और छला छलती हुई एक मात्र स्त्री के चित्रों की समीक्षकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

६. जीवन का प्रतिविम्ब : अजन्ता में कला-यात्री को जीवन का हर पहलू दिखाई पड़ता है। नगरों में विलासरत नागरिक, गाँवों में शान्त जीवन व्यतीत करते हुए आमीण, भीख माँगते हुए भिखारी, मछुए, शिकार स्तेलते हुए व्याध, युद्ध करते हुए सैनिक, प्रासादों के निवासी, राजा और रानियाँ, सभी अजन्ता में देखे जा सकते हैं। इसी कारण अजन्ता को कभी-कभी गुप्तकालीन भारतीय जीवन का विश्वकोप भी कहा जाता है। जो दर्शक कला में विशेष रुचि नहीं भी रखते हैं, उनको भी अजन्ता का यह पहलू आकर्षित किए विना नहीं रहता।

७. हस्त-सुदाओं द्वारा भाव-प्रदर्शन : भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अजन्ता में जिन उपादानों का प्रश्न्य लिया गया है, उनमें हस्त-सुदाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि यह ठीक है कि इस दृष्टि से अजन्ता की चित्रकला

मुख की मंगिमा और नेंद्रों के लास को ही प्राधान्य प्राप्त है, परन्तु हस्त-मुद्राओं का महत्व भी इस दृष्टि से कम नहीं है। शास्त्रोक्त मुद्राओं के प्रायः सभी प्रकार यहाँ दृष्टिगोचर होते हैं और उनसे गति, स्थिरता, मन्थरता, चापल्य, आलोटन इत्यादि का पूरा-पूरा परिलक्षण होता है। हस्तमुद्राओं का छेत्र केवल चित्रकला तक ही सीमित नहीं है, प्रस्तर मूर्तिकला और मृण्मयिति कला में भी इसका उपयोग बहुत किया जाता है।

अजन्ता की चित्र-कला का महत्व धार्शत और चिरन्तन है। इसका स्थिरकाल यद्यपि बाज से लगभग तेरह सौ वर्ष पहले समाप्त हो चुका था, परन्तु फिर भी उसकी नवीनता में कोई कमी नहीं आई है। लाधुनिक युग में भी अजन्ता कला की प्रेरणा का एक महान् खोत है। अनेक रथातनामा चित्रकारों ने अपनी कला को इस पर आधारित करने की भी चेष्टा की है। विशेष कर स्वर्णीय ढाठ अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के नेश्वर में गो वंगाल में, और उनके प्रमुख से सम्पूर्ण भारत में ही, एक ऐसी कला-शैली का चीसर्वाँ द्वाताळी में प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी भारतीय और धार्य रूप दोनों अजन्ता के ही हैं, जिसको वस्तुतः अजन्ता का पुनर्जागृत स्वरूप ही कहा जाता है। कला के पारस्परी और उपासक जघ तक यने रहेंगे, तब तक अजन्ता की महिमा भी अद्भुत यनी रहेगी।

अजन्ता के स्वरूप शिल्प की विवासन : भारतीय गुफा-चित्रों की इस परम्परा का प्रतिनिधित्व अजन्ता के थाद थाघ की गुफा की कला में देखने को मिलता है। थाघ की गुफाओं के इन भित्तिचित्रों का निर्माण लगभग ६००-१००० ई० के बीच हुआ। थाघ की ये मम्प गुफाएँ मध्यप्रदेश राज्यालियर में हैं, जिनकी संख्या ९ है।

बाब के बाद घादामी-गुफाओं का क्रम आता है। वर्षवर्ष के अहहोल नामक स्थान के पास घादामी की गुफाएँ चर्तमान हैं। यहाँ पर चार गुफा-मन्दिर चालुक्य राजाओं ने निर्मित करवाए थे। घादामी के गुफा-मन्दिरों के भित्तिचित्र अपने युग की सर्वोत्कृष्ट अवलोकनीय चर्तु हैं। यहाँ के चित्रों में नारी-सौन्दर्य का अंकन उच्च कोटि का है।

पाब और घादामी के बाद सितवनवासल के भित्तिचित्र उच्छ्वेसनीय हैं। यह स्थान मदास से तंजौर के निकट स्थित है। सितवनवासल में पञ्चव-नरेश महेन्द्र घर्मा प्रथम और उसके पुन्न नरसिंह घर्मा (दोनों का समय ६००-६५० ई०) ने कुछ गुफा-मन्दिरों का निर्माण करवाया था, जिनके भित्तिचित्र यदे ही उच्चकोटि के रहे होंगे। इन चित्रों की शैली अजन्ता की शैली से पूर्ण साम्य रखती है। इन चित्रों में भाव-प्रदर्शन की मुद्राएँ अति ही मोहक हैं। इनमें जैन-धर्म से सम्बद्ध भी कुछ चित्र हैं।

भारतीय भित्तिचित्रों की गणना में एलोरा के चित्रों का एक निजस्व है। यह स्थान अजन्ता से लगभग ५० मील की दूरी पर वर्षवर्ष राज्य में ही स्थित है। एलोरा का चित्र-वैभव अपने ढंग का अलग है। एक पूरे के पूरे पहाड़ को काटकर उसमें इन अद्वितीय मन्दिरों का निर्माण किया गया है। ये चित्र आठवीं से दसवीं शताब्दी के बीच के हैं। इन मन्दिरों के भित्ति-चित्रों में कैलाशनाथ, लोकेश्वर, ईन्द्र-समा और श्रीगणेश के चित्र अधिक आकर्षक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एलोरा की चित्र-रचना से अजन्ता की चित्र-शैली का हास होने लग गया था।

इस प्रकार भारतीय चित्रकला और विशेषतः अजन्ता का कला-विद्यान विश्व के कलासंच पर अपना पृथक् स्थान रखता है।

पहाड़ी चित्र-शैली : दिशाएँ और संभावनाएँ

इस धरती पर आकर मनुष्य ने अपने विचारों, संस्कारों और अनुभवों का परिप्रकरण करना क्य से आरम्भ किया, इसका साफ्य देने वाले इतिहास के विभिन्न पहलुओं में कला-कृतियों का प्रमुख योग है। युनियो के इतिहासकारों की गवेषणाओं एवं पुरातत्वज्ञों के निष्कर्षों से ज्यदा यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य इस धरती पर कलाकार होकर उत्तरा था। कदाचित् यही कारण है कि कला के प्रति अपनी जन्म-जन्म की अभिरुचि को मनुष्य आज तक भी नहीं सुला पाया है।

भारत की सदाशिव दास्यशामना परती का प्रभाव उसके नला-परातल पर भी स्पष्ट छहित है। विभिन्न युगों की उदा-उदा परिस्थितियों का दाय मारते क्षयापक कलागत्र ली घडार-दीपारियों पर अपना विगत द्वितीय समेटे अपनी कदानी दो स्वयं दी यता रहा है। भारत के हर षुष्ठव् बलामन की गूरी परिकल्पना मन्त्रपत्र तिष्ण धर्म उसके पृक्खों से कष्ट का पर्याप्तज्ञ रह देना मात्र ही यहाँ दमाना अभिवेत है।

भारतीय चित्रकला के द्वितीय में मध्ययुग का अपना चेजोद्धरण रहा है। भारत में मुगल-महलनात की प्रतिष्ठा हो जाने के पाद मध्ययुग की नीव पहरी। अपने हज़र विदेशी स्वामियों की आधीनता में भारतवासियों को यथापि पर्याप्त धातुविधायें दरानी पहरी, किन्तु यावर, हुमायूँ, अकब्दर और जहाँगीर दौसे दूरदर्शी पूर्वं उदासमना शासकों के मंत्रसंग में जनता के भीतरी भय तारा उनकी प्रामिक कलाजोरियों धीरे-वीरे जाही रहों। उसका कारण मुगल शासकों की उदार नीति थी। धनक्षयर में समन्वय की मात्रना अधिक भी। हज़र मुगल यादगारों की पृक्ख यही गूरी यह भी कि वे स्वयमेव कलाप्रिय और नलाकारों का भादर करने वाले थे। हज़रके कला-कष्टों में ऐक्कों कलाकारों ने आश्रय पाया था। हज़र फलाकारों में पृक्ख तिराई मुमठमान धीर धारी हिंदू थे।

लेकिन, औरक्कंजेय के गमजोर हाथों में जाते ही। मुगल-महलनात का महान् चैम्प गर्वधा लीण हो गया। उसकी गकीर्ण मनोवृत्तियों और ऐटे कायों ने उसको पृक्ख अस्त्रा शासक हीने से रोक दिया। हरना ही होता तो गनीमत थी। उसकी फलाकुस्ता पूर्वं अविनीत स्वभाव के कारण जितने भी मुमठिवर या कलाकार उसके यहाँ संरक्षण पा रहे थे, वे भी पृक्ख करके वहाँ से खिदा होने द्ये।

मुगल-चित्रकला के निर्माणकर्ता कलाकार अपने आश्रयदाता दाहशाहों का अनुकूल रुख न देपकर अपनी कार्य-कुशलता के घल पर

पहाड़ी चित्र-शैली : दिशाएँ और संभावनाएँ

विभिन्न रजवाही में सरलता ही से शरण पा गये, पूरब में वै लखनऊ, पटना; उत्तर में कास्मीर, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल; पश्चिम में राजस्थान, पंजाब और दक्षिण में महाराष्ट्र, तंजोर एवं भैसुर तक के सुदूर भू-भागों में बसकर कला के लेन्ड्र में नये प्रयोगों, नई निष्पत्तियों के निर्माण में जी-जान से जुट गये। यह समय चित्रकला के पुनरुत्थान का समय था।

भारतीय चित्रकला के लेन्ड्र में अभूतपूर्व सूचियों को जन्म देने वाली पहाड़ी चित्र-शैलियों के आविर्भाव का समय भी यही है। पहाड़ी चित्रशैली की आवास-भूमि हिमाचल का विस्तृत भू-भाग—जम्मू, टेहरी, गढ़वाल, पठानकोट, कुसू, चम्बा, चसौली, काँगड़ा, गुलेर, मण्डी आदि के पर्वतीय हठाके हैं। यद्यपि इन पर्वतीय हठाकों में भौगोलिक हृषि से कम साम्य है, फिर भी पहाड़ी चित्रकला के हृतने व्यापक ग्रभाव को देखकर आश्चर्य होता है।

यद्यपि पहाड़ी चित्रशैली का निर्माण सत्रहवीं शती के मध्यभाग ही में हो चुका था, किन्तु अठारहवीं शती में पहुँचकर ही उसने लोक-प्रियता हासिल की। पहाड़ी शैली को इस लोकप्रिय अवस्था में पहुँचाने में राजस्थानी शैली ने उसकी घुरुत मदद की। यों भी कुछ कलायिदृ विद्वानों ने पहाड़ी शैली को राजस्थानी शैली से उन्नत माना है, किन्तु यह विचारणीय है। यद्यपि दोनों चित्र-शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उनमें अहुत-कुछ आपसी साम्य है, फिर भी निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि उनका विकास स्वतन्त्र ढंग से, अपने भौगोलिक घातावरण एवं अपने आवास की परिस्थितियों के अनुसार हुआ।

पहाड़ी चित्रशैली के पहले चिह्न यद्यपि पंजाब में प्रकट हुये, किन्तु हिमालय के विस्तृत अञ्चल में वसे हुये विभिन्न पहाड़ी प्रान्तरों में

उसका विकास एक ही समय में हुआ और यहाँ तक कि उसका हास
भी लगभग एक ही साथ हुआ ।

पहाड़ी चित्रशैली के निर्माण में १७ वीं शताब्दी में निर्मित मुगल
शैली के यथार्थवादी चित्रों का अतिशय प्रभाव दिखाई देता है । पहाड़ी
कलम की रेखाओं के नुकीलेपन में और रझों की सजघज में भी मुगल
कला का दाय है । वास्तविकता तो यह है कि मुगलदरवारों से निराकृत
मुस़िवरों के पहाड़ी राज्याश्रयों में वस जाने के कारण ही, उन्हीं के
हाथों पहाड़ी शैली का निर्माण हुआ । इसलिये, पहाड़ी कलम में मुगल
प्रभावों की सम्भावना कुछ अस्वाभाविक नहीं थी ।

पहाड़ी शैली के चित्र यद्यपि पुराणों, महाकाव्यों और काव्यों पर
आधारित हैं; किंतु उनकी अधिकता हमें व्रजभाषा के कवियों के काव्यों
एवं कविताओं पर दृष्टांत-चित्रों के रूप में मिलती है । कुछ चित्र
लोक-कला, लोक-साहित्य और लोक-आचारों, कुछ नायिका-भेद और
बहुत-से उनके स्वरचित कवितों पर भी आधारित हैं । अजंता की
चित्रावली में जीवन्मुक्त साधु-संतों, महात्माओं, संन्यासियों और
भिषुओं के जो एकान्त भाव दर्शित हैं, उनमें जो साधना एवं स्वतन्त्र
कार्य-सृच्चि अभिव्यक्त है, पहाड़ी कला में भी कलाकार की वही आन्तरिक
इटि देखने को मिलती है । पहाड़ी शैली में भावों को सफलतापूर्वक
उतारने की ज़मता, प्रत्येक पात्र के गति-ज्ञान की इटि और प्राकृतिक
घटनाओं का चित्रण वही मार्मिकता से किया गया है ।

काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट श्रंगार की विभिन्न अवस्थाओं को रंग, रूप
और वाणी देने में पहाड़ी चित्रकारों ने असामान्य योग्यता दिखाई है ।
इसी प्रकार पट्-ऋतुओं, अष्टयाम, रागमाला, राग-रागिनियों और
नायिकाभेद आदि के चित्रण में भी पहाड़ी कलाकारों की अपनी खूबियाँ
पहाड़ी चित्र-शैली : दिशाएँ और संभावनाएँ

अलग ही स्थलकर्ती हैं। पहाड़ी प्रदेशों का तब तक अपना कोई उल्लिखित साहित्य नहीं था, हसलिए उन्होंने भी सूर, मीरा, केशव, विहारी आदि हिन्दी के मक्किकालीन पुंचं रीतिकालीन कवियों के अन्यों को साधार बनाकर चित्रों का निर्माण किया। रामायण और महाभारत के भी उन्होंने दृष्टान्त-चित्र उतारे; पर ग्रधानता उनकी नहीं रही।

झीने वस्त्रों की ओट में पारदर्शक अंगों की सुधराई दर्शित करने के लिए उन्होंने यत्न नहीं किया, यह मार्दव तो उनकी कलम में जन्मजात था। पहाड़ी शैली के चित्रकारों में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि उन्होंने जिस भी विषय का स्पर्श किया, उसीको अपनी अनूठी सूझन्वूझ, अपनी अभ्यस्त लेखनी और अपने कौशल से हद दर्जे तक पहुँचा किया। यह जानकर आश्चर्य होता है कि दैनिक जीवन के छोटे-छोटे किया-कलापों से लेकर पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, काव्य और कथा जादि सभी विषयों पर उन्होंने डेर-के-डेर चित्र बना दिए; और वे भी एक-से-एक उत्कृष्ट।

पहाड़ी चित्रकारों की एक विशेषता चित्रों की पृष्ठभूमि में प्रसंगानु-सार वातावरण को धौंघ देने में भी दिखाई देती है। विरह के भावों को दर्शित करने के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता है, संयोग-वस्था में वह सर्वया विपरीत हो जाता है। इसी प्रकार शान्त, शंगार, बीर आदि नव रसों के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण एक-सी विधियों पर नहीं किया जा सकता। पहाड़ी कलाकारों ने इन वारीक धातों पर ध्यान दिया। कहीं भी उनकी कलम में यह भूल कभी देखने को नहीं मिलती।

पहाड़ी चित्रशैली के निर्माणकर्ता कलाकारों के सम्बन्ध में कहा गया है कि पहाड़ी चित्रकारों ने हृदयगत भावनाओं और वास्तविक

अनुभवों को दर्शित करते हुए भावोद्रेक के यहे सुन्दर चित्र आके हैं। नायक-नायिकाओं की भी विविध मनोदशाएँ, केलि-क्रीडाएँ और जीवनोद्घास ज्यों-केन्यों हन चित्रों में उतारे गए हैं। भाव और सौन्दर्य की अनुभूति के योग से उनके धर्ण्य-विषय वही ही मधुरता और सज्जी लगन से चित्रित किए गए हैं। कहना न होगा कि ये पहाड़ी शैली के कलाकार अन्तर्वृत्तियों के निरूपक, कलागत सौन्दर्य के नाना भेदों के संवेदनशील दृष्टा, लौकिक और अलौकिक प्रणाय-छीलाओं एवं संयोग-वियोग की अन्तर्दशाओं के मार्मिक चित्रे, ग्रेमरससिक्त भीतर की उमंगों में पैठनेवाले और कला की चाहून्म्यता को रहस्यमय रंगों में संजोने वाले सच्चे, स्वच्छन्द कलाकार थे, संकरे चातावरण में पंख फड़फड़ाने वाले घन्दी नहीं।

इस दृष्टि से भारतीय चित्रकला के चेत्र में मध्ययुग का और उसमें भी पहाड़ी चित्र-शैलियों का महत्वपूर्ण योग माना गया है। पहाड़ी कलाकारों ने जीवन में लघुत्व की भावना को स्थान नहीं दिया। यही कारण था कि उनका कलाकारजीवन सीमित परिवेश ही में जकड़ा न रहा। भारत ही में नहीं, विदेशों के विस्यात कलाभवनों में भी कोई ऐसा नहीं बचा, जहाँ हन पहाड़ी चित्रकारों के चित्र सुशोभित न हों। यथापि उनके भौतिक शरीर काल के अन्तर में न जाने कहाँ, क्य विलुप्त हो गए, तथापि उनकी कलाकृतियों में आज भी उनके यशस्वी जीवन की कहानी सुरक्षित है।

-००५००-

भारतीय नृत्यकला

शोधकर्ता विद्वानों के मतानुसार नृत्यकला की जन्मतिथि श्रुति-कालीन है; किन्तु भाचार्य भरत (३० प० द्वितीय शतक) ही एक ऐसे विचारक दृष्टिगत होते हैं, जिन्होंने इस विषय की स्वतंत्र सत्ता प्रतिपादित की। 'भरत-नाट्यम्' के उपेक्षानुसार नृत्य और उसके परिपूरक अङ्गों—सङ्गीत एवं अभिनय-के आदिस्थान स्वयं दृष्टा हैं। उन्होंने चारों वेदों—ऋग्, यजु, साम और अथर्व—से क्षमशः खनि, अभिनय, सङ्गीत और रस का दोहन कर पृथक् पञ्चम वेद के रूप में मानव मात्र के विनोदार्थ नाट्यवेद की सृष्टि की। यशस्वी कलाकार भरत और उनके सौ पुत्रों द्वारा नृत्यकला अभिनीत हुई और आगे चलकर मत्त, कोहल

भट्ट, सारङ्गदेव और अगस्त्य प्रमृति आचार्यों ने इस कला को पूर्ण स्थायित्य प्रदान किया ।

कला का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है, अतः वह असुण, अनन्त और शाश्वत है । भारतीय नृत्यकला की उद्गम भूमि शिवस्वरूप ब्रह्म के चिर-कल्याणकारी भावोद्वेक में है । शाश्वत आनन्द के प्रतीक एवं विराट् मानवीय सृष्टि के स्थान शूलपाणि शङ्कर का लोकोपकारी स्वरूप ही भारतीय नृत्यकला का निजस्व है । शङ्कर का वही स्वरूप भाज भी एलोरा, एलिफेंटा, भुवनेश्वर तथा चिदम्बरम् आदि की मूर्तिकला में समाहित होकर हमारी सांस्कृतिक अभिरुचियों को अभिव्यक्ति कर रहा है । भारतीय कलाकारों ने नटराज शङ्कर का अनन्त रूप ही अपनी कलाभिलापा का चिरन्तन विषय बनाया और स्वयं शङ्कर को शान्त रस का अधिष्ठाता देवता मानकर इतर आठ रसों में उम्मकी मानसिक प्रकृतियों की कल्पना की ।

आचार्य भरत भारतीय नाट्यशास्त्र के आदि प्रणेता हैं । ‘भरत’ नाम के तीन अक्षरों में ही भारतीय-नाट्यकला की संपूर्ण महनीयताएँ समाविष्ट हैं, शास्त्रकारों ने जिनकी ध्युरपत्ति इस प्रकार की है—‘भ’ से अभिप्राय ‘भाव’, ‘र’ से अभिप्राय ‘राग’ और ‘त’ से अभिप्राय ‘ताल’ । इस अक्षरत्रयी में ही संपूर्ण भरतनाट्यम् का निष्कर्ष निहित है । भाव से आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों का ध्यान होता है और राग तथा ताल से वाचिक क्रियाओं का । भाव, राग और ताल ही नाट्यशास्त्र के प्रमुख तीन अङ्ग हैं, ‘भरतनाट्यम्’ में जिन पर गम्भीर प्रकाश ढाला गया है ।

नाट्य, नृत्य और नृत्त-विषयक व्यापक मीमांसा नाट्यशास्त्रकार की असामान्य विद्वत्ता की परिचायिका है । इन तीनों का सूधम अन्तर भारतीय नृत्यकला

इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है। अनेक पात्रों के सहयोग से नर्तकी 'नाट्य' का निर्वाह करती है। 'नृत्य' कथावद्ध होता है और उसके द्वारा देवी-देवताओं, वीर-वीराङ्गनाओं के जीवन-रहस्य संकेतों के माध्यम से घट्क किये जाते हैं। भावप्रधान होता हुआ भी यह राग और ताल से बद्ध होता है। 'नृत्त' में ताल तथा गति की प्रधानता होती है और क्रमशः गति की तीव्रता में ताल सज्जालित होता है।

भरतनाट्यम् के प्रधानतः तीन रूप हैं—‘जेठि स्वरम्’ ‘शब्दम्’ और ‘वर्णनम्’। इनका उपयोग क्रमशः संगीत, गीत और नृत्य के लिये किया जाता है। नर्तकी भारतम् में सम्पाद स्थिति में ऊँड़ी होकर हथेलियों को चन्दना की एक विशेष मुद्रा में ऊपर की ओर उठाती है और तदनन्तर बाई और ताल के अनुसार शनैः-शनैः पदपरिचालन करती हुई, अन्त में पृथ्वी पर पदार्धात् से नूपुरों को शब्दायमान कर नृत्य का भारतम् करती है।

भरतनाट्यम् विशेषतः दक्षिण भारत की देन है। वहाँ इसको 'केल' और 'निलम्ब' नाम से अभिहित किया जाता है। तामिल भाषा में यह 'कुयू' अथवा 'अटम्' से, जिसका अर्थ खेल है, सम्बोधित किया जाता है। नाट्यशास्त्र के पारंगत विद्वान् महर्षि ऋगस्त्य ने तामिल भाषा में 'भरतचूडामणि' नामक एक महस्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इसमें उन्होंने देवदासी-नृत्य और ताण्डव-नृत्य का विस्तृत विवेचन किया है। राजदासी, देवदासी और स्वदासी नाम से उन्होंने दासियों के तीन भेद किये हैं और ताण्डव-नृत्य का वारह प्रकार से उल्लेख किया है। इनके पूर्ववर्ती आचार्य भरत ने ताण्डव-नृत्य को नवरस-संयुक्त ही माना है और लास्य-नृत्य आठ प्रकार का ही, क्योंकि धीभरस-रस के अभिनय में पार्वती ने शक्ति का साथ न दिया था। यह

नृत्य शंकर ने पृक टांग उपर उठाकर सम्पन्न किया था। नारी होने के नाते पार्वती द्वारा इसका निर्वाह न हो सका।

दक्षिण भारत भारतीय नृत्यकला का प्रांगण माना जाता है। यहाँ के भारतीय नृत्य भारतीय लोक-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज भी नृत्यकला के प्रति वहाँ की चिर-आसथा वहाँ के देवमन्दिरों, भगवानशेषों पर किये गये उत्कीर्ण प्रकट करते हैं। नृत्यकला के प्रति वह अगाध मोह आज भी ज्यों-का-त्यों प्रतियिग्नित है। यहाँ के अस्त्रियु, आतिस्वरम्, शब्दति, वर्णय, विष्कम्भ और तिलाना नृत्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

केरल का 'कथकली-नृत्य' जगद्विख्यात है। राजा कोटारकारा ने 'रामनृष्टनम्' नाटक की रचना कर पहले-पहल कथकली नृत्य की कल्पना की थी। कथकली गीत, वाय और नृत्य का समन्वित स्वरूप है। यह एक शब्दरहित मूक नृत्य-नाट्य है। इसमें मुद्राओं की भाषा अतिगम्भीर, वेशभूषा अति कठोर और मुखाकृति अति भयावह होती है। प्रकारान्तर से यह एक दृश्यकाव्य है, जिसको नृत्य द्वारा वर्णन किया जाता है। इसके तीन रूप हैं—धार्मिक, सांसारिक और मिथित। क्रमशः तीनों के नाम हैं—पनपटु, तुस्मोहिनी और संघकाति। इसकी यह अपनी विशेषता है कि यह नृत्य पुरुष-प्रधान होता है और इसकी समाप्ति शोकान्त होती है। प्रायः इसके अभिनय में ५ से ९ घण्टे तक लग जाते हैं। कथकली का जन्मस्थल मालावार प्रान्त है।

बृहों की सघन ओट करके असंख्य दीपों की झिलमिलाहट में इस नृत्याभिनय का उत्सव मनाया जाता है। इसका कथानक श्लोक-थद्द होता है। श्लोक-उच्चारण के साथ-साथ अभिनेता अपने हाव-भावों द्वारा कथानक को प्रसङ्गानुसार प्रकट करता है। कथानक प्रायः रामायण और महाभारत से लिये जाते हैं।

खट्टक-नृत्य अति प्राचीन और बहुत विरप्यात् नृत्य है। इसका उद्गमन्थल उत्तरी भारत है। ज्ञाचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित विधानों के अनुसार ही उत्तर भारत में आज भी इस नृत्य का सफल अभिनय होता है। यह शास्त्रीय नृत्य है और इसके मूल में धार्मिक भावना निहित है। अंगूठे के अङ्गभाग के बल पर सारे शरीर का भार सेंभाले नर्तक या नर्तकी की शरीर-परिघालन-गति अत्यधिक साधित और इसीलिये सम्मोहक भी प्रतीत होती है। धारीकी इसमें इतनी है कि नर्तक-नर्तकी चाहे तो पैरों के द्वंघरु तक न हिलने दें। इसका प्रधान चाय ढोल होता है और क्रमशः नृत्य की गति उसी के स्वरों के अनुसार परिघालित होती है।

मैनपुरी नृत्य भी भारतीय लोक-नृत्यों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसका प्रधान विषय गोप-चालाओं और विशेषतः राधा के साथ किये गये, श्रीकृष्ण के ललित-लीला-रासों से सम्बन्धित है। शास्त्र में श्रीकृष्ण शाश्वत यौवन के प्रतीक माने गये हैं और श्री राधा तथा असंख्य गोपिकाओं में अप्रतिहत आनन्द की कल्पना की गयी है। मानव-इच्छाओं की प्रतिनिधि गोपिकाएँ शान्त और चिर-गम्भीर श्रीकृष्ण के तिरोभूत स्वरूप में समा जाने को आकुल रहती हैं और उनकी यह स्याकुलता तभी दूर होती है, जब श्रीकृष्ण उन्हें आत्मसाद् कर लेते हैं।

लता-मण्डप से सुसज्जित पूर्णमासी के द्युम्र प्रकाश में श्रीकृष्ण के वेणु-वादन के साथ-साथ ब्रज-वनिकाओं की छुनछुनाती पायलों में मैनपुरी नृत्य की आत्मा इवनित होती है। 'आज भी 'गीतगोविन्द' के अमर गीतों के साथ ब्रज-मूरि में धड़े समारोह के साथ मैनपुरी नृत्य का -महोत्सव मनाया जाता है।

इसी प्रकार वङ्गाल का जात नृत्य, मद्रास का परिमा नृत्य, नागपुर का संथाल नृत्य, मेचाइ का भील नृत्य, आन्ध्र का विशि-नाटकम् नृत्य, तमिल का तेहुटक नृत्य, करनाटक का यज्ञगण नृत्य और केरल का कृष्णनाव्यम् भारतीय लोक-नृत्यों के विविध रूप हैं।

भारतीय दर्शन में नारी को धक्कि और सौन्दर्य दोनों का प्रतीक माना गया है और आधार्य भरत ने इसी हेतु नृत्यकला की सम्पूर्ण सफलता एवं उसका यथोचित निर्वाह नारी के द्वारा ही स्वीकार किया है। यही कारण है कि बहुत प्राचीन काल से ही नृत्यकला में नारियों का प्रमुख भाग रहा है। भगवती पार्वती तो लास्य-नृत्य की अधिष्ठात्री देवी हैं ही और उनकी शिष्या घाणासुर की कन्या उपा भी नृत्यकला की पारंगत पण्डिता थीं। वैदिक-काल की नारियाँ, जो कि उच्चरित वेदमन्त्रों की प्रपूर्ति के हेतु अपनी पायलों की सुमुधुर ध्वनि द्वारा अपिगणों का साथ देती थीं, नृत्यकला में असाधारण अधिकार रखती थीं। राजा पुरुषवा की सुन्दरी राजी उर्चशी सुप्रसिद्ध अभिनेत्री थी। कुमारस्वामी के उम्मेखानुसार राजा रुद्रायण और राजा उदयन की विदुषी पत्नियाँ नृत्यकला में अति प्रवीण थीं। इनके अतिरिक्त देवी पश्चावती और प्रेमातुर मीरा की प्रसिद्धि तो लोकविदित है ही। दक्षिण भारत की देवदासियां अपने समय की सर्वथेष्ठ नर्तकियां रही हैं, यद्यपि यीड़े चलकर इस कला का हास भी उन्हीं द्वारा हुआ।

आधुनिक समय की नारियों में श्रीमती लीला सोखी, जो 'मेनका' के नाम से सुप्रसिद्ध हैं और जिन्होंने अपनी कला का श्रेष्ठ-प्रदर्शन विदेशों तक में किया है, एक उच्चतम अभिनेत्री हैं। दक्षिणात्य श्रीमती रुक्मणी देवी के अतिरिक्त श्रीमती सिमकी, श्रीमती मृणालिनी साराभाई, कुमारी शांताराम, श्रीमती पश्चना देवी और श्रीमती

अमलाशंकर प्रभृति नारियां भारतीय नृत्यकला की सफल, श्रेष्ठ पूर्व सुप्रसिद्ध साधिकाएँ हैं।

फिर भी, कुल मिलाकर नृत्यकला के छेत्र में आज उच्चोच्चनीय प्रगति नहीं हो रही है, जब कि प्राचीन भारत में इस कला का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। प्रायः देखा यह जा रहा है कि संभ्रान्त कुलों की कन्याएँ अथवा नारियां इस छेत्र में प्रवेश करना असम्मान समझती हैं। हमारी ये निराधार धारणाएँ हम से अलग होने में प्रायः सकृचाती रहती हैं कि कैसे हम अपनी कुलोगनाओं का इस प्रकार प्रदर्शन देख सकते हैं? हमारा यह कल्पित संकोच दूर हुए विना हमारी आज की स्थिति में सुधार होना असम्भव लगता है।

